आचार्य द्विवेदी

(द्विवेदी जी पर विवेचनात्मक ग्रन्थ)

सम्पादिका

निर्मल तालवार

वितरक

साहित्य प्रतिष्ठान

६ महात्मा गांधी मार्ग, आगरा

सुमन........

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युग-प्रवर्तक साहित्यकार थे। उन्होंने अपनी कठोर तपस्या से भारती को 'भारत-भारती' का स्वरूप प्रदान किया। वे सरस्वती के वरद-पुत्र थे और थे 'सरस्वती' के समर्थ सम्पादक भी। साहित्य-साधना एक महान् तपस्या है, पर साहित्य-पथ को आलोकित करना और आने वाली पीढ़ी के लिए उसे ऋजु और प्रशस्त करना महानतर साधना है। आचार्य द्विवेदी इसी कोटि के साधक थे। उन्होंने साहित्य और साहित्यकार दोनों का निर्माण किया।

आचार्य द्विवेदी हिन्दी गद्य के सुधारक थे। उन्होंने उसे व्याकरण-शुद्ध रूप दिया। सतत् संशोधन के द्वारा लेखकों को कलम पकड़ कर लिखना सिखाया। भाषा में गहन-गम्भीर विषयों को आज सहज अभिव्यक्ति देना सरल है, पर इस सरलता के पीछे आचार्यवर का कठिन परिश्रम अविस्मरणीय

द्विवेदी जी खड़ी बोली पद्य के प्रवर्तक थे। शताब्दियों से काव्य के लिए मंजी हुई एवं सर्वस्वीकृत ब्रज-भाषा को उन्होंने युग-धर्म का निर्वाह करने में असमर्थ घोषित किया और काव्य के लिए शुष्क कही गई अललित और अकोमल खड़ी बोली को युग-धर्म को वाणी देने योग्य सिद्ध किया। वे हिन्दी के अमर साधक थे। निःसन्देह जिस लता का बीजारोपण उन्होंने किया वह अमरबेल, सी फैल रही है। युग-निर्माता द्विवेदी जी अनुकरणीय हैं, वन्दनीय हैं।

वन्दनीय आचार्यदेव के प्रति उनकी जन्म-शती के पुण्य अवसर पर बंगीय हिन्दी परिषद् 'शतवार्षिकी-ग्रन्थ' के रूप में अपनी विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती है। इस निर्माल्य-अंजुली को जिन्होंने भरा है, उनके प्रति वह आभारी है। साथ ही भारत-सरकार के प्रति भी परिषद् अपना आभार प्रकट करती है, जिसके सहयोग से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। 'ग्रन्थ' भारती के कोष में सादर समर्पित है।

१५ अक्टूबर, १९६४.
कलकत्ता-१२

निर्मल तालवार

अमित धेनु गज तुरग बसन मनि जातरूप अधिकाई ।
देत भूप अनुरूप जाहि जोइ, सकल सिद्धि गृह आई । ९ ।
सुखी भए सुर, संत, भूमिसुर, खलगन-मन मलिनाई ।
सबइ सुमन बिकसत रबि निकसत, कुमुद-बिपिन बिलखाई ।१०।
जो सुख-सिंधु-सकृत-सीकर तें सिव-बिरंचि प्रभुताई ।
सोइ सुख अवध उमँगि रह्यो दस दिसि कौन जतन कहौं गाई ।११।
जे रघुबीर-चरन चिंतक तिन्हकी गति प्रगट दिखाई ।
अबिरल अमल अनूप भगति दृढ़ तुलसीदास तब पाई ।१२।।१

राग जैतश्री

सहेली सुनु सोहिलो रे !
सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो सब ,जग आज ।
पूत सपूत कौसिला जायो, अचल भयो कुलराज । १ ।
चैत चारु नौमी तिथि सितपख मध्य-गगन-गत भानु ।
नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल-मोद-निधानु । २ ।
ब्योम, पवन, पावक, जल-थल, दिसि दसहु सुमंगल-मूल ।
सुर दुंदुभी बजावहि गावहिं, हरषहिं, बरषहिं फूल । ३ ।
भूपति सदन सोहिलो सुनि बाजैं गहगहे निसान ।
जहँ तहँ सजहिं कलस धुज चामर तोरन केतु बितान । ४ ।
सींचि सुगंध रचैं चौके गृह आँगन गली बजार ।
दल फल फूल दूब दधि रोचन घर घर मंगलचार । ५ ।
सुनि सानंद उठे दसस्यंदन सकल समाज समेत ।
लिए बोलि गुरु सचिव भूमिसुर प्रमुदित चले निकेत । ६ ।

विषय-सूची

पर विहित अनेक ऊहापोह द्वारा साधित अनुमितिमात्र हैं; और वे प्रतिदिन उपलभ्यमान नये नये पुरातत्त्वों के आलोक में स्वरूपगत परिवर्त्तन के सर्वथा सहिष्णु हैं।

इस दिशा में प्रथम प्रयास संस्कृत साहित्य की ओर अभिनिवेश से अनुप्राणित पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत किया, और उनके अविश्रान्त अनुसन्धानों के फलस्वरूप न केवल विविध भाषा एवं विभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का ही उपक्रम हुआ, अपि तु कहीं दूर दूर तक प्रसृत संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं का मूल से सम्बन्ध स्थापित कर प्रत्येक प्ररोह के अनुक्रम का निर्धारण करते हुए परस्पर शृङ्खलित करने वाले साहित्यिक इतिहास का भी प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः, ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य का अध्ययन पाश्चात्य मनीषियों की ही देन है जिन्होंने न केवल ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के ही तिथिक्रम को सिद्ध करने की चेष्टा की है अपि तु तत्कालीन समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के स्वरूप एवं विकास के विभिन्न सोपान को भी स्थिर करने का सफल प्रयत्न किया है। पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत साहित्य-सम्बन्धी अनुसन्धानों के बल समग्र मानव जाति की सभ्यता एवं संस्कृति के ऐतिह्य की रूपरेखा अङ्कित की जा सकी, और भारतीय सभ्यता की प्राचीनता एवं अनुपम गरिमा भी विश्व के समक्ष स्पष्ट रूप से प्रकट हुई। ईसवी १८वीं शताब्दी में पाश्चात्य पण्डितों का संस्कृत साहित्य की ओर आकर्षण हुआ; और तब से लगातार पश्चिम के विद्वान् संस्कृत वाङ्मय की विविध शाखाओं का अध्ययन करते रहे, और समय समय पर वहाँ के विद्वत्समाज के हित संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद तथा वैज्ञानिक संस्करण एवं आलोचनात्मक निबन्ध भी प्रकाशित करते रहे। इन मनीषियों ने दुरवगाह संस्कृत साहित्य का मन्थन कर वेद, व्याकरण, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र जैसे मौलिक विषयों पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला; तथा संस्कृत साहित्य में सुगम प्रवेश के हेतु व्याकरण, शब्द-कोश तथा भाषाशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। साथ ही साथ उन्होंने सुदीर्घ-काल से प्रचलित इस साहित्य की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ क्रमबद्ध इतिहास को उपस्थित करने की उत्साहपूर्वक चेष्टा की। इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय और उसमें प्रतिबिम्बित भारतीय प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहासकारों में आचार्य मैक्स म्यूलर, वेबर, श्लेगल, वेबर ने महनीय मौलिक प्रयास किया;

विषय-सूची

*

(अंक पृष्ठ संख्या के द्योतक है)

उद्धरण अङ्ग्रेज़ी में पद्यबद्ध अनूदित कर स्थान स्थान पर दिये हैं। मूल ग्रन्थ को पढ़ने वाले छात्र उद्धृत अंशों के मूल पाठ से परिचित नहीं हो पाते, और अङ्ग्रेज़ी पद्य सहज कण्ठस्थ भी नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में छात्र उन मूल उद्धरणों को अपेक्षित स्थानों पर उल्लिखित करने में असमर्थ ही रहते हैं। इस कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से मूल ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत, अङ्ग्रेज़ी में अनूदित अंशों के स्थान पर मूल मन्त्रों का पाठ ही दे कर छात्रों के बोध के लिए टिप्पणी में उन मन्त्रों का अर्थ हिन्दी में दिया गया है। हिन्दी में मन्त्रों का वही अर्थ किया गया है जो आचार्य मैक्डोनल को अभिप्रेत है यद्यपि हमारे प्राचीन भाष्यकार सायण द्वारा किये हुए अर्थ से वह बहुधा विभिन्न है। रूपान्तरकार को मूलग्रन्थ का विधेय होकर ही रहना होता है, और अनूदिता ने अवधानपूर्वक इस उत्तरदायिता के वहन करने का पूर्ण प्रयत्न किया है; साथ ही साथ अपेक्षित स्थलों पर आचार्य सायण द्वारा विहित अर्थ का उल्लेख भी तुलनात्मक अध्ययन में सौकर्य-सम्पादन की दृष्टि से किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में मूल ग्रन्थकार के द्वारा सङ्कलित सन्दर्भग्रन्थ की सूची का भी विषयानुसार अनुच्छेदों में विभाग कर हिन्दी रूपान्तर परिशिष्ट में दे दिया है। पाश्चात्य विद्वानों और तत्प्रणीत ग्रन्थों के नाम को देवनागरी लिपि में रूपान्तरित करने में मूल भाषा में प्रचलित वर्णोच्चारण की प्रक्रिया का यथासम्भव समादर किया है। इसके अतिरिक्त अध्येता को संस्कृत साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य मुख्य घटनाओं के तिथि-क्रम से सहज परिचय कराने तथा विभिन्न तिथियों को स्मरण रखने में सहायता देने के लिये मुख्य तिथि-क्रम को भी परिशिष्ट के अन्तर्गत किया है। इससे पूर्व, निदर्शन के रूप में उद्धृत वेद तथा अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों की सूची भी साथ दी है। इन उपकरणों से अध्येता को अपने लक्ष्य को सिद्ध करने में, आशा है, अवश्य सहायता प्राप्त होगी।

आचार्य मैक्डोनल ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में संस्कृत वाङ्मय को प्रमुखरूप से दो युगों में विभाजित किया है — एक, वैदिक *युग*, जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् तथा सूत्रों के निर्माण सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवेचन पहिले नो अध्याय में किया गया है; और

आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी

मेरी जीवन-रेखा

मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ।

यह लक्षण मुझ पर तो घटित होता है नहीं, क्योंकि मैंने कभी किसी को इक्का एक भी नहीं पढ़ाया। शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरण-रजकण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कालेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कभी कदम नहीं रक्खा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया? विचार करने पर मेरी समझ में, इसका एक मात्र कारण मुझ पर कृपा करने वाले सज्जनों का अनुग्रह ही जान पड़ता है। जो जिसका प्रेम-पात्र होता है, उसे उसके दोष नहीं दिखाई देते। जहाँ दोष देख पड़ते हैं, वहाँ तो प्रेम का प्रवेश ही नहीं हो सकता। नगरों की बात जाने दीजिये, देहात तक में माता-पिता और गुरुजन अपने लूले, लंगड़े, काने, अन्धे, जन्मरोगी और महाकुरूप लड़कों का नाम श्यामसुन्दर, मनमोहन, चारुचन्द्र और नयनसुख रखते हैं। जिनके कब्जे में अंगुल भर जमीन नहीं वे पृथ्वीपति और पृथ्वीपाल कहाते हैं। जिनके घर में टका नहीं वे करोड़ीमल कहे जाते हैं। मेरी आचार्य पदवी भी कुछ कुछ इसी तरह की है, पर इससे पदवी-दाताजनों का जो भाव प्रकट होता है उसका अभिनन्दन मैं हृदय से करता हूँ। यह पदवी उनके प्रेम, उनके औदार्य, उनके वात्सल्य-भाव की सूचक है। अतएव प्रेमपात्र मैं, अपने इन सभी उदाराशय प्रेमियों का ऋणी हूँ। बात यह है कि—

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि

अर्थात् गुणों का सबसे बड़ा आधार प्रेम होता है, वस्तु-विशेष नहीं। जो जिस पर कृपा करता है—जिसका प्रेम जिस पर होता है—वह उसे आचार्य क्या यदि जगद्गुरु भी समझ ले तो आश्चर्य की बात नहीं।

तथापि, मेरी धृष्टता क्षमा की जाय, मुझे ऐसी बातों से, स्तुति और प्रशंसा से बहुत डर लगता है, क्योंकि वे अहंकार को जन्म देने वाली ही नहीं, उसे बढ़ाने वाली हैं, और इस अहंकार नामक शत्रु का शिकार मैं चिरकाल तक हो चुका हूँ।

यह उसी की कृपा का फल था जो कभी मैंने किसी सभा की खबर ली, कभी किसी लाला या बाबू पर वचन रूपी शर-सन्धान किया, कभी किसी ग्रन्थकार या ग्रन्थ-प्रकाशक पर अपना रोब जमाया।

जब मुझमें ज्ञान की कुछ यों ही जरा-सी झलक थी तब मैं मदान्ध हाथी-सा हो रहा था—तब मुझमें अहंकार की मात्रा इतनी अधिक थी कि मैं अपने को सर्वज्ञ समझता था परन्तु किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से जब मुझे कुछ विज्ञ विद्वानों की संगति नसीब हुई और जब मैंने प्रकृत पण्डितों की कुछ पुस्तकों का मनन किया ; तब मेरी आँखें खुल गईं, तब मेरा सारा अहंकार चूर्ण हो गया। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं तो महा मूर्ख हूँ। नतीजा यह हुआ कि मेरी झूठी सर्वज्ञता का वह नशा उसी तरह उतर गया जिस तरह १०४ डिग्री तक चढ़ा हुआ ज्वर उतर जाता है।

मेरी झूठी विज्ञता के आवेश ने, मुझसे पूर्वावस्था में, अनेक अनुचित काम करा डाले। उस दशा में मुझसे जो दुष्कृत्य हो गये, उन्होंने मेरी आत्मा को कलुषित कर दिया। उन्होंने उस पर काला पर्दा-सा डाल रक्खा है। इस कारण मैं थोड़ा-सा प्रायश्चित करके उस पर्दे के बहुत न सही, थोड़े ही अंश को हटा ही देना चाहता हूँ।

शठ सेवक मैं, चर-अचर, आप सभी भगवान।
दीन हीन मुझको अधम, समझो दयानिधान॥

अहंकार की व्याप्ति से बचने ही के लिए मैंने आज तक, आमंत्रित होने पर भी, साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को स्वीकार नहीं किया। अनेक महानुभावों ने जिस आसन की शोभा बढ़ाई उसी पर बैठना मेरे लिए बड़ी गुस्ताखी भी होती।

मैं क्या हूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही है। परन्तु मैं क्या था, इस विषय का ज्ञान मेरे मित्रों और कृपालु हितैषियों को बहुत ही कम है। उन्होंने मुझे अनेक पत्र लिखे हैं, अनेक उलाहने दिये हैं। अनेक प्रणयानुरोध किये हैं, वे चाहते हैं कि मैं अपनी जीवन-कथा अपने ही मुँह से कह डालूँ। पर पूर्ण-रूप से उनकी आज्ञा का पालन करने की शक्ति मुझमें नहीं। अपनी कथा कहते हुए संकोच भी बहुत होता है। उसमें कुछ तत्व भी तो नहीं। उससे कोई कुछ सीख भी तो नहीं सकता। तथापि जिन सज्जनों ने मुझे अपना कृपापात्र बना लिया है उनकी आज्ञा का उल्लंघन भी धृष्टता होगी। अतएव मैं अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातें, सूत्र रूप में, सुना देना चाहता हूँ। बड़े-बड़े लोगों ने, इस विषय में मेरे लिये मैदान पहले ही से साफ भी कर रक्खा है।

मैं एक ऐसे देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन १०) था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़ कर १३ वर्ष की उम्र में मैं २६ मील दूर, रायबरेली के जिला स्कूल में अंग्रेजी

प्रतियाँ

'रामचरितमानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ—और उनके आधार पर संपादित संस्करण—उत्तरी भारत में इतने हैं कि उन सबका उपयोग करना किसी भी एक व्यक्ति के बस की बात नहीं है। अनेकानेक प्रतियाँ मेरी ही निगाह से गुजर चुकी हैं, किन्तु यहाँ उन्हीं का उल्लेख उपयुक्त होगा जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई हैं। साथ ही, कुछ अन्य ऐसी प्रतियों का भी उल्लेख किया जा सकता है जो यद्यपि वस्तुतः महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं, किन्तु जो 'मानस' के पाठ-शोध के लिए आवश्यक मानी गई हैं। इस प्रसंग में केवल स्वर्गीय पं० शंभुनारायण चौबे का उल्लेख यथेष्ट होगा, जिन्होंने बड़े परिश्रमपूर्वक 'मानस-पाठभेद' शीर्षक एक लेख में इसी विचार से कई प्रतियों के पाठांतर दिये हैं।[१] सुविधा के लिए नीचे बाईं ओर संकेत-संख्याएँ देते हुए उन प्रतियों की संकेत-संख्याएँ अतः प्रायः उन्हीं के अनुसार दी जा रही हैं, जिनका उन्होंने भी उक्त लेख में उपयोग किया है।

(१) सं० १७२१ वि० की प्रति—यह प्रति इस समय नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। इस प्रति का अयोध्याकांड मात्र नहीं है। प्रति सुलिखित है। आकार ११" × ४½" है। यह प्रति अलग-अलग पत्रों पर अपनी लम्बाई में लिपिबद्ध है।

(२) सं० १७६२ की प्रति—यह प्रति नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी के भूतपूर्व पुस्तकाध्यक्ष उपर्युक्त स्वर्गीय पं० शंभुनारायण चौबे के पास थी। प्रति पूर्ण है और सुलिखित है। आकार १०" × ६" है। यह अलग-अलग पत्रों पर अपनी चौड़ाई में लिपिबद्ध है।

(३) छक्कनलाल की प्रति—यह प्रति इस समय स्वर्गीय महा-महोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी के सुयोग्य पुत्र श्री कमलाकर द्विवेदी के पास मुहल्ला खजुरी, काशी में है। प्रति सुलिखित है। आकार लगभग

१—'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' वर्ष ४७, अङ्क १

बानियों के संबंध में दो तथ्यों की ओर ध्यान जाता है। एक ओर तो नाथ गुरुओं की बानी के प्रति उनके शिष्यों में जो प्रगाढ़ श्रद्धा और विश्वास की भावना होती है, वह उसे नष्ट होने से बचाती है, और दूसरी ओर स्मृति के कारण उसमें कुछ परिवर्तन या छूट हो जाती है तथा सांप्रदायिक उद्देश्य और मत-विकास या परिवर्तन या स्पष्टीकरण की अभिलाषा गुरुओं के नाम से नई रचनाओं के गढ़े जाने और पुरानी रचनाओं में परिवर्धन या परिवर्तन का कारण होती हैं। अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग परिवर्तन और परिवर्धन होते हैं। इस लिए विभिन्न स्रोतों से होकर आनेवाली प्रतियाँ उस छानबीन मे सहायक होती हैं जिनके आधार पर हम मूल रचनाओं के निकट तक पहुँचने का प्रयत्न कर सकते हैं।

ऊपर की सरणी में, ज्ञात-लिपि कालवाली प्रतियों में से (च) प्रति (सं० १७१५) सब से पुरानी है। उसमें गोरख के नाम से १५ रचनाएं दी हैं। केवल (ङ) प्रति (सं० १७६४) में इससे कम अर्थात् १२ रचनाएं हैं जिनमें से सात (च) के साथ समान हैं और ६ उसमें नहीं हैं। अन्य सब प्रतियों में इससे अधिक रचनाएँ हैं। (छ) प्रति में ही जो (च) से केवल २६ वर्ष बाद की लिखी है २४ रचनाएं हैं जिनमें से १२ (च) मे नहीं हैं। (घ) में सब से अधिक अर्थात् २६ हैं जिनमें से १६ (च) में नहीं हैं। (च) से सब से अधिक समानता रखनेवाली प्रति (क) है (काल अज्ञात संभवतः लगभग सं० १७१५)। उसमें की वह रचनाओं में से भी ८ (च) में नहीं है। इसी प्रकार (च) में की चार रचनाएं (क) में, तीन (छ) में, पाँच (घ) में, छः (ङ) में, और १२ रचनाएं (ज) में और ६ (ञ) में नहीं हैं।

(च) प्रति के सब से पुरानी होने के कारण उसको सब से महत्वपूर्ण मानना उचित है और उससे अधिक समानता वाली (क) को भी। इस लिए पुस्तक के मूल अंश के लिए चयन करने के अर्थ मैंने उनको आधार माना है। परन्तु उनकी सब रचनाओं को नहीं लिया है। उनमें की उन्हीं रचनाओं को लिया है जिनका समर्थन अधिकांश अन्य प्रतियों से हो जाता है। (ञ) प्रति का महत्व यह है कि उसे संप्रदाय के किसी स्तंभ ही ने प्रस्तुत कराया होगा। इसलिए उसमें उन बानियों का होना आवश्यक है, जिनका सम्प्रदाय में मान रहा होगा। 'गोरख गणेस गोष्टी' और महादेव गोरख गुष्टि' को मैंने छोड़ दिया है। यद्यपि वे (च) में हैं और अन्य प्रतियां पहली का तथा तीन दूसरी का समर्थन करती हैं। कारण आगे कहेंगे। इस प्रकार सरणी में की प्रथम दस रचनाएं मूल

छावनियों में स्थित पलटनों को वे पुराण सुनाया करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें बेच-बेच कर मेरी पितामही ने पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। वयस्क होने पर दो-चार पुस्तकें मुझे भी घर में पड़ी मिलीं। मेरे पितृव्य दुर्गाप्रसाद नाम मात्र को हिन्दी क्या कैथी जानते थे। पर उनमें नये-नये किस्से बना कर कहने की अद्भुत शक्ति थी। रायबरेली जिले में दीनशाह के गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार, भूपाल सिंह के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे। मेरे नाना और मामा भी संस्कृतज्ञ थे। मामा की संस्कृतज्ञता का परिचय स्वयं मैंने उनके पास बैठकर प्राप्त किया था।

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे प्राप्त हुआ—पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्व जन्म के कृतकर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसीदास की रामायण और ब्रजवासीदास के ब्रज-विलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कण्ठ कर लिये थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कवि-वचन-सुधा और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों का त्यों बना रहा। झांसी आने पर जब मैंने, पण्डितों की कृपा से, प्राकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छन्दोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य में कुछ न कुछ लिखना जारी रक्खा। संस्कृत और अंगरेजी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किये।

जब मैं झांसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था तृतीय रीडर। उसने उसमें बहुत से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिख कर प्रकाशित करने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि उसकी समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था प्रयाग का इण्डियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इण्डियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—'आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊंगा।'

कहुँ कमन्ध कहुँ मत्थ, कहूँ कर चरन अंतहरि ॥
कहुँ कमन्ध बह तेग, कहूँ सिर जुट्टि फुट्टि उर ॥
कहुँ दंति मत हय पुर षुपरि, कुभ भुसुंडह रुंड सब ।
हिंदवान रान भय भान मुख, गहिय तेग चहुँवान जब ॥"

यह दूसरा छन्द वास्तव में छप्पय है पर प्रतीत होता है कि चन्द के समय में छप्पय की गणना भी कवित्त के अंतर्गत होती थी। जो हो, हमें देखना तो यह है कि यदि हम 'दूहा' और 'कवित्त' को मिला दें और एक कवित्त में से आदिम अथवा अन्तिम दो पंक्तियों को निकाल लें तो कुण्डलिया छन्द की झलक अवश्य मिल जायगी; क्योंकि दोहे का अन्तिम चरण कवित्त के आदि में दुहरा दिया गया है, जैसा कि आगे चलकर कुण्डलिया छन्द के लिए आवश्यक हुआ। परन्तु दोहे के आदि का शब्द कवित्त के अन्त में नहीं मिलता। अत: यही कहना होगा कि चन्दवरदाई के समय में कुण्डलिया छन्द का वास्तविक रूप निर्धारित नहीं हो पाया था। हाँ, उसके आवश्यक उपादानों का बीजारोपण अवश्य हो चुका था।

जगनिक के आल्ह-खण्ड में भी हमें कोई कुण्डलिया नहीं मिलती। उनके बाद जिन भाटों और चारणों ने कवित्त और छप्पय छन्दों के द्वारा ही अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न किया, उनकी भी कोई कुण्डलिया हमें उपलब्ध नहीं होती। कबीर और नानक आदि सन्त कवियों ने दोहा, बानी, साखी और पद सुना सुनाकर ही हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया था। जायसी आदि प्रेमाख्यानकारों ने भी पीर की व्यञ्जना दोहों और चौपाइयों में ही की। विद्यापति और सूर आदि गीतिकाव्य-रचयिता कवियों की कृतियों में तो कुण्डलिया छन्द के लिए अवकाश ही नहीं था। सारांश यह कि सोलहवीं शताब्दी तक किसी कवि की कुण्डलिया हमें नहीं मिलती।

उपर्युक्त कारणों के आधार पर हमारी यह दृढ़ धारणा है कि सर्वप्रथम गोस्वामीजी ने ही कुण्डलिया छन्द का सूत्रपात करके हिन्दी में एक मनोहर छन्द को जन्म दिया। कवितावली के अन्तर्गत इने-गिने छप्पय छन्दों की रचना कर उन्हें सांत्वना न मिली; क्योंकि प्राचीन प्रणाली के अनुसार छप्पय-पद्धति में केवल वीररस की ही व्यञ्जना होती आई थी। अन्य रसों की अभिव्यक्ति के लिए तुलसीदासजी को छप्पय छन्द में एक नया उलट-फेर करना पड़ा। रामचरितमानस और दोहावली आदि ग्रन्थों की रचना करके वे सहस्रों दोहे बना चुके थे और इस छन्द पर उनका पूरा अधिकार भी था। अत: छप्पय के रोला छन्द में आदि की दो पंक्तियों की जगह एक दोहा जोड़कर और दोहे के आदि का शब्द छन्द के अन्त में लाकर तथा दोहे का अन्तिम चरण रोला के आदि में दुहराकर गोस्वामीजी ने

श्री गणेशाय नमः

श्री जानकीवल्लभो विजयते

श्री राम चरित मानस

प्रथम सोपान

बाल कांड

श्लो० —वर्णानामर्थसंघाना रसानां छंदसामपि ।
मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणी विनायकौ ॥
भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतःस्थमीश्वरं ॥
वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणं ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चंद्रः सर्वत्र वंद्यते ॥
सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वंदे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभां ॥
यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः ॥
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाभोधेस्तितीर्षावतां
वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं ॥

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ॥

सो०—जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवर बदन।
करौ अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ गुन सदन॥
मूक होइ बाचाल पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवौ सकल कलिमल दहन॥
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन॥
कुंद इंदु सम देह उमारमन करुनाअयन।
जाहि दीन पर नेह करौ कृपा मर्दन मयन॥
बंदौं गुर पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर॥

बंदौं गुर पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिअ मूरि मय चूरनु चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृत संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलकु गुन गन बस करनी॥
श्री गुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवै जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥

दो०—जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन भूतल भूरि निधान॥ १॥

गुर पद रज मृदु मंजुल[1] अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भव मोचन॥
बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥
सुजन समाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी॥

१—प्र०: मृदु मंजुल रज। द्वि०: रज मृदु मंजुल। तृ०, च०: द्वि०।

प्रस्तावना

कबीर की कविता एक युगातरकारी रचना है। भक्त कवियों की विनय-शीलता और आत्म-भर्त्सना के बीच में वह स्पष्ट कंठ में कही गई धार्मिक और सामाजिक जीवन की पक्षपात-रहित विवेचना है। उस कविता में समय की अंध-परंपराओं को छिन्नमूल करने की शक्ति है और जीवन में जागृति लाने की अपूर्व क्षमता।

कबीर की कविता

हिंदी साहित्य के धार्मिक काल के नेता के रूप मे कबीर ने जितने साहस से परंपरागत हिंदू धर्म के कर्मकाड से संघर्ष लिया उतने ही साहस से उन्होंने भारत में जड़ पकड़ने वाली इस्लाम की नवीन सांप्रदायिक भावना से लोहा लिया। कबीर ने सफलतापूर्वक दोनों धर्मों की 'अधार्मिकता' पर कुठाराघात किया और एक नये सप्रदाय का सूत्रपात किया जो 'संतमत' के नाम से प्रख्यात हुआ। इस संप्रदाय ने शास्त्रीय जटिलताओं से सुलझा कर धर्म को सरल और जीवनमय बना दिया जिससे साधारण जनता भी उससे अंतः प्रेरणाएं ले सके। यही कारण है कि इस संतमत मे समाज के साधारण और निम्न व्यक्ति भी सम्मिलित हो सके जिनकी पहुँच शास्त्रीय ज्ञान तक नहीं थी। कबीर ने साधारण जीवन के रूपकों द्वारा अथवा अनुभूतिपूर्ण सरस चित्रों के सहारे ही आत्मा, परमात्मा और संसार की समस्याओं को सुलझाया। धर्म-प्रचार की इस शैली ने धर्म को व्यक्तिगत अनुभव का एक अंग बना दिया और समाज ने धर्म के वास्तविक रूप को पहिचान लिया।

जनता का यह गतिशील सहयोग कबीर की रचनाओं के पक्ष में अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। कबीर संत पहले थे, कवि बाद में। उन्होंने कविता का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए कंठ मुखरित नहीं किया, उन्होंने धर्म के व्यापक रूप को सुबोध बनाने के लिए काव्य नियोजित किया। अतः कबीर में धार्मिक दृष्टिकोण प्रधान है काव्यगत दृष्टिकोण गौण। यह दूसरी बात है कि जीवन

कविता का रूप

में 'गहरी पैठ' होने के कारण उनकी कविता में जीवन की क्राति सहस्रमुखी हो उठी। उससे धर्म प्राणमय होकर अनेक चित्रों में साकार हो गया। संत कबीर

राग केदारा

पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं ।

कर, पद, मुख, चख कमल लसत लखि लोचन-भँवर भुलावौं ॥
बाल-बिनोद-मोद-मंजुलमनि किलकनि खानि खुलावौं ।
तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ मति मृगनयनि बुलावौं ॥
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं ।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चितु लावौं ॥१५॥

सोइये लाल लाडिले रघुराई ।

मगन मोद लिये गोद सुमित्रा बार बार बलि जाई ॥
हँसे हँसत, अनरसे अनरसत प्रतिबिंबनि ज्यों झाँई ।
तुम सबके जीवन के जीवन, सकल सुमंगलदाई ॥
मूल मूल सुरबीथि बेलि, तम-तोम-सुदल अधिकाई ।
नखत-सुमन, नभ-बिटप बौंडि मानो छपा छिटकि छबि छाई ॥
हौ जँभात अलसात, तात! तेरी बानि जानि मैं पाई ।
गाइ गाइ हलराइ बोलिहौं सुख नींदरी सुहाई ॥
बछरु छबीलो छगनमगन मेरे कहति मल्हाइ मल्हाई ।
सानुज हिय हुलसति तुलसी के प्रभु की ललित लरिकाई ॥१६॥

ललन लोने लेरुआ, बलि मैया ।

सुख सोइए नींद-बेरिया भई चारु-चरित चार्‌यो भैया ॥
कहति मल्हाइ लाइ उर छिन छिन छगन छबीले छोटे छैया ।
मोद-कंद कुल-कुमुद-चंद्र मेरे रामचंद्र रघुरैया ।
रघुबर बालकेलि संतन की सुभग सुभद सुरगैया ।
तुलसी दुहि पीवत सुख जीवत पय सप्रेम घनी घैया ॥१७॥

होने पर सन्तों ने नारद को भगवान के ध्यान का आदेश दिया और उनके परम पावन नाम के जप की विधि बतायी। उनके चले जाने पर नारद भक्ति-साधना में लग गये। कुछ समय के बाद रात को गाय दुहते समय उनकी माता की साँप के काटने से मृत्यु हो गयी। मृत्यु नारद की दृष्टि में भगवान की परम कृपा थी। अभी तक वे माता के स्नेह-बन्धन में आबद्ध थे पर माता के मरने के बाद वे तप करने के लिये निकल पड़े। कुछ दूर जाने पर वे थक गये। रास्ते में एक सरोवर में जल पीकर पीपल के वृक्ष के नीचे बैठ गये। सन्तों की बतायी हुई विधि के अनुसार भगवान का ध्यान करने लगे। क्षण-क्षण में उनकी आकुलता बढ़ने लगी। अचानक उनके हृदय में थोड़ी देर के लिये नारायणी ज्योति प्रकट हुई और अदृश्य हो गयी। वे बार-बार चेष्टा करने पर भी दूसरी बार उस ज्योति का दर्शन न कर सके। आकाशवाणी हुई कि जिनका हृदय परम निर्मल है वे ही ज्योति-दर्शन के सत्पात्र हैं। इस घटना के बाद वे नारायण के ही स्मरण-चिन्तन में लग गये तथा शरीरान्त होने के बाद वे कल्पान्तर में ब्रह्मा के मानस पुत्र हुए। श्री भगवान के पार्षद रूप में वे नित्य उनका गुण गान करते हुए तथा वीणा बजाते हुए घूमते रहते हैं। उनका आवास-स्थल हिमालय है, दक्ष प्रजापति के शाप से वे बालक-बृद्ध और युवा-अवस्था से सदा परे रहते हैं।

चारों युगों से उनकी जीवन-घटनाओं का सम्बन्ध है। प्रह्लाद की माता को नारद ने उपदेश दिया था, उनके उपदेश से गर्भस्थ शिशु प्रह्लाद भगवद्भक्ति के संस्कारों से सम्पन्न हुए थे। इसी प्रकार नारायण की खोज में निकले हुए बालक ध्रुव का भी उन्होंने कृपा पूर्वक पथ-प्रदर्शन किया था।

एक समय की बात है कि भगवान विष्णु की [illegible] में नारद और तुम्बरू उपस्थित थे। तुम्बरू गान-विद्या के आचार्य। [illegible] संगीत-ज्ञान में उनसे आगे बढ़ जाना चाहते थे। भगवान विष्णु [illegible] -स्वर गन्धर्व से गान-विद्या सीखने का आदेश दिया। नार[illegible] से संगीत-विद्या सीखी, तुम्बरू को पराजित करने गये। पुरुष के रूप में तुम्बरू के घर के निकट ही राग-रागिनियों को देखा।

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में जिस अपभ्रंश का उल्लेख किया है उसमें ब्रजभाषा के अंकुर स्पष्ट लक्षित होते हैं। प्रबन्ध-चिन्तामणि और कुमारपाल-प्रतिबोध में भी पश्चिमी भाषा का प्रयोग मिलता है। सारांश यह कि आदिकाल के राजस्थानी कवियों की काव्य-भाषा का ढाँचा आधुनिक ब्रजभाषा से बहुत सम्बन्ध रखता है। चन्द कवि के बाद काव्य-भाषा से क्रमशः प्राकृत के रूप निकलते गये और उनके स्थान पर संस्कृत के शब्द काम देने लगे। संस्कृत के इन नवजात रूपों में ब्रजभाषा के व्याकरण का ही आधार लिया जाता था।

मीर खुसरो की खड़ी बोली की कविताओं में भी ब्रजभाषा के रूपों का पर्याप्त समावेश मिलता है; यथा :—

अति सुंदर जग चाहै जाको, मैं भी देख भुलानी वाको।
देख रूप भाया जो टोना, ऐ सखि साजन, ना सखि सोना ॥

कबीर आदि सन्त कवियों ने पँचरङ्गी भाषा लिखी जिसमें ब्रजभाषा के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। कहाँ तक कहा जाय, जायसी आदि सूफ़ी कवियों ने यद्यपि टकसाली अवधी-भाषा का प्रयोग किया तो भी उनकी काव्यभाषा ब्रजभाषा से बिलकुल अछूती न बच सकी। मध्यकालीन कवियों ने तो मुख्यतया ब्रजभाषा का ही अवलम्बन लिया, यद्यपि उसमें विभिन्न प्रदेशों की भाषा का मेल भी होता रहा। बात यह है कि ब्रजभाषा का प्रचार ब्रजमण्डल से लेकर राजस्थान और गुजरात तक रहा, अत: समय समय पर अन्य भाषाओं के रूप भी इसमें मिलते रहे। इसका प्रचार सारे उत्तरापथ में था। इसी से ब्रजभाषा हिन्दी-काव्य की सामान्य भाषा के रूप में स्वीकार की गई।

गोस्वामीजी अवधी भाषा के विशेषज्ञ तो थे ही, ब्रजभाषा में भी वे भक्तप्रवर सूरदास जी के टक्कर के थे और बुँदेलखण्ड में रहने के कारण उनकी कविता में यत्र तत्र बुँदेलखण्डी शब्दों का भी मनोहर प्रयोग हुआ है; जैसे "उठन न पैयतु गात" (कुण्डलिया०, अयोध्या० ८१) बहुत से बुँदेलखण्डी शब्द ब्रजभाषा में ऐसे घुल मिल गये हैं कि अलग करना कठिन है जैसे उत्तम पुरुष में 'बाँचियै', 'पाइयै' आदि का प्रयोग 'भूप मरे हम बाँचियै' (कुं० अयोध्या० ८७), 'बयो पाइयै जगत में' इत्यादि। 'केवट भरत बुझाइयौ सुंदर बन गिरि गन मुदित' (कुंड० अयो० ११) और 'तुम सुत सपथ न खाँचियै' में 'बुझाइयौ' तथा 'खाँचियै' बुंदेलखण्डी के ही रूप हैं।

कुण्डलिया रामायण में "लायक", "गनी", "गरीबनिवाज" और "सहर" आदि फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। संस्कृत भाषा पर तो तुलसीदासजी का पूर्ण

निज कबित्त केहि लाग न नीका । सरस होउ अथवा अति फीका ॥
जे पर भनिति सुनत हरषाहीं । ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं ॥
जग बहु नर सर सरि सम भाई । जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई ॥
सज्जन सकृत[1] सिंधु सम कोई । देखि पूर बिधु बाढ़ै जोई ॥

दो०—भाग छोट अभिलाषु बड़ करौं एक बिस्वास ।
पैहहि सुख सुनि सुजन जन[2] खल करिहहिं उपहास ॥ ८ ॥

खल परिहास होइ हित मोरा । काक कहहिं कलकंठ कठोरा ॥
हंसहि बक दादुर[3] चातक ही । हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही ॥
कबित रसिक न राम पद नेहू । तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू ॥
भाषा भनिति मोरि मति मोरी । हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ॥
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी । तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरि हर पद रति मति न कुतरकी । तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की ॥
राम भगति भूषित जिअ जानी । सुनहहिं सुजन सराहि सुबानी ॥
कबि न होउँ नहिं बचन[4] प्रबीनू । सकल कला सब बिद्या हीनू ॥
आखर अरथ अलंकृति नाना । छंद प्रबंध अनेक बिधाना ॥
भाव भेद रस भेद अपारा । कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा ॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे । सत्य कहौं लिखि कागद[5] कोरे ॥

दो०—भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक ।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हकें बिमल बिबेक ॥ ९ ॥

येहि महँ रघुपति नाम उदारा । अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥
मंगल भवन अमंगल हारी । उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥

१— [प्र०: सकृति] । द्वि०: सकृत । [तृ० : सुकृत] । च० : द्वि० [(८): सुकृत] ।
२—प्र०: जन । द्वि०: प्र० । [तृ०: सब] । च०: प्र० [(६) (६अ): सब] ।
३—प्र०: गादुर । द्वि०: प्र० [(५): दादुर] । [तृ०: दादुर] । च०: प्र० [(८): दादुर] ।
४—प्र०: चतुर । द्वि०, तृ०: प्र० । च०: बचन ।
५—प्र० कागर । द्वि०: प्र० [(४) (५) (५अ): कागद] । [तृ०: कागद] । च०: प्र० [(८):कागद] ।

मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों बिधु-भय बिनय करत अति आरत ॥
तुलसिदास बहु-बास-बिबस अलि गुंजत सुछबि न जाति बखानी ।
मनहुँ सकल स्रुति ऋचा मधुप ह्वै बिसद सुजस बरनत बर बानी ॥२०

राग बिलावल

झूलत राम पालने सोहैं, भूरि-भाग जननी जन जोहैं ।
तन मृदु मंजुल मेचकताई, झलकति बाल बिभूषन झाँई ।
अधर पानि पद लोहित लोने, सर-सिँगार-भवसारस सोने ।
किलकत निरखि बिलोल खेलौना, मनहुँ बिनोद लरत छबि छौना ।
रंजित अंजन कंज-बिलोचन, भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ।
लस मसिबिंदु बदन-बिधु नीको चितवत चितचकोर तुलसी को ।२१

राग कल्याण

राजन सिसुरूप राम सकल गुन निकाय धाम,
कौतुकी कृपालु ब्रह्म जानु-पानि-चारी ।
नीलकंज जलदपुंज मरकतमनि सरिस स्याम,
काम कोटि सोभा अंग अँग उपर वारी ॥
हाटक-मनि-रत्न-खचित रचित इंद्र-मंदिराभ,
इंदिरानिवास सदन बिधि रच्यो सँवारी ।
बिहरत नृप-अंजिर अनुज सहित बालकेलि-कुसल,
नील-जलज-लोचन हरि मोचन-भयभारी ॥
अरुन चरन अंकुस धुज कंज कुलिस चिन्ह रुचिर,
भ्राजत अति नूपुर बर मधुर मुखरकारी ।
किंकिनी बिचित्र जाल, कंबुकंठ ललित माल,

जौं बरखै बर बारि बिचारू । होहिं कबित मुकुता मनि चारू ॥

दो०—जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग ।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग ॥११॥

जे जनमे कलिकाल कराला । करतब बायस बेष मराला ॥
चलत कुपथ बेद मग छाँड़े । कपट कलेवर कलि मल भाँड़े ॥
बंचक भगत कहाइ राम के । किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धंधक[१] धोरी ॥
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ । बाढ़ै कथा पार नहिं लहऊँ ॥
तातें मै अति अलप बखाने । थोरेहि[२] महुँ जानिहहिं सयाने ॥
समुझि बिबिध बिधि बिनती[३] मोरी । कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥
एतेहु पर करिहहिं ते असंका[४] । मोहिंतें अधिक जे[५] जड़ मतिरंका ॥
कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौं । मति अनुरूप राम गुन गावौं ॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा । कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं । कहहु तूल केहिं लेखे माहीं ॥
समुझत अमिति राम प्रभुताई । करत कथा मन अति कदराई ॥

दो०—सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान ।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान ॥१२॥

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥
तहाँ बेद अस कारन राखा । भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा ॥
एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानंद परधामा ॥

१—प्र०: धंधक । द्वि०, तृ०: प्र० । च०: प्र० [(६) धंध्रक] ।

२—प्र०: थोरेहि । [द्वि०, तृ०: थोरे] । च० : प्र० [(६अ) थोरे] ।

३—प्र०: बिनती अब । द्वि०: प्र० [(३) (५अ) बिधि बिनती] । तृ०, च०: बिधि बिनती ।

४—प्र०: जे अस का । द्वि०: प्र० [(४) (५) जे संका । [तृ०: जे संका] । च०: ते असंका ।

५—प्र०: ते । द्वि०, तृ०: प्र० । च०: जे ।

रूपता और अनेक जीवत्व सत्य नहीं हैं, केवल एक ब्रह्म ही सत्य है। माया के कारण मनुष्य को अनेकरूपता दिखाई देती है। जब माया का आवरण हट जाता है और आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है, उस समय ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि "एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतन्त्र और सत्य वस्तु नहीं है। दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम और माया की उपाधि से होनेवाला आभास है।[1]"

अष्टछाप के ब्रह्म-सम्बन्धी विचार

आन्तरिक तथा बाह्य प्रमाणों से यह सिद्ध है कि सूर आदि अष्टछाप-कवि वल्लभ-सम्प्रदायी थे, उनके व्यक्त विचारों में वल्लभ-सम्प्रदाय की ही छाप हैं।

सूरदास

सूरदास जी के इष्टदेव पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण हैं, जिनके सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। परब्रह्म श्री कृष्ण इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के आदि हैं। वे आदि, अनादि अनूप और सर्वान्तर्यामी हैं। श्रीकृष्ण ही अंश और कला-रूप में अनेक रूप धारण करते हैं। जीवरूप में, जगत रूप में तथा सम्पूर्ण देवता रूप में, जो कुछ भी इस जगत में है, सब उन्ही का अंश है। वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार सूर का परब्रह्म भी अंशी है। श्री कृष्ण अखण्ड रस-रूप से अपनी आदि रस-शक्ति राधा के साथ युगल रूप में विहार करते हैं। वे ही अक्षर-ब्रह्म रूप हैं और वे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। ये सम्पूर्ण रूप उन्हीं से अंश-रूप बन कर प्रसूत हैं। उनके निर्गुण रूप तक हमारा मन और हमारी वाणी नहीं पहुँच सकती; इसलिए उनके सगुण रूप की लीला का गुणगान ही सूर ने आध्यात्मिक सिद्धि का साधन माना है। उक्त विचारों को प्रकट करनेवाले अनेक पद सूरसागर में विद्यमान हैं। वस्तुतः सूर आदि अष्ट कवियों ने वल्लभ-सम्प्रदायी भावों के विरुद्ध कथन नहीं किये। सूर के ईश्वर-सम्बन्धी पदों का आशय देते हुये उनके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

सोभा अमित अपार अखंडित आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ऊँकार आदि वेद असुरहन निर्गुन सगुन अपार।

× × × ×

बृन्दाबन निजधाम परमरुचि, बर्णन कियो बढ़ाय।
व्यास पुराण सघन कुंजन में जब सनकादिक आय।

---

[1]—गीता-रहस्य, लोक० तिलक, विषय-प्रवेश पृ० १३।

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

आचार्य प्रवर

बात पुरानी है। शायद सन् १९१६ की। उन दिनों मैं कालेज का विद्यार्थी था। एक बार एक विवाह के सिलसिले में मुझे रायबरेली जिले के एक देहात में जाना पड़ा। वहाँ से दौलतपुर गाँव दो तीन मील ही दूर था। विवाहोत्सव की समाप्ति के अनन्तर उस देहात के मेरे सम्बन्धी पं० कालीचरण त्रिवेदी जो हिन्दी की अपेक्षा बंगला से अधिक परिचित थे, मुझे श्री द्विवेदी जी के दर्शन कराने दौलतपुर ले गये। उन्होंने इतना ही कहा था कि चलो एक बड़े साहित्य-कार से भेंट करा लावें। मार्ग में उन्होंने कई लतीफे सुनाये। कहा कि उन साहित्यकार की धर्मपत्नी का मस्तिष्क जब ठीक से काम नहीं करने लगा तब समीप ही बहती हुई गङ्गाजी में उन्होंने (उन धर्मपत्नी ने) एक दिन अपने को विसर्जित कर दिया। इस पर उन साहित्यकार महाशय ने अपनी धर्मपत्नी की संगमरमर की प्रतिमा बनवाई और उसे घर के सामने स्थापित कर दिया। गाँव के उजड्ड सजातीयों से मानवी का यह दैवीकरण न देखा जा सका। अतः उन्होंने बड़ी धूम मचाई। कभी ताल ठोकते हुए साहित्यकार जी से कहते 'आइये, आखाड़े में दो-दो हाथ हो जायँ,' कभी कुछ, कभी कुछ। जिनकी इज्जत बड़े-बड़े ताल्लुकेदार करते हैं उनके प्रति उन्हीं के गाँव वाले सजातीयों का यह व्यवहार ! इसीलिये तो उन्हें 'सरस्वती' पत्रिका में 'कल्लू अल्हइत' नाम से ठेठ बैसवाड़ी में ऐसे लोगों के प्रति एक व्यङ्ग कविता लिखकर अपने दिल के फफोले फोड़ने पड़े थे। तब तक मुझे स्पष्ट नहीं हो पाया था कि पूर्व-कथित साहित्यकार स्वनामधन्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ही थे।

जब हमलोग श्री द्विवेदीजी के समक्ष पहुँचे तब वे एक ग्रन्थ खोले हुए बैठे थे। पास बाहर से आये हुए एक मुसलमान सज्जन बैठे हुए थे जो शायद हमलोगों से कुछ ही पूर्व पहुँचे होंगे, क्योंकि मैंने श्री द्विवेदी जी को यह कहते सुना कि वे कुरान पढ़ रहे हैं। गर्मी के दिन थे अतः हमलोगों के लिये उन्होंने एक डोल शीतल जल की व्यवस्था का सत्कार कर दिया, जो मुझ सरीखे शहराती विद्यार्थी को कुछ अटपटा-सा अवश्य लगा, परन्तु वह देहात के आतिथ्य का सामान्य नियम ही था। श्री द्विवेदीजी उन मुसलमान सज्जन से बातें करते ही रहे। पीछे विदित

बास सहेती[1] सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा[2] ।
साच कहूँ तौ सतगुर मांनैं रूप[3] सहेता[1] दीठा ॥२५॥
मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस[4] मरणीं[5] मरौ, जिस[4] मरणी[6] गोरष[7] मरि[8] दीठा ॥२६॥

(परन्तु यदि यह बात मैं किसी से कहूँ तो) कौन मेरा विश्वास कर सकता है । (क्योंकि इन तत्त्वों के साथ जिन गुणों और क्रियाओं का सम्बन्ध जन साधारण सामान्यतया देखा करते हैं, उनको मेरे कथन में विरोध देख पड़ेगा ॥२४॥

(ब्रह्म को) सुगंधि से सारा जगत सुगंधित है । वह जगत में सुगंधि के समान व्याप्त है ।) उसके स्वाद से सारा जगत मीठा है । जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उसके लिए संसार के आत्यतिक दुःख की कटुता मिट जाती है, और जगत आनन्दमय (मीठा) हो जाता है । (क्योंकि समस्त जगत में उसे) उसी का रूप दिखाई देता है । (उसी के रूप से जगत सुन्दर है ।) इस सत्य का विश्वास केवल सद्गुरु को हो सकता है । (जिसे ब्रह्मानुभव नहीं वह इस पर विश्वास कैसे कर सकता है ?) ॥२५॥

हे जोगी मरो, मरना मीठा होता है । किन्तु वह मौत मरो जिस मौत से मर कर गोरखनाथ ने परमतत्त्व के दर्शन किये ।

(यह मरना सामान्य मृत्यु नहीं है, उससे भौतिक अस्तित्व का अन्त नहीं समझना चाहिए । योग मार्ग में तो विश्वास यह चला आता है कि योगी कभी मरता नहीं । इसलिए यह मरना जीवन्मृत्यु है । इसी का दूसरा नाम जीवन्मुक्ति है । इसमें स्वार्थी अर्थ में मृत्यु समझना चाहिए । भौतिक अर्थ में तो व्यक्ति के जीवन का अन्त ही सा हो जाता है अब वह अध्यात्मिक जीवन में परमार्थ के लिए जीता है । परमार्थ और परोपकार एक ही चीज नहीं । परन्तु परमार्थी जीवन परोपकार में भी अभिव्यक्त होता है) ॥२६॥

---

१. (ख), (ग), सहती···सहंता । २. (घ) मींठा । ३. (ग), (घ) में 'रूप' के पहले 'मैं' है । ४. (क) जिस···तिस । ५ (ग), (घ) करणी ६. (घ) करणी । ७. (क), (ख) श्री गोरषनाथ ; (घ) जती गोरखनाथ । ८. (क) में नहीं है ।

में नाथ-मत का रूप ग्रहण कर लिया। नई परिस्थितियों ने इस प्रभाव को और आगे बढ़ाया। धार्मिक क्षेत्र में कई बड़ी शक्तियाँ आ गई थीं। सूफ़ी निर्गुण रहस्यवादी ही थे। वैसे तो हिंदी प्रदेश को सूफ़ियों का परिचय १००० ई० के बाद से ही होने लगा था, परन्तु चौदहवीं शताब्दी तक हिंदू धर्मवेत्ता सूफ़ी विचारधारा से विशेष परिचित हो गए होंगे। इस सारे समय से हिंदुओं की दृष्टि से अराजकता का राज रहा, अतः मंदिर-विध्वंसकों के विरुद्ध जहाँ एक दल धर्म की नई-नई व्यवस्था देकर हिंदू भावना को नया पौराणिक रूप दे रहा था, वहाँ कुछ स्वतंत्र विचारकों ने (जैसे ज्ञानदेव, नामदेव और रामानन्द) मूर्ति-पूजा के प्रतीक-रूप को लोगो के सामने रखा और मूर्त्त को अमूर्त्त की ओर बढ़ने का प्रयास मात्र कहा। निम्न वर्गों के लोगों ने (जिन्हें मंदिर-प्रदेश निषिद्ध था और जो वर्णव्यवस्था से दुखी थे) इस संदेश का स्वागत किया और कबीर जैसे मुसलमानी प्रभाव में पले मुसीलमान व्यक्तियों को भी यह मतवाद अच्छा लगा। सूफ़ी विचारधारा और इस नये आध्यात्मिक दृष्टिकोण में कोई विशेष अंतर नहीं था। नामदेव का समय ११९२ ई०—१२७२ ई० है और ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) का समय ११९७—१२५८ ई० है। रामानन्द का समय १२९९—१४११ ई० है। परन्तु रामानन्द की विचारधारा का पूर्व रूप उनके गुरु राघवानंद में मिलता है जिनका समय एक पीढ़ी पहले १२७५ ई० के आस-पास रखा जा सकता है। इन सब की विचारधारा में बहुत साम्य है और इसके आधार पर संतकाव्य का समय १२५० ई० के लगभग आरंभ होता है। विद्यापति (१३५०-१४२५) की कविता में संत-विचारधारा की झलक इस मत को पुष्ट करती है।

नामदेव और रामानन्द की कुछ कविताएँ 'आदि' ग्रंथ में सुरक्षित हैं, परन्तु ज्ञानेश्वर की कविताएँ अलभ्य हैं। उनकी दो कविताएँ इस प्रकार हैं—

१ निरगुन सागर अथाह पसारा ।
वाको तरँग सकल संसारा ।।
उद्भव प्रलयहिं वाते होई ।
लेना एक और देना दोई ।।
सप्तहि सागर शायी कर्त्ता ।
धरती जो कागद लिखो पंडिता ।।
एक अक्षर पढ़े न कोई ।
लेना एक और देना दोई ।।
कहे ज्ञानदेव मन यों धरियो ।
सप्तहि सागर आगे धरियो ।।
पिंड में आवे-जावे कोई ।
लेना एक न देना कोई ।।[१४]

२ सोही कच्चा वे कच्चा वे ।
नहीं गुरु का बच्चा ।। टेक ।।

दुनिया त्यज कर खाक लगाई जाकर बैठा बन मों ।
खेचरि मुद्रा वज्रासन यों, ध्यान धरत है मन मों ।।
तीरथ करके उम्मर खोई, जोग जुगुत करों सारी ।
धन कामिनि औ' कुंजर लागे जोग कमाया भारी ।।
गुप्त होम कर परगट होये, गोकुल मथुरा कासी ।
सिद्ध जू डुवे प्राण निकाले, सत्य लोक के बासी ।।
शास्त्र में तो कुच नहिं रहया, पुरान गायन भाया ।
भेदविदी का मारग चलहा, तन का लग का लीया ।।

× [१४] साहित्य-सम्मेलन रिपोर्ट-पत्रिका: लेखक भास्कर रामचंद भालेराव ।

डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव'

आचार्य द्विवेदी जी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित द्विवेदी-अभिनन्दन समारोह में ही प्रथम और अन्तिम बार आचार्य द्विवेदीजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ—बहुत निकट से देखने का सौभाग्य। काशी नगरी तथा काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के प्रायः सभी मूर्धन्य विद्वान उस समारोह में उपस्थित थे—एक से एक अगड़धत्त। द्विवेदी जी के बायें बाबू श्यामसुन्दर दास और दाहिने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विराजमान थे। रायकृष्णदास तथा जयशङ्कर प्रसाद भी उसी पंक्ति में थे। वह दृश्य—जहाँ हिन्दी के प्रायः सभी मूर्धन्य पंडित एक स्थान पर विराजमान थे, देखने ही योग्य था। देवताओं को भी उस दृश्य की गरिमा, महिमा और शोभा पर ईर्ष्या होती होगी।

द्विवेदी जी का वह रोबीला व्यक्तित्व एक बार ही सभा पर छा गया। ऐसा व्यक्तित्व वह था ही। द्विवेदी जी हंटिंग कोट पहने हुए थे जिसकी चारों जेबें बाहर उभरी और बटन बंद थीं। सिर पर काश्मीरी टोपी, आँखों पर निकिल-फ्रेम का चश्मा, घुटनों से कुछ ही नीचे पहुँची धोती और पैरों में नागौरी जूते, हाथ में दमदार बेंत—अनामिका में एक बिना नग की सोने की सादी अंगूठी। द्विवेदी जी के चौड़े और उन्नत ललाट पर की रेखाएँ उनकी कठोर तपश्चर्या और दृढ़ निश्चय के व्रत को व्यक्त करती थीं, तो उनकी घनी और नीचे पलकों तक को ढक लेनेवाली भौंएँ और उससे भी अधिक घनी और गहनगंभीर मूँछें उनके व्यक्तिरव के प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा, जिसे अंगरेजी में 'आव' (Awe) कहते हैं उत्पन्न करती थीं। उनकी आँखों से निकलता प्रखर तेज देखने वालों को चकमका देता था। कुल मिलाकर द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बैसवाड़ी कम मराठी अधिक लगता था। यदि द्विवेदीजी के सिर पर पेशवाई पगड़ी और मस्तक पर श्री वैष्णवों का तिलक होता तो द्विवेदी जी और लोकमान्य तिलक में सहज ही अभेदता सिद्ध हो जाती। परन्तु द्विवेदी जी द्विवेदी जी थे, लोकमान्य तिलक लोकमान्य तिलक।

अभिनन्दन समारोह में मङ्गलाचरण आदि के अनन्तर बाबू श्यामसुन्दर दास ने अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित किया और द्विवेदी जी की प्रशंसा में कुछ कहा।

द्विवेदी जी को अपनी प्रशंसा असह्य हो गयी और बदले में उन्होंने कहा—"बाबू श्यामसुन्दर दास ने मेरी प्रशंसा की, इससे सिद्ध है कि उन्हें प्रशंसा बहुत प्रिय है"—और उसी अवसर पर "विमल बी०ए० पास बाबू श्यामसुन्दर दास" वाली पंक्तियाँ द्विवेदी जी ने तत्काल सुनायीं। उस अवसर पर पहले पहल 'प्रसादजी' ने सभा में 'कामायनी' के 'श्रद्धा' सर्ग से कुछ अंश सुनाया था। 'कामायनी' अभी प्रकाशित नहीं हुई थी, हस्तलिखित ही थी—प्रसाद जी बड़े संकोची जीव थे कभी सभा सोसायटियों में अपनी कविताएँ सुनाने में बहुत झेंपते थे और प्रायः कतरा जाते थे। वही एक अवसर था जहाँ प्रसादजी ने कविता पाठ किया। हमलोगों ने काशी विश्वविद्यालय के अनेक आयोजनों में ले जाकर प्रसादजी से कविता सुनने की साजिशें रचीं पर सब बेकार सिद्ध हुईं। 'प्रसाद' जी में सचमुच शील संकोच की मात्रा बेहद थी। वे निरालाजी को आगे कर उन्हीं की कविता के पाठ में सबको रमा देने की कला में परम निपुण थे।

ऊपर द्विवेदी जी की चर्चा में लोकमान्य तिलक का सहज ही स्मरण हो आया। परन्तु जरा गहराई में डूब कर देखा जाय तो द्विवेदी जी और तिलक में कई बातों में समानता मिलती है—दोनों ही कठोर तपश्चर्या, कष्ट सहन, त्याग, आत्मार्पण, सरल जीवन, उच्च विचार के प्रतीक हैं—दोनों का जीवन अखंड और घोर अनुशासन में बीता और इसीलिए उनके आसपास का समस्त वातावरण अनुशासनमय था—यहाँ से वहाँ तक। तिलक ने अनेक देशभक्त पैदा किये, द्विवेदी जी ने अनेक हिन्दी भक्त, हिन्दी लेखक और कवि पैदा किये—गणेश शङ्कर, हरिभाऊ, मैथिलीशरण, सनेही आदि आदि कितने गिनायें—ये सब—ये ही क्यों हम सभी द्विवेदी जी के मानसपुत्र हैं और उन्हीं की बनाई हिन्दी पढ़ और लिख रहे हैं। सच तो यह है कि भारतेन्दु-युग की तुतलाती हिन्दी को द्विवेदी जी ने ही शिष्ट और सभ्य रूप दिया। इस एक व्यक्ति ने अकेले इतना किया जितना हजारों क्या लाखों व्यक्ति मिलकर नहीं कर सकेंगे। हिन्दी का यह 'पाणिनी' अपनी कृतियों के कारण ऐसी अमर कीर्ति कमा गया है कि हिन्दी की जहाँ चर्चा होती है द्विवेदीजी की चर्चा अवश्य होती है और इस ऋण को हिन्दी संसार ने नतमस्तक हो कर श्रद्धाभक्तिपूर्वक स्वीकार किया, उस युग को "द्विवेदी युग" अभिहित कर। द्विवेदी युग की आधार शिला पर ही आज के समस्त हिन्दी साहित्य का विशाल-भव्य-भवन खड़ा है और भविष्य निर्माण में उसकी अक्षय सक्षमता को इतिहास चिरकाल तक श्रद्धापूर्वक स्मरण करता रहेगा।

श्री वृन्दावन लाल वर्मा

द्विवेदीजी

मैं 'सरस्वती' का पाठक बहुत पहले से था। मेरा प्रथम लेख 'सरस्वती' में १९०८ के मई अंक में प्रकाशित हुआ था। था छोटा-सा ही, परन्तु उसके प्रकाशन ने उत्साह प्रदान किया। फिर १९०९ और १९१० के अंकों में कहानियाँ छप गईं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखों से बड़ी प्रेरणा मिलती गई। उनके दर्शन मैंने १९१७ या १९१८ में पाये।

जिस दिन उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ साथ में राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी अजमेरी, श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी और उरई के एक वकील साहब थे।

१९०१ या १९०२ के लगभग द्विवेदीजी झांसी के एक रेलवे कार्यालय में थे। स्वाभिमानी और विद्वान थे ही, अंगरेज अफसर से न पटी और उन्होंने नौकरी छोड़ दी। झांसी के कई पुराने वकीलों को जानते थे। उन्होंने नाम ले लेकर अपने वकील मित्रों की क्षेम कुशल पूछी। जानकर प्रसन्न हुये। मुझे आशीर्वाद दिया।

द्विवेदीजी पान खाने के शौकीन थे। मैं भी खाता था। मेरे ओठों ने भेद खोल दिया। सुन रखा था कि द्विवेदीजी हरएक आगन्तुक को पान भेंट नहीं करते। उनकी पान-डिब्बी की ओर देखने तक का मेरा साहस नहीं हुआ। द्विवेदीजी ने डिबिया खोली, पान खाया। मैंने मुँह फेर लिया क्योंकि कोई आशा पान प्राप्ति की न थी। परन्तु अपनी ओर बढ़ा हुआ हाथ देखा—उँगलियों में पान ! मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा। नत मस्तक होकर ले लिया। मेरे साथियों को भी पान मिले।

फिर साहित्य सम्बन्धी चर्चा हुई—विशेषत: कहानियों के सम्बन्ध में।

द्विवेदी जी ने आदेश दिया—'चिपटे रहो, ईश्वर कृपा से किसी दिन ऊँचे उठोगे।'

विदा के समय हम सब नतमस्तक हुये। साथी वकील ने विनय के साथ प्रश्न किया—'मैं क्या करूँ ?'

द्विवेदी जी ने पूछा,—'आप क्या करते हैं ?'

आधुनिक कवि भी यह कामना नहीं करते कि उनकी रचनाएँ पढ़ी जाँय परन्तु यही आशा करते हैं कि उनकी कृतियाँ सुनी जाँय। अनादि काल से प्रचलित यह पद्धति प्रमाणित करती है कि भारतीय काव्य तथा विज्ञान की रचना का प्रारम्भ उस युग में हुआ होगा जब लिपिज्ञान न था और ऋग्वेद आदि के विषय में प्रचलित मौखिक परम्परा तब ही चली होगी जब लिपि का प्रचार न था। अत एव यह कहा जा सकता है कि लिपिसम्बन्धी उल्लेख से कहीं पूर्व, लिपि का प्रचार अवश्य हुआ होगा। अशोक के उत्कीर्णलेखों की शिला-लिखित साक्ष्य हर सूरत इस बात को स्पष्ट बताती है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में लिपि कोई नवीन आविष्कार न था। कारण, एक ही वर्ण के अलग-अलग अनेक रूप उस समय के पाये जाते हैं—यहाँ तक कि किसी वर्ण के तो नौ या दस रूप मिलते हैं। साथ ही साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि सिमेटिक २२ वर्णों से ४६ वर्णों की पूरी ब्राह्मी वर्णमाला के विकास में बहुत अधिक समय अवश्य लगा होगा। आचार्य ब्यूहलर के सुदृढ़ तर्क के अनुसार यह पूर्ण वर्णमाला अवश्य ही ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा ध्वनि-नियमों के वैज्ञानिक आधार पर रचित हो चुकी थी। यह वही वर्णमाला है जिसे महावैयाकरण पाणिनि ने ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व स्वीकृत की, और जो तब से आज तक अपरिवर्तित रही। यह वर्णमाला न केवल संस्कृत भाषा की समस्त ध्वनियों को अन्तर्गत करती है, वरन् इसका रचनाक्रम भी बहुत ही वैज्ञानिक है। पहले क्रमशः ह्रस्व एवं दीर्घ मूल स्वर, तत्पश्चात् संयुक्त स्वर और अन्त में उच्चारणस्थान के आधार पर वर्णों में नियमतः संकलित व्यञ्जनों का समुदाय है। उदाहरणार्थ—दन्त से उच्चार्यमाण पूरा तवर्ग और ओष्ठ से उच्चार्यमाण पवर्ग एक साथ मिलता है। इसके विपरीत यूरपवासी हम लोग ढाई हज़ार वर्ष बीतने पर भी आज के वैज्ञानिक युग में ऐसी वर्णमाला का प्रयोग करते हैं जो न केवल हमारी भाषा की सब ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करने में सर्वथा अपर्याप्त ही है परन्तु उसमें स्वर एवं व्यञ्जन अनियमित रूप से आज भी ठीक उसी तरह संकलित हैं जिस तरह ३००० वर्ष पूर्व सिमेटिक जाति के द्वारा प्राथमिक वर्णसंकलन के आधार पर प्रणीत ग्रीक वर्णमाला में पाये जाते हैं।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के शिला-लेखों में ब्राह्मी लिपि के भी दाक्षिणात्य और औत्तरीय दो भेद पाये जाते हैं। ब्राह्मी लिपि का औदीच्य स्वरूप उत्तर भारत में प्रचलित अक्षरसमूह से बना हुआ है जिसका प्रचुर प्रभाव भारत

परम भागवत शुकदेव

'जिन महापुरुषों के चित्त में उत्तमश्लोक हरि के पादपद्मों की छाया ने संसार के तुच्छ भोगों से विरक्ति उत्पन्न कर दी है, उनमें कुटुम्बी होने की स्पृहा नहीं होती।'

—श्रीमद् भागवत

परम भागवत शुकदेव का नाम भगवद्भक्ति के इतिहास में अमर है, वे उच्च कोटि के ज्ञानी भक्त थे, उन्होंने मृत्यु पर अमरता की विजयिनी भागवत पताका फहरायी, आत्मा का परमात्मा के भक्ति राज्य में प्रवेश कराने में ही उन्होंने अपनी आत्मशान्ति स्थिर की। द्वापर और कलियुग की सीमा पर उन्होंने भगवद्भक्ति की स्वर्णिम दीवार उठा कर मानवता की पाप और अज्ञान के तामस राज्य में जाने से रक्षा की। उन्होंने विश्व को भागवत साहित्य सुनाया, भागवती कथा का दान किया। भक्ति के बारह आचार्यों में उनकी गणना होती है। वे भक्त परमहंस थे। उन्होंने परम शुद्ध, अत्यन्त गोपनीय भागवत धर्म का मर्म समझा कर प्राणियों को भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराया।

उनके प्राकट्य के कुछ समय पहले ही भगवान श्री कृष्णने महाभारत के युद्ध के फलस्वरूप दुर्योधन के प्रवृति-राज्य को मिटा कर युधिष्ठिर की धर्ममूलक निवृत्ति-सत्ता की स्थापना करायी थी। महाभागवत शुकदेव ने भरतश्रेष्ठ परीक्षित् को गंगा के परम पवित्र तट पर श्रीभागवत की कथा सुनाकर तक्षक के दंशन-भय की ज्वाला शान्त कर उन्हें वैकुण्ठ में निश्चित जाने का साधन बताया था। उस समय पाप और पुण्य, असत्य और सत्य तथा अधर्म और धर्म में विकट संघर्ष हो रहा था। चारों ओर कलि का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता था। द्वापर और कलियुग के सन्धिकाल में शुकदेव ने लोगों

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

•

वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के स्रष्टा और कवि कोई भी तात्विक दृष्टि से साहित्यकार नहीं थे—ऐसे साहित्यकार, जिन्होंने कवि-कुल में जन्म लिया हो, जिन्होंने व्यवस्थित रूप से साहित्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया हो या जिन्होंने राजाश्रय प्राप्त करके अपनी काव्यलता को पल्लवित करने का उचित संबल और अवकाश उपलब्ध किया हो। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जिन महापुरुषों ने हिन्दी साहित्य संवर्द्धन के लिये अपनी लेखनी सँभाली, सबने सात्विक निष्ठा के साथ अपनी मानसिक प्रेरणा से कुछ लिखने और कुछ कहने की नैसर्गिक वीथिका ग्रहण की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका के द्वारा नागरी गद्य में लिखने का जो राज-मार्ग प्रशस्त कर दिया था उस पर बढ़ चलने का सभी प्रतिभाशील महानुभावों को खुला मार्ग मिल गया। कविता की ऐसी स्वाभाविक धारा संस्कृत और ब्रज भाषा के कवियों के द्वारा पहले से ही सुप्रवाहित थी कि उसके लिए पढ़न्त और गढ़न्त कवि-गोष्ठियों की संपुष्ट परम्परा ने घर-घर में कवि उत्पन्न कर दिए थे। इसलिये यह कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं रही कि लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल और काशी के सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के हेड-मास्टर बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी गद्य का प्रवर्तन, प्रचार, प्रसार और साहित्य-सर्जन किया; कानूनगो, रजिस्ट्रार-कानूनगो और सदर-कानूनगो जैसे अत्यन्त असाहित्यिक सरकारी पदों पर काम करने वाले निज़ामाबाद (जिला—आजमगढ़ उ०प्र०) के निवासी कवि-सम्राट् पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने प्रिय-प्रवास जैसे संस्कृतवृत्तानुसारी सशक्त काव्य की रचना की; मिर्जापुर में ड्राइङ्ग मास्टरी करते हुए बस्ती (उ० प्र०) निवासी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में परिपुष्ट समीक्षा-पद्धति का प्रवर्तन करके हिन्दी गद्य-साहित्य को उठाकर विश्व के श्रेष्ठतम गद्य-साहित्य के सम्मुख लाकर खड़ा कर दिया; अध्यापकी करते हुए काशी के बाबू धनपतराय उर्फ नवाबराय उर्फ बाबू प्रेमचन्द ने उर्दू में कहानियाँ लिखते हुए हिन्दी के क्षेत्र में सहसा प्रविष्ट होकर उपन्यास-सम्राट् के महत्वपूर्ण पद को समलंकृत किया; सुंघनी-जर्दे का व्यवसाय करनेवाले श्री झारखंडे

प्रसाद (जयशंकर प्रसाद) ने कामायनी जैसे उत्कृष्ट भाव-काव्य की रचना की ; काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में फारसी के अध्यापक के रूप में आए हुए लाला भगवानदीन जी ने अपनी धर्मपत्नी बुंदेलाबाला से हिन्दी सीख कर 'कठिन काव्य के प्रेत' केशवदास जैसे महाकवि के काव्य पर टीका की ; और, उसी परिपाटी में इन सबसे पहले दौलतपुर (जि० रायबरेली, उ० प्र०) के सम्मान्य ब्राह्मण कुल में बैशाख शु० ४, सं० १९२१ (सन् १८६४) में जन्म लेने वाले पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जी० आई० पी० रेलवे में सिगनल मैन, माल बाबू, स्टेशन मास्टर और ट्रैफिक सुपरिन्टेंडेन्ट के चीफ क्लर्क के असाहित्यिक पदों पर काम करके भी नौकरी छोड़-छाड़ कर सन् १९०३ में प्रयाग के इण्डियन प्रेस से प्रकाशित होने वाली 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य अपने यशस्वी हाथों में ग्रहण कर लिया ।

सरस्वती के सम्पादन-काल की उनकी कई घटनाएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं । उनके समय काव्य की भाषा ब्रज-भाषा थी जिसका विस्तार गुजरात से लेकर असम तक था या यों कहिए कि जहाँ-जहाँ वल्लभीय वैष्णव सम्प्रदाय फैला हुआ था वहाँ तक अष्टछाप के कवियों—मुख्यत: सूर के भजनों के द्वारा और उनसे प्रभावित स्थानीय कवियों की भावपूर्ण रचनाओं के द्वारा ब्रज-भाषा व्याप्त थी । उस समय के अनेक गद्य-लेखक भी गद्य भाग नागरी में लिखते हुए भी पद्य भाग ब्रज भाषा में ही लिखते थे । द्विवेदीजी ने नागरी और ब्रज के इस गठबन्धन को अस्वाभाविक बतलाकर तोड़ डाला और अपनी नवलेखक-मंडली को प्रेरणा देकर उनके द्वारा नागरी में पद्य लिखने की प्रेरणा दी । यद्यपि उनसे प्रेरणा प्राप्त करके गढ़िया कवियों की ही वृद्धि अधिक हुई जिनकी रचनाओं में काव्य का ओज और चमत्कार तो नहीं आ पाया किन्तु उस प्रवृत्ति ने छायावादी युग के कवियों के लिये संस्कृतनिष्ठ नागरी में कल्पना के पंख लगाकर अनन्त की खोज करने का मार्ग अवश्य प्रशस्त कर दिया । इतना ही नहीं, अपनी इस नीति के कारण उन्होंने ब्रज-भाषा की कविता का प्रकाशन भी 'सरस्वती' में बन्द कर दिया । यद्यपि उनकी इस ब्रज विरोधी नीति से ब्रज-भाषा के विकास में पर्याप्त बाधा अवश्य पड़ी किन्तु इससे नागरी कविता साहित्य को अवश्य ही विशेष बल प्राप्त हुआ ।

उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी शिष्य-मंडली के अतिरिक्त अन्य किसी भी नए लेखक की रचना को लेकर उसे आद्यन्त शुद्ध करके, कभी-कभी तो उसे पूरा नया लिख कर प्रकाशित कर देते थे । इससे उस युग के अनेक लेखकों को प्रोत्साहन भी मिला, यश भी मिला और व्यापक रूप से हिन्दी गद्य का परिष्कार भी हुआ । इस दृष्टि से नागरी गद्य भाषा को पुष्ट, व्याकरण-सिद्ध और अभिव्यंजन-शील बनाने का सबसे अधिक श्रेय आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही है । अपने इस अनुष्ठान में वे इतने सजग और दृढ़ थे कि एक बार सरस्वती के आदि सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास ने एक लेख भेजा कि इसे

ज्यों का त्यों छाप दीजिए। संयोग से उसमें एक भूल रह गई थी। द्विवेदीजी ने लाल रोशनाई से उसे रेखांकित करके लौटाते हुए लिखा कि इसे ठीक करके भेजिए तो प्रकाशित कर दिया जाय। संयोग से बाबू श्याम सुन्दरदास भी उतने ही मनस्वी और आत्माभिमानी थे। उन्होंने वह लेख तो भेजा ही नहीं पर उसके पश्चात् भी कभी सरस्वती के लिये कोई लेख नहीं भेजा।

माल बाबू के रूप में जो उन्होंने काम किया था उसका एक दुरभ्यास (जिसे सदभ्यास भी कहा जा सकता है) उनमें आ गया था कि वे एक ओर से कोरे रद्दी, गन्दे, मटियाले, फटे कागजों पर गम्भीर से गम्भीर लेखन-कार्य कर लेने में भी संकोच नहीं करते थे। उन्होंने अपने अधिकांश सम्पादकीय लेख समाचार-पत्रों के खाम (लपेटन कागज) पर लिखे। वे कोई कागज व्यर्थ नष्ट नहीं होने देते थे, जब तक उसका पूरा अधिक से अधिक उपयोग नहीं हो जाता था।

वे बड़े उदार और बड़े संयमी थे किन्तु उनमें ब्राह्मण की स्वाभाविक दुर्बलता भी थी। वे बड़े मनस्वी और स्पष्ट वक्ता थे। अपने इन गुणों के कारण वे सबके श्रद्धा-भाजन थे और कुछ के कोप भाजन भी; किन्तु उन्होंने कभी किसी के आगे सिर नहीं झुकाया और किसी का लोहा नहीं माना। यही कारण था कि वे इतनी निर्भीकता और दृढ़ता के साथ हिन्दी भाषा का संस्कार और परिष्कार करके वर्त्तमान हिन्दी साहित्यकारों का पथ प्रशस्त कर सके।

द्विवेदीजी बड़े अध्ययनशील थे। प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत पढ़ी थी और अध्ययन का व्यसन पड़ गया था। जिन दिनों में पूर्ण निवृत्त होकर अपने घर में रहते थे उस समय भी वे अपना अधिक समय पढ़ने में लगाते थे। एक बार मैं रायबरेली के कवि-सम्मेलन में गया। विचार हुआ कि दौलतपुर जाकर दर्शन कर आया जाय। मैं पहुँचा तो दिन ढल रहा था, देखते ही उठ खड़े हुए और अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण स्नेह से पूछा—अरे! यह अकस्मात् बिना पूर्व सूचना के कहाँ से? मैंने कहा कि मन्दिर में सूचना देकर थोड़े ही कोई जाता है। बड़े गदगद हुए। जलपान की व्यवस्था करने लगे। मैंने बहुत आग्रह किया कि उपचार न कीजिए। उन्होंने कहा उपचार (तकल्लुफ) नहीं है। यह आतिथ्याचार है। वे मेरे दुरभ्यास से परिचित थे कि मैं कहीं खाता-पीता नहीं हूँ। इसलिये झट बोले—मैं सब जानता हूँ और फिर एक पंसेरी लोटे में ईख का रस दूध में मिलाकर ले आए। यह आतिथ्याचार हो चुकने पर मैंने कहा—पंडितजी! अभी तक भी आप पोथियों में क्यों लिप्त रहते हैं। छूटते ही उन्होंने उत्तर दिया—यह जन्म तो मैंने व्यर्थ अब्राह्मण कार्यों में व्यतीत किया है। अब दूसरा जन्म सुधारने की तैयारी कर रहा हूँ। यह कह कर उन्होंने एक श्लोक सुनाया :—

गते पि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः।
यदिह स्यान्न फलदा सुलभा स्यादन्यजन्म नि॥

(अवस्था बीत जाने पर भी पूरा मन लगा कर बुद्धिमान को विद्या ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि यदि इस जन्म में उस विद्या का कोई फल नहीं मिला तो अगले जन्म में इतनी सुलभ हो जायगी कि सुविधा से उसका प्रयोग किया जा सके ।)

द्विवेदी जी अत्यन्त उदार भी थे पर साथ ही इतने मनस्वी भी थे कि किसी के आगे उन्होंने कभी हाथ नहीं फैलाया, कभी वे झुके नहीं और किसी भी धन-पति को अपने आगे उन्होंने कुछ नहीं समझा । ऐसे मनस्वी, तपस्वी वन्दनीय हैं क्योंकि इस युग में ऐसे महापुरुषों का दर्शन कहाँ होता है ?

•

"यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिन्दी साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है । हिन्दी- साहित्य गगन में सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है । सूरदास, तुलसी दास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं । परन्तु मेघ की तरह ज्ञान की जल-राशि देकर साहित्य के उपवन को हरा भरा करने वालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी ।"

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी

विषय वैष्णव-धारा का प्रभाव सूचित करते हैं। धर्मदास से कबीर की एक परम्परा चलती है, दूसरी परम्परा कबीर के पुत्र कमाल से। कमाल के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—'डूबा बंश कबीर का उपजा पूत कमाल' अवश्य ही इस पंक्ति का लेखक धर्मदासी कबीरपंथी होगा। सच तो यह है कि उस समय भी हिंदू मुसलमान-समस्या इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कबीर जैसे सुधारक भी उसे हल नहीं कर सका। अपने समय में कबीर हिंदू और मुसलमान दोनों के पूज्य रहे। हिंदी के कुछ विद्वान कबीर को मुसलमान मानते हैं; कुछ मुसलमान-पोषित। जान पड़ता है, कमाल में कबीर-पंथियों के विरुद्ध अपना स्वतंत्र मत चलाया। कदाचित् डा० ताराचंद का यह कहना ठीक हो कि कमाल पश्चिमी भारत के सूफ़ियों के सम्पर्क में आ गये थे और उनके साहित्य से भली भाँति परिचित थे। कबीरपंथी मुख्यतः हिन्दू थे, उनमें वैष्णवों की पूजा-भावना घुस आई थी, अतः कमाल उनसे अलग रहे। दादूदयाल (दादू) कमाल के ही शिष्य थे। कमाल का प्रधान क्षेत्र मुलसमान वर्ग ही था या ऐसा वयन-जीवी वर्ग जो मुसलमान बन गया था। अतः मुसलमानों में ही कमाल का विशेष प्रचार हुआ। कदाचित् कबीर के जीवन-काल में ही कमाल स्वतंत्र रूप से धर्मप्रचार करने लगे थे।

कबीर के बाद संत-साहित्य के सबसे महान कवि दादू ही हैं। इनकी कविता का एक अंग सूफ़ी साहित्य से बहुत निकट है। ऐसा लगता है जैसे वह सूफ़ी सिद्धान्तों की व्याख्या में ही लिखा गया है। अन्य सूफ़ियों की तरह दादू भी प्रेम के साधक थे। उन्होंने भगवान को इस तीव्र व्यक्तिगत भावना से स्मरण किया है कि उनके पदों में प्रेम-मिलन और विरह का अत्यंत सुन्दर और मार्मिक चित्र उपस्थित हो सका है। इन पदों में दादू जैसे उस निर्गुण, निराकार, चिन्मय ब्रह्म से मिलने के लिए तड़प ही उठे हैं। ऐसे पदों में हमें सगुण भक्त-कवियों के पदों के समस्त गुण मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त वीरभानु (१६०३), लालदास

विषस्य विषमौषधम् : स्वभाव में द्विवेदीजी बड़े सरल और संतोषी थे। उन्होंने अपने एक लेख में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की आलोचना की थी, यद्यपि उन्हें सभा के उद्देश्यों व आदर्शों से पूर्ण सहानुभूति थी। उनकी यह आलोचना पढ़कर पं० केदारनाथ पाठक द्विवेदी जी के घर आ धमके और अधिकारी स्वर में बोले—'आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा – क्या 'विषस्य विषमौषधम' की नीति का अवलम्बन करना होगा।'

द्विवेजी जी ने मुस्कराते हुए शब्दों में कहा—'देवता। ठहर जाओ, जरा धीरज तो रक्खो।'—और द्विवेदीजी अपने भीतर वाले कमरे में चले गये और एक तश्तरी में मिठाई, एक लोटा जल और एक मोटी लाठी लेंकर जल्दी ही बाहर निकले। सहज स्वर में पाठक जी से बोले—'यात्रा से थक गये होंगे, हाथ-मुँह धोकर जल्दी से नाश्ता कर लो जिससे कुछ होश आ जाए तुम्हें। इसके बाद, इस लाठी का इस्तेमाल मेरे मस्तक पर करना। मेरी आलोचना के बदले जी भर कर मुझे पीट लेना।' द्विवेदी जी के इन मर्मस्पर्शी वाक्यों ने पाठक जी को पानी-पानी कर दिया। उनके चित्त की क्रोधाग्नि श्रद्धा और भक्ति में परिणत हो गई।

पत्नी की मूर्ति : द्विवेदी जी दो सौ रुपये की रेलवे की नौकरी जब छोड़ कर घर आये तो उनकी पत्नी, जो शायद बहुत अधिक सहिष्णु और पतिव्रता थी, ने उनके इस त्याग के उत्तर में कोई असंतोष प्रकट न किया वरन् सन्तोष और धैर्य से यही कहा-'अगर तुम मेहनत-मजदूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे, तो उसी में अपना काम निबटा लूँगी।' उनकी धर्मपत्नी की मृत्यु शीघ्र हो जाने के कारण द्विवेदी जी के रिश्तेदारों ने उनसे दूसरी शादी करने को कहा परन्तु द्विवेदी जी इस प्रस्ताव को अन्त तक न माने। द्विवेदीजी का प्रेम तो अलौकिक था, अमर था। द्विवेदी जी ने अपनी स्वर्गीया अर्द्धाङ्गिनी की मूर्ति बनवा कर मकान के सामने नव-निर्मित मण्डप में स्थापित की तो लोगों ने उनका बड़ा मजाक उड़ाया। जगह-जगह गाँव के लोग चर्चा करने लगे--'दुबोना कलजुगी है, कलजुगी। द्याखौ न, मेहौरिया के मूरति-बनवाय के पथराईसि हइ। यही कौनिऊ वेद-पुरान के मरजाद बाय ?'

लेकिन द्विवेदी जी ने इन समस्त चर्चाओं पर कभी गौर नहीं किया और अपनी प्रेम-मूर्ति पर अन्त तक फूल चढ़ाते रहे।

तुम्हारी सजनी कौन है : द्विवेदी जी बड़े हंसोड़ और विनोदप्रिय थे। व्यंग तो उनका सबसे बड़ा शौक था। 'प्रताप' के तत्कालीन सम्पादक स्वर्गीय पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताएँ श्रृंगार और रति से लदी रहती थीं। अक्सर उनमें विरह का वर्णन होता था। एक बार द्विवेदी जी हंसी में उनसे पूछ ही बैठे -'काहे हो बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी, सखी सलोनी, प्राण, को आयं ? तुम्हार कविता मा इनका बड़ा जिकर रहत है ? नवीन जी इस कथन से झेंप गये।

आचार्य जी के इस प्रश्न से सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई उनकी । सब लोग हंस पड़े । तब नवीन जी ने साहस बटोरकर कहा । 'महाराज ! बूढ़ हुई गये हो: इन सबका जानि कै का करिहौ ?' द्विवेदी जी के लिये सचमुच यह करारा जवाब था । नवीन जी के चपत लगाते हुए वे बोले -अरे नवीन, बड़े मुरहा हो तुम भाई !

१५ घोड़े की गाड़ी : एक बार द्विवेदी जी स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा के गांव आये । आने से पहले उन्होंने उनको तार दिया ...'रीचिंग विलेज मैनेज कन्वेयेन्स फिफ्टीन आवर्स, (मैं जा रहा हूँ, सवारी का प्रबन्ध करना । पन्द्रह बजे (३ बजे) दिन में पहुँचूँगा) । तार बाबू ने भूल से आवर्स की जगह होर्स लिख दिया, जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया । १५ घोड़े की गाड़ी का प्रबन्ध कैसे हो ? पद्मसिंह शर्मा और उनके गांव के लोग परेशान हो गये । जब द्विवेदीजी उनके गांव पहुँचे और पद्मसिंह शर्मा ने उन्हें वह तार दिखाया तो उन्होंने जाकर तार बाबू से हँसते हुए कहा-वाह, बाबू जी । वाह ! खूब कमाल दिखाया । बेचारा तार बाबू खिसिया गया ।

कोट का प्रबन्ध : उनकी विनोद प्रियता के न जाने कितने उदाहरण हैं । एक अवसर पर द्विवेदी जी से किसी ने कहा-'आचार्य जी ! आज आपका चित्र लिया जायगा । इसके जवाब में द्विवेदी जी ने सविनोद कहा—'भाई सच ! मैं तो देहात का रहनेवाला हूँ । यदि मुझे मालूम होता कि चित्र लिया जावेगा तो कम से कम एक कोट का इन्तजाम कर लेता ।'

द्विवेदी जी अकर्मण्यता के कट्टर शत्रु थे और प्रकृति के नियमों की भाँति अटल थे । भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में वे अक्सर भावावेश में ये शब्द कहा करते थे— ओ भारत ! कुछ तो कर्मयोग के और कुछ तुम्हारी ही अकर्मण्यता के कारण तुम्हारा वह प्राचीन वैभव इस समय कथावशेष रह गया है । लौकिक ज्ञान और विज्ञान में तुम्हें विदेशी योरुप और अमेरिका ने परास्त कर दिया, बल-विक्रम में तुम्हें विदेशी जातियों ने मुंह दिखाने काबिल नहीं रक्खा । तुम्हारे हीरों का भी दुर्भाग्य से ह्रास हो गया ।

अतएव, भारत के सपूतो ! चेतो, जागो, कर्म और चेष्टा करना सीखो, पर अपने किए की दुहाई देकर डींग मत मारो । उद्योग, अध्यवसाय और परिश्रम के द्वारा अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करो ।'

*

श्री विनोद शंकर व्यास

आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व

•

मुझे अपने पिता और पितामह की कीर्ति और वैभव के साथ ही पुस्तकों का एक बड़ा भंडार मिला। जिसमें भारतेन्दु और द्विवेदी काल की अधिकांश पुस्तकें थीं। इनमें 'सरस्वती' की फाइल मेरी विशेष प्रिय वस्तु थी। उन्हीं के पन्ने उलटते-उलटते मुझे लिखने की प्रेरणा मिली। अतएव पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति मेरी श्रद्धा होना स्वाभाविक है।

द्विवेदी जी अपने जीवन काल में एक गुरुकुल थे। हिंदी साहित्य के उस विशाल वट-वृक्ष की छाया में बैठकर कितने लेखक, कवि और राष्ट्रकवि ने हिन्दी भाषा को उज्ज्वल किया है, यह किसी से छिपा नहीं। मुझे उनके व्यक्तितत्व का अध्ययन करने का जितना अवसर मिला है उसमें मैंने यही देखा है कि उनका ब्राह्मणत्व सब से अधिक प्रबल रहा है। द्विवेदीजी के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की धारणा है कि उनमें अहमन्यता या अकड़ की मात्रा अधिक थी।

वह एक महान साहित्यिक योद्धा की भांति द्वन्द करते रहे। अहमन्यता कहना उचित नहीं, उसे आत्मसम्मान कहना ही उपयुक्त होगा। जिसकी पीठ ठोकते, उसे आगे ही बढ़ाते चले गये और जिससे रूठे उसे गहरे प्रहार का सामना करना पड़ा। वे सरल हृदय के थे और खुलकर वार करते थे। भीतर ही भीतर 'मीठी छुरी' नहीं चलाते थे, और इसी स्वभाव के कारण वह किसी के सामने झुके नहीं। वह चाहते तो बड़े-से-बड़े सांसारिक सम्मान का पद प्राप्त कर सकते थे; लेकिन ब्राह्मण का सन्तोषी हृदय जीवन भर अपनी साधारण स्थिति से ही सन्तुष्ट रहा।

पाक्षिक 'जागरण' ने सबसे पहिले द्विवेदी-जयन्ती का प्रस्ताव उपस्थित किया था। ९, मई १९३२ संध्या समय सभा भवन में द्विवेदी-जयन्ती मनाई गई। सभापति का आसन बाबू श्यामसुन्दर दास ने ग्रहण किया था। बाबू रामचन्द्र ने प्रस्ताव पढ़कर सुनाया जिसमें आचार्य द्विवेदी जी की अड़सठवीं वर्षगांठ पर उनकी दीर्घायु-कामना की गई थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्ताव का अनुमोदन और प्रसाद ने समर्थन किया था।

द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ की योजना बाबू शिवपूजन जी ने ही प्रस्तुत की थी

(४) एक जनश्रुति यह भी है कि नीरू-नीमा पूर्व जन्म के ब्राह्मण थे जो पाप के कारण मुसलमान कुल में पैदा हुए थे।

(५) जब काज़ी ने कुरान खोलकर नाम निकालना चाहा तो सारा कुरान अल्लाह के नामों (कबीर, अकबर, किबरिया और किबरा इत्यादि) से भरा मिला। उन्होंने कहा, इस बालक को नष्ट कर दो। यह शैतान जान पड़ता है। परन्तु छुरी बालक के आर-पार निकल गई। बालक ने कहा—मैं तो ज्योति का बना हूँ।

ऊपर के चमत्कार कबीर के मुसलमान कुल और उनके कबीर नाम की वैष्णव व्याख्या-मात्र कहे जा सकते हैं।

(६) कई दिन तक बालक कबीर ने दूध नहीं पिया। इससे माता पिता को बड़ी चिंता हुई। अंत में एक बछड़े ने उन्हें चमत्कार-पूर्वक ढंग से दूध पिलाया।

(७) बचपन में ही वह अपने से बड़े वय के बालकों को धार्मिक सिद्धांतों की शिक्षा देने लगे और साधु संतों से तर्क-वितर्क करते थे।

यह उसी प्रकार के चमत्कार हैं जिस प्रकार के चमत्कार राम-कृष्ण के संबंध में वैष्णवों में प्रचलित हैं।

(८) बचपन में ही कबीर ने गो-हत्या का विरोध किया। उनके घर में जब गो-हत्या हुई तो वे अदृश्य हो गये। कई दिन तक नीरू-नीमा अन्न-जल रहित प्रार्थना करते रहे, तब कहीं कबीर घर लौटे। कबीर के इस कृत्य से ब्राह्मणों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

संभव है, इस प्रकार की कोई घटना घटित हुई हो। हो सकता है, कबीर में आध्यात्मिक भाव रक्तपात और गो-हत्या देखकर ही जाग्रत हुआ हो। इस प्रकार की घटनाएँ असंभव नहीं हैं। कबीर भी महानात्माओं की भाँति बचपन से ही सहृदय और जिज्ञासु रहे होंगे। उनके काव्य में अहिंसा का स्वर सब से ऊँचा उठता है। परन्तु ब्राह्मणों की प्रशंसा की बात से यह भी स्पष्ट है कि इससे मुख्य घटना पर वैष्णव विश्वासों का भी रङ्ग

चढ़ा है। बीजक का दसवाँ शब्द इस घटना के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जाता है, परन्तु उस पद में सामान्य ढंग से बलि और कुरबानी का विरोध है। इस प्रकार का साहित्य कबीर और अन्य सूफ़ियों में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

(९) इसके बाद कबीर ने 'राम, 'गोविंद, 'हरि' जपना आरम्भ कर दिया। इससे उनके परिवार और मुसलमान समाज में हलचल मच गई। मुसलमानों ने उन्हें काफ़िर कहा। कुछ दिन बाद कबीर ने शरीर पर राम-नाम लिखना शुरू किया। वे माथे पर वैष्णवों की भाँति तिलक देते और जनेऊ धारण करते। इससे ब्राह्मण भी कम अप्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने उनकी निंदा की। वह 'निगुरुए' थे। उन्हें वैष्णव अचार-विचारों की हँसी उड़ाने का कोई अधिकार नहीं था।

(१०) इस त्रुटि को पूरा करने के लिए कबीर ने रामानन्द के शिष्य होने की बात सोची। परंतु रामानंन्द कदाचित् मुसलमान जुलाहे के इस बालक को दीक्षित करने के लिए तैयार नहीं होते। फलतः कबीर ने एक नया ढंग सोचा। इसके बाद की कथा तो सर्वप्रसिद्ध है। गंगा के घाट पर तड़के के झुटपुटे में कबीर के शरीर पर पैर पड़ने पर रामानन्द ने 'राम, राम' कहा और कबीर ने उसे गुरु-मंत्र मान लिया। इसके बाद उन्होंने रामानन्द के शिष्यत्व की घोषणा कर दी। इससे हिंदू बड़े असंतुष्ट हुए। रामानन्द से पूछने पर उन्होंने कबीर की दीक्षा की बात को अस्वीकार कर दिया, परन्तु जब कबीर ने उनके पास आकर रहस्य बताया तो रामानन्द इस तरुण की धर्मजिज्ञासा और तेजस्विता पर मुग्ध हो गये और उन्होंने उसे अपनी शिष्य-मंडली में ले लिया।

वास्तव में इस घटना-घटाटोप की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। रामानन्द के जीवन और उनके विचारों से जो परिचित हैं वह जानते हैं कि उनका द्वार प्रत्येक जिज्ञासु के लिए उन्मुक्त था। 'हरि को भजै सो हरि का होई'—जिस महावैष्णव का यह सिद्धांत था, उसके

शिष्यत्व के पद के लिए कदाचित् कबीर को इतना आडंबर रचना नहीं पड़ा होगा।

जनश्रुति है कि कबीर रामानन्द के शिष्यों में सबसे तेजस्वी थे। एक दिन रामानन्द ने अपने मृत गुरु का श्राद्ध करना चाहा और अपने शिष्यों को दूध लेने के लिए भेजा। एक शिष्य ने लौट कर कहा— कबीर तो बूचड़-खाने के हड्डी के ढेर के पास खड़े हैं। कह रहे हैं, हमारे गुरु के लिए दूध दो। कबीर से पूछा गया तो उन्होंने कहा— भला मृत पुरुष के लिए जीवित गायों का दूध लाकर क्या करता! श्राद्ध के लिए तो ऐसी गायों का दूध ही भला, जो परलोक पहुँच गई हों। और भी अनेक किंबदंतियाँ हैं। इन सब किंबदंतियों से कबीर के तेजस्वी व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा पर प्रकाश अवश्य पड़ता है।

(११) इसके बाद भी कबीर अपने माता-पिता के साथ रहकर अपना जुलाहे का व्यवसाय करते रहे। वह साधु-संन्यासियों का आदर-सत्कार भी करते और कभी-कभी इसके लिए उन्हें माता और पत्नी का उलाहना भी सहना पड़ता। 'आदिग्रन्थ' के अनेक पद इन जनश्रुतियों का समर्थन करते हैं। यह भी कहा जाता है कि लोगों ने कबीर से ताना-बुनना छोड़ने का आग्रह किया, परन्तु कबीर के उत्तरों ने उन्हें चुप कर दिया।

(१२) एक मुसलमानी जनश्रुति के अनुसार कबीर की पत्नी का नाम 'लोई' है। कबीर-पंथी तो लोई को कबीर की पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं करते। वे उसे उनकी शिष्या मात्र और वनखंडी नामक बैरागी की पोष्य पुत्री बतलाते हैं। 'लोई' के संबंध में अनेक प्रकार की जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं और लोई-संबंधी कबीर के कुछ पदों को इनकी पुष्टि के लिए उपस्थित किया जाता है।

(१३) कबीर के दो सन्तानों कमाल और कमाली के सम्बन्ध में भी कई जनश्रुतियाँ चल रही हैं। उन्होंने इन्हें पुनर्जीवित करके अपना शिष्य मात्र बनाया। एक जनश्रुति कमाली को शेख तकी की पुत्री बताती

आचार्य द्विवेदी के नाम कुछ पत्र

श्री

मीरजापुर

६-३-०६

माननीय महोदय,

चरणकमलेषु !

आपका कृपाकार्ड यथा समय पहुँचा, धन्यवाद है। मैं काशी गया था, आने पर आपका पत्र हस्तगत हुआ, इसी से यथा समय उत्तर न दे सका, आशा है कि आप क्षमा करेंगे। आज पत्र के साथ 'कुंभ में छोटी बहू' नाम का एक गल्प फिर भेजता हूँ। इस गल्प को लिखने के हेतु गिर्जा बाबू ने लेखिका को पत्र द्वारा आदेश किया था। पर खेद है कि यथा समय आपके सेवा में न पहुँच सका कारण, यह कि पहले की लिखी कापी खो गई, दूसरी बार फिर लिखा गया, पर मेरे काशी में रहने के कारण फेयर न हो सका, जिससे और भी विलम्ब हुआ। अब मैं आपकी सेवा में साफ करके भेजता हूँ। मैं समझता हूँ कि अभी यह गल्प ऐसा पुराना न होगा, यदि आप इसे किसी आगामी संख्या में शीघ्र दे देने की जो कृपा करेंगे तो आपकी इच्छा जहाँ से हो काट छाँट कर ठीक कर लेवें, पर बिचारे ब्राह्मण देवता की हत्या न करेंगे। उसे जीवन देने की कृपा करेंगे। आशा है पूर्व दोनों गल्प आपने पाठ कर लिया होगा, कृपा कर अब उस पर अपना विचार प्रगट कर दीजिये। अन्य रचनाएँ भी साफ करके शीघ्र भेजता हूँ। मेरे भ्रष्ट लिपि में जो कुछ त्रुटियाँ रह गई हों लेख में उसे ठीक करके मुझे आप यथोचित द्रव्य प्रदान करने की कृपा करेंगे, जिसे प्राप्त करके बहुत-बहुत अनुगृहीत होऊँगा।

बंगमहिला जी आपका पवित्र स्नेह सूचक (कालिदास के) शब्दों में आशीर्वाद पाके अति आनन्दिता हुई हैं। बदले में 'सादर भक्ति पूर्वक आपके पूज्य चरणों में अनेकानेक प्रणाम,' कहा है।

आत्माराम जी की अच्छी सत्कार हुई, वह इसी का पात्र है। आपका लेख देख कर, आपके अनेक काशीवासी मित्रों ने प्रसन्नता प्रगट की। पर मुझे आपका व्याकरण विषयक लेख देख कर बड़ा ही दुःख हुआ, कि आपने अप्राप्त स्वर्गीय कुसुम को चुन करके पंजाबियों के गन्दे शरीर पर चढ़ा दिया। यदि मैं इस धृष्टता

के लिए क्षमा किया जाऊँ, तो कह सकता हूँ, कि उस समय मुझे बिहारी का यही दोहा—'अरे गंधी मतिमन्द तू अतर दिखावत काहि' स्मरण हो आया। आत्माराम का उत्तर देना आप ऐसे सभ्य पुरुषों का काम नहीं है। उसके साथ 'शठम् प्रति शठम्, का व्योहार कर देने वाला पैदा हो गया है। आप चुपचाप तमाशा देखिए। इति

आपका स्नेहाकांक्षी
पाठक

पुन:—भारत-मित्र ने प० प्रतापनारायण की जीवनी देना प्रारंभ किया है, आप यदि अनुचित न समझें तो एक नोट में उल्लेख कर देवें कि 'सरस्वती' में सूचना देखकर, हमारे लेख को रद्दी करने के लिए चाल चला है।

पाठक *

*

नायकनगला
पो० चान्दपुर
जि० बिजनौर
२३-२-०६

श्रीमत्सु सादर प्रणामा:

श्रीमान् का २—२ का कार्ड यथा समय मिल गया था। रीडर्स भी मिल गई, तदर्थ अनेक धन्यवाद। रीडर्स को जिन-जिन महाशयों ने देखा है, पसन्द किया है, और सम्मति दी है कि ये छप जांय तो सर्वसाधारण में इनका प्रचार अवश्य हो।

'आत्माराम की टें टें' तथा अन्य सब वे लेख जो वेंक्टेश्वर और भारतमित्र के उत्तर में लिखे गये हैं, अफसोस है, मुझे देखने को नहीं मिले, आपके पास तो शायद ये सब अखबार पहुँचते होंगे।

---

*[यह पत्र पं० केदारनाथ पाठक का लिखा हुआ है। पाठक जी अपने समय में विद्वानों के विशेष स्नेहभाजन तथा अन्तरंग थे। ये आर्य भाषा पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष भी थे। इनकी एक कृति बोप देव का जीवन चरित नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इन्हें 'चलता-फिरता पुस्तकालय' कहते थे। सन् १९३९ के आस-पास इनका तिरोधान हुआ।]

भारतमित्र का इरादा अपने लेखों को पुस्तकाकार छपवाने का है, यदि वह ऐसा करे तो उसके उत्तर में जो कुछ लिखा गया है वह भी पुस्तकाकार अवश्य छपना चाहिए। 'अनस्थिरता' के साधुत्व में संस्कृत चन्द्रिका के सम्पादक और पं० भीमसेन जी का जो समाधान उत्तर में उसे प्रकाशित क्यों न कर दिया जाय।

शायद आपको मालूम होगा कि होली के मौके पर हरद्वार के समीप गुरुकुल कांगड़ी का उत्सव हुआ करता है, उत्सव क्या एक अच्छा मेला होता है, उसमें दूर-दूर से अच्छे-अच्छे आदमी इकट्ठे होते हैं, यदि इस अवसर पर आप भी वहां पधारें तो अच्छा हो, इस बहाने से आपके दर्शन ही हो जायेंगे, आपका परिचय भी बहुत से महाशयों से हो जायगा, वह स्थान भी बड़ा रम्य है, फिर वसन्त ऋतु है—'वसन्ते भ्रमणंपथ्यम्' यदि अवकाश हो तो जरूर पधारिए। अगर सलाह हो तो वहाँ से निमंत्रण भिजवाया जाय?

'भाषा और व्याकरण' की ताईद में किस-किसने लेख लिखे हैं? सरस्वती में इस विषय पर कुछ लिखा जायगा कि नहीं?

वशंवद
पद्मसिंह

ता० १ मार्च
नं० ६५ क्रास स्ट्रीट,
कलकत्ता।

प्यारे मधुकर,

परसों तुम्हारी पत्रिका मिल चुकी थी, पुनः आज उसकी प्रतिलिपि वंगवासी संपादक ने दी। मैं इधर दो दिनों से अपने किसी अतिप्रिय परिजन की पीड़ा के कारण विशेष व्यग्र और चिन्तित था इसलिये समय पर पत्रोत्तर न देने का अपराध क्षम्य है। भगवान की कृपा से आज उनकी पीड़ा कुछ शान्त है। इसलिये आपके कृपापत्र की पहुँच लिखने का समय मिला है।

उपवन और पुष्पवाटिका की शोभा ही भ्रमर से है। विशेषतः ऋतुराज के राज में आम खास के बौराने पर इस गुणाकर भ्रमर का सुमधुर क्यों न विशेष प्रीतिप्रद हो ? सहकार तुम्हारा ही है, ईश्वर तुम्हें चिरंजीव रखे, सदा प्रसन्न रहो। विशेष समाचार दूसरे पत्र में यथावकाश लिखने की इच्छा है। समाचार पत्रों में लिखने से मैंने बहुत दिनों से हाथ खींच लिया हुआ है। दुष्टों के आक्रमण और तुम पर घोर अन्याय करने पर भी सबको मौनावलम्बी देखकर विद्यार्थी से 'डिक्टेट' कराके 'आत्माराम की टें टें' वंगवासी में प्रकाशित करानी ही पड़ी। नाम प्रकाश करने की इच्छा मेरी नहीं है, इससे प्यारे मधुकर तुम भी कृपा पूर्वक वंगवासी के लेख के विषय में मेरा नाम गुम ही रहने देना। अवश्य, व्याकरण के विषय में जिन बातों को उस लेख में देखना, विशेष ध्यान से विचार कर उनका कुछ फल परिणाम में ही उसका प्रयत्न करते रहना। महारथी तो बहुत से बन आते हैं परन्तु हिन्दी का ज्ञान इस समय के लेखकों में अधिकांश को नहीं है। स्थिर होने पर बहुत सी बातें लिखूँगा। कुशल पत्र बराबर भेजना।

अभिन्नहृदय,
गोविन्द नारायण मिश्र

*

महल्ला सदावर्ती
आजमगढ़
६-१-०६

समादरणीय पंडित जी !

प्रणाम,

आज 'अधखिलाफूल' की एक प्रति सेवा में जाती है। आशा है आप कृपया स्वीकार कीजियेगा। श्रीयुत मित्रवर पं० बदरी नारायण चौधरी के सन्मुख 'पवन' के लिंग के विषय में आप से मेरी कुछ बातचीत हुई थी, मैं उस समय आपसे परिचित भी न था, तथापि आपने सौजन्य प्रकाश किया था, उसी सूत्र से मैं इतना निवेदन किये देता हूँ कि 'पवन' के लिंग विषय में आप उक्त ग्रंथ की भूमिका के पृष्ठ ३१ की कतिपय अंतिम और पृष्ठ ३२ की कतिपय आदिम पंक्तियों का अवलोकन कीजियेगा, यों तो आशा है कि आप संपूर्ण भूमिका को पढ़ेंगे ही।

मेरी यह भी प्रार्थना है कि आप ग्रन्थ की समालोचना स्वाधीन भाव से कीजियेगा किसी प्रकार संकुचित न हूजियेगा। मैं स्पष्ट वक्ता को हृदय से प्यार करता हूँ। दूसरे चाहे उसको वक्र दृष्टि से भले ही देखते हों। यद्यपि भारत-मित्र का संपादक छुद्र हृदय है, व्यक्तिगत आक्रमण और व्यर्थ वागाडम्बर में ही उसके पांडित्य की इतिश्री होती है, तथापि आशा है कि आप उसकी वृहत समालोचना से क्षुब्ध न होते होंगे क्योंकि वह सच्चा मित्र है जो हमारे दोषों से अभिज्ञ करे।

मैं 'मयंक नवक' नाम की एक कविता भी सेवा में भेजता हूँ यदि प्रिय हो सरस्वती में स्थान प्रदान कीजियेगा, किन्तु कृपया काट छाँट न कीजियेगा, यदि काटछाँट की आवश्यकता मालूम होवे तो अप्रकाशित ही रहने दीजियेगा। मैं इसी को आपका परम अनुग्रह समझूँगा। मैंने 'दिनेश दशक, इत्यादि और भी इस प्रकार की कवितायें लिखी हैं—'मयंकनवक' के सरस्वती में स्थान पाने पर औरों को भी सेवा में भेजने की चेष्टा करूँगा। मैंने 'मयंक नवक' को शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में नहीं लिखा है। बरन ३० मात्रा के एक कल्पित छन्द में यह कविता लिखी गयी है, जिसमें १८ मात्रा एवम् १२ मात्रा पर विराम है, और इसलिये मैंने उसका नाम अभिमत छन्द लिखा है। वर्णात्मक छन्द से मात्रात्मक छन्द में स्वतंत्रता बहुत रहती है, क्योंकि सूर्बा पर लघु दीर्घ के झगड़े से इसमें छुटकारा रहता है। और इसलिये मैंने ऐसी चापल्यता की है—उर्दू भाषा के समस्त छन्द मात्रिक हैं, इस कारण कविता करने में उस भाषा में बहुत कुछ सुविधा है।

हमारे हिन्दी भाषा के वर्तमान संचालकों को नूतनता से बहुत कुछ विरोध है—अतएव संभव है कि कविता प्रकाश होने पर कुछ हरकत का झगड़ा भी फैले परन्तु कृपानिधान हम तो इस पर तुले बैठे हैं कि 'यथेच्छाभवेत्ते तथा मांकुरुत्वम्'।

विनयावनत्

अयोध्या सिंह उपाध्याय

डा० श्यामसुन्दर दास

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी

•

अवध-प्रांत के अन्तर्गत जिला रायबरेली में दौलतपुर नाम का एक गाँव है। दौलतपुर में हनुमंत द्विवेदी नाम के एक प्रसिद्ध पण्डित हो गए हैं। इनके दुर्गाप्रसाद, रामसहाय और रामजन ये तीन पुत्र थे। रामजन तो बाल्यावस्था में ही मर गए। दुर्गाप्रसाद गौरा के तालुकेदार के यहाँ नौकर थे। उनमें एक गुण बड़ा विलक्षण था कि वे तरह-तरह के नए-नए बड़े ही मनोरंजक किस्से बना कर कहा करते थे। तीसरे रामसहाय फौज में नौकर थे। सिपाही विद्रोह के पीछे वे फौजी नौकरी छोड़ कर बम्बई में गोस्वामी चिमनलाल और फिर नृसिंहलाल के यहाँ नौकर हो गए थे। वे बड़े भगवद्भक्त थे। और महावीर जी का इष्ट रखते थे। उनके एक कन्या और एक पुत्र—दो सन्तान हुए।

रामसहाय के पुत्र का जन्म संवत् १९२१ बैशाख शुक्ल ४ को हुआ और उसका नाम महावीर प्रसाद रखा गया। महावीर प्रसाद के जन्म के आध घण्टे बाद, जात कर्म होने के पहले पण्डित, सूर्यप्रसाद द्विवेदी नामक एक ज्योतिर्विद् ने उनकी जिह्वा पर सरस्वती का बीजमंत्र लिखा। गाँव के मदरसे में इन्होंने हिन्दी और उर्दू पढ़ी और घर पर अपने चाचा पण्डित दुर्गाप्रसाद के प्रबन्ध से इन्होंने थोड़ा-सा संस्कृत-व्याकरण, दुर्गा सप्तशती, विष्णु सहस्त्रनाम, शीघ्रबोध और मुहूर्त चिंतामणि आदि पुस्तकें कण्ठ की। देहाती मदरसे की शिक्षा समाप्त होने पर ये ३२ मील दूर रायबरेली के हाई स्कूल में अंग्रेजी पढ़ने के लिए भेजे गए। उस समय इनकी अवस्था केवल १३ वर्ष की थी। अंग्रेजी के साथ इनकी दूसरी भाषा फारसी हुई, क्योंकि उस स्कूल में संस्कृत पढ़ाई ही नहीं जाती थी।

दौलतपुर से रायबरेली बहुत दूर पड़ती थी इसलिए वहाँ से चले आ कर इन्होंने जिला उन्नाव के पुरवा कस्बे में एंग्लो वर्नाक्यूलर टाउन स्कूल में नाम लिखाया। पर कुछ दिनों पीछे वह स्कूल टूट गया। तब ये फतहपुर के स्कूल में गए और वहाँ से उन्नाव। उन्नाव से ये अपने पिता के पास बम्बई चले गए। बम्बई में इन्होंने मराठी और गुजराती सीखी। संस्कृत और अंग्रेजी का कुछ

इस ग्रंथ में हमें कबीर के निर्देश के साथ उनकी समकालीन किसी भी घटना का विवरण नहीं मिलता। नानक के उद्धरण में यह अवश्य संकेत है कि कबीर ने 'पुरे गुर' से 'गति पाई' थी। 'पूरे गुर' से क्या हम श्री रामानंद का संकेत पा सकते हैं? डा० मोहनसिंह ने 'पुरे गुर' से 'ब्रह्म' का अर्थ लगाया है[1]। यह अर्थ चिंत्य भी हो सकता है।

संवत् १७०२ (सन् १६५५) में प्रियादास द्वारा लिखी गई नाभादास के भक्तमाल की टीका में कबीर का जीवन-वृत्त विस्तारपूर्वक दिया गया है।

भक्तमाल की टीका

इस टीका से यह स्पष्ट होता है कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे।[2] और सिकंदर लोदी ने कबीर के स्वतंत्र और 'अधार्मिक' विचार सुनकर उन पर मनमाने अत्याचार किए। इस टीका में भक्तमाल की इस बात का भी समर्थन किया गया है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे और यह समर्थन कबीर के जीवन का विवरण देते हुए कबीर संबंधी छप्पय की व्याख्या में दिया गया है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दबिस्तान का लेखक मोहसिन फ़ानी (मृत्यु हिजरी १०८१; सन् १६७०) भी कबीर को रामानंद का शिष्य बतलाते हुए लिखता है :—"जन्म से जुलाहे कबीर, जो ब्रह्मैक्य में विश्वास रखने वाले हिंदुओं में मान्य थे, एक बैरागी थे। कहते हैं कि जब कबीर आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक की खोज में थे, वे अच्छे अच्छे हिंदू और मुसलमानों के पास गए किंतु उन्हें कोई इच्छित व्यक्ति नहीं मिला। अंत में किसी ने उन्हें प्रतिभाशील वृद्ध ब्राह्मण रामानंद की सेवा में जाने का निर्देश किया।"

उपर्युक्त ग्रंथों से कबीर के जीवन की दो विशेष घटनाओं का पता हमें लगता है कि (१) वे रामानंद के शिष्य थे और (२) वे सिकंदर लोदी के समकालीन थे। यदि हम इन दोनों घटनाओं का समय निर्धारित कर सकें तो हमें कबीर का आविर्भाव-काल ज्ञात हो सकेगा। यह संभव हो सकता है कि प्रियादास की टीका और मोहसिन फ़ानी का दबिस्तान जो सत्रहवीं

[1] By one Perfect Guru is meant God, the Lord.

Kabir—His Biography, page 23

[2] देखि कै प्रभाव फेरि उपज्यो अभाव द्विज आयो पातसाह सो सिकंदर सुनांव है। भक्तमाल, पृष्ठ ४६६

जी की प्रतिष्ठा भी हिन्दी लेखकों में बढ़ी।

द्विवेदी जी ने जो योग्यता प्राप्त की थी वह सब अपने ही परिश्रम का फल था। एक पुरुष अपने ही बल से, उद्योग से कहाँ तक विद्वत्ता प्राप्त कर साहित्य-सेवा कर सकता है इसके आप आदर्श हैं। रेलवे के काम में रहकर भी विद्याध्ययन बनाए रखना आपकी दृढ़ प्रकृति का परिचय देता है।

द्विवेदी जी हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं के कवि थे। नई तरह की हिन्दी कविता जो आज-कल सामयिक पत्रों और पुस्तकों में देखी जाती है उसके आप पूर्ण पक्षपाती थे। आपकी कुछ कविताएँ "काव्य मंजूषा" नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई हैं। "कुमारसम्भवसार" आपकी कवित्वशक्ति का अच्छा नमूना है।

द्विवेदी जी समालोचक भी थे। आपकी "नैषधचरितचर्चा" "विक्रमांक देव चरित चर्चा", "कालिदास की निरंकुशता", "हिन्दी कालिदास की समालोचना" आदि पुस्तकें इसका प्रमाण हैं।

जब से द्विवेदी जी ने नौकरी छोड़ी थी तब से प्रति वर्ष आप एक न एक नई और उपयोगी पुस्तक लिखते थे। जान स्टुअर्ट मिल की "लिबर्टी" नामक पुस्तक का जो अनुवाद आपने किया है वह "स्वाधीनता" नाम से प्रसिद्ध है। उसके दो संस्करण हो चुके हैं। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेंसर की "एजुकेशन" नामक पुस्तक का भी अनुवाद आपने किया है। इसका नाम "शिक्षा" है। आपकी तीसरी पुस्तक "सम्पत्ति-शास्त्र" है। हिन्दी भाषा में यह पुस्तक अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त आपने महाभारत, रघुवंश आदि कई अच्छे ग्रंथ लिखे हैं। इन पुस्तकों के पहले द्विवेदी जी ने "बेकन विचार रत्नावली" नामक पुस्तक द्वारा लार्ड बेकन के मुख्य-मुख्य निबंधों का अनुवाद भी प्रकाशित किया है।

द्विवेदी जी बहुत दिनों तक काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के साधारण सभासद रहे थे। पीछे वे उसके ऑनरेरी सभासद थे। सभा के लिये आपने वैज्ञानिक कोश में प्रकाशित करने के लिए दार्शनिक परिभाषा लिखकर सभा की बहुत सहायता की थी।

द्विवेदी जी बड़े परिश्रमी थे। लिखने-पढ़ने में आप अपना सारा समय बिताते थे। अधिक परिश्रम के कारण आप प्रायः अस्वस्थ रहते थे। इनके 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके सब ग्रंथों की सूची आगे लिखी है—

अद्भुत अलाप, आख्यायिकासप्तक, आध्यात्मिकी, आलोचनांजलि, कविता-कलाप, कालिदास की निरंकुशता, किरातार्जुनीय की टीका, कुमारसंभव की टीका, कुमारसंभवसार, कोविदकीर्त्तन, चरितचर्या, जलचिकित्सा, नाट्य-शास्त्र, नैषधचरितचर्चा, प्राचीन चिह्न, प्राचीन पण्डित और कवि, पुरातत्वप्रसंग, मेघदूत की टीका, रघुवंश की टीका, रसज्ञरंजन, लेखांजलि, वनिताविलास, वाग्विलास,

विक्रमांकदेव चरितचर्चा, विचार विमर्श, विदेशी विद्वान, विज्ञान वार्ता, वेणी संहार नाटक, वैचित्र-चित्रण, शिक्षा, संकलन, सम्पत्तिशास्त्र, साहित्यसंदर्भ, साहित्य-सीकर, स्वाधीनता, सुकविसंकीर्तन, सुमन, हिन्दी भाषा की उन्नत्ति, हिन्दी महाभारत, काव्यमंजूषा, हिन्दी कालिदास की समालोचना, बेकन विचार-रत्नावली कालिदास और उनकी कविता।

द्विवेदी जी की आदि रचनाओं को देखने से यह विदित होता है कि वे बड़ी ही शिथिल और असंस्कृत भाषा में लिखी गई हैं। और उनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भी हैं। बेकन विचार-रत्नावली में तो उन्होंने कठिन संस्कृत शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है। स्वाधीनता, शिक्षा और संपत्तिशास्त्र के अनुवादों में उनकी विचित्र रुचि का पता चलता है। एक संस्कृत शब्द देकर वे उसका पर्याय फारसी का देते गए हैं। उनकी भाषा का परिमार्जन और संस्कार उनके 'सरस्वती' के सम्पादक होने के कुछ पूर्व तथा नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में उनके प्रकाशित लेखों से होता है। इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष ने उनसे यह कह दिया था कि वे बहुत सीधीसादी हिन्दी में 'सरस्वती' में लेख देंगे। इस प्रतिज्ञा का यह प्रभाव पड़ा कि वे सतर्क हो कर लिखने लगे और हिन्दी के परिमार्जित तथा सुसंस्कृत रूप के घोर समर्थक हुए। इसके लिए उनकी कटु समा-लोचना करना भी एक प्रकार से आवश्यक हो गया। जिस ध्येय को लेकर वे हिन्दी के मैदान में उतरे उसमें सफलता पाने के लिए कुछ पांडित्य, कुछ अभिमान और कुछ अहमन्यता का संमिश्रण आवश्यक था। प्रतिद्वन्द्वी का सामना करने में वे अविचल भाव से मैदान में उतर पड़ते थे। सारांश यह कि उनके उद्योग से हिन्दी-गद्य का मार्ग, जो अब तक रोड़ों से भरा हुआ था बहुत कुछ साफ हो गया, और हिन्दी का रूप स्थिर हो गया। खड़ी-बोली की कविता के प्रसार में भी उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। कुछ कविताएँ आप लिखी और बहुत से कवि तैयार किये। सच बात तो यह है कि द्विवेदी जी आधुनिक हिन्दी के निर्माताओं में प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। निर्माण का जितना कौशल उन्होंने सफलतापूर्वक दिखाया उतना आचार्यत्व वे न दिखा सके। उनकी शैली सीधी-सादी थी। उसमें कोई विशेषता न थी। उनकी भाषा का सच्चा रूप उनके कानपुर के साहित्य-सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष के अभिभाषण में ही देख पड़ता है। वे हिन्दी साहित्य को कोई स्थायी देन न दे सके। नाट्यशास्त्र पर उनकी पुस्तिका में कोई विशेषता नहीं। वैसे ही हिन्दी भाषा का इतिहास भी डाक्टर ग्रियर्सन के लेख का सारांश भाग है। सारांश यह कि हिन्दी के संस्कार के सम्बन्ध में उनका सफल प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य है, पर हिन्दी-साहित्य के भंडार की पूर्ति उनके द्वारा नगण्य-सी है।

द्विवेदी जी सब काम बड़ी व्यवस्था से करते थे और व्यवहार में बड़े पटु थे।

लोदी का नाम नहीं है। परची आदि ग्रंथों में सिकंदर लोदी ने जो जो अत्याचार किए थे, उनमें उपर्युक्त दोनों घटनाएँ सम्मिलित हैं। अतः यहाँ पर इन दोनों घटनाओं को सिकंदर लोदी के अत्याचारों के अतर्गत मानने में अनुमान किया जा सकता है।

'आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरु' और 'गंगा की लहरि मेरी टूटी जजीर' जैसी पक्तियों से ज्ञात होता है कि कबीर ने अपने अनुभवों का वर्णन स्वयं ही किया है। यदि ये पद प्रामाणिक समझे जायँ तो कबीर सिकदर लोदी के समकालीन माने जा सकते हैं।

कबीर और सिकदर लोदी का समय

कबीर और सिकदर लोदी के समय के संबंध में भारतीय इतिहासकारों ने जो तिथियाँ दी हैं, उनका उल्लेख इस स्थान पर आवश्यक है। वह इस प्रकार है :—

इतिहासकार का नाम	ग्रंथ	कबीर का समय	सिकंदर लोदी का समय
१ बील	ओरिएंटल बायोग्रैफिकल डिक्शनरी	जन्म सन् १४९० (संवत् १५४७)	यही समय
२ फ़रक़ुहार	आउट लाइन अव् दि रिलीजस लिटरेचर अव् इडिया	सन् १४००-१५१८ (संवत् १४५७-१५७५)	सन् १४८९-१५१७ (सवत् १५४६-१५७४)
३ हंटर	इंडियन एम्पायर	सन् १३००-१४२० (संवत् १३५७-१४७७)	नहीं दिया।
४ ब्रिग्स	हिस्ट्री अव् दि राइज़ अव् दि मोहमडन पावर इन इंडिया	नहीं दिया।	सन् १४८८-१५१७ (संवत् १५४५-१५७४)

श्री रामदास गौड़

हिन्दी साहित्य पर द्विवेदी जी का प्रभाव

विगत तीस वर्षों के हिन्दी साहित्य का इतिहास श्रद्धेय पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी की कीर्ति कौमुदी से ही आलोकित है। इस इतिहास-मंदिर की दीवारें जिस नींव पर खड़ी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्हीं की साहित्य सेवा है। स्वर्गीय पंडित नाथूराम शंकर शर्मा ने जिस "सरस्वती की महावीरता" का गुणगान किया था उसे हटा दीजिए तो पहले पन्द्रह वर्षों का इतिहास तो शून्य मात्र रह जाता है। और पिछले पन्द्रह वर्ष का बिल्कुल लचर। जिस समय पंडित जी ने 'सरस्वती' की सेवा अपने हाथ में ली थी, उस समय की दशा का थोड़ा-सा सिंहावलोकन कीजिए। कलकत्ते से 'भारत-मित्र' 'हिन्दी बंगवासी' 'हितवार्त्ता' बम्बई से 'वेंकटेश्वर समाचार' पटने से 'बिहार बन्धु,' बनारस से 'भारत जीवन' यही प्रमुख साप्ताहिक थे। 'अत्र भवान सदा समर विजयी' राजा रामपाल सिंह का काला कांकरवाला 'हिन्दोस्थान' एकमात्र दैनिक था। भट्टजी का 'हिन्दी प्रदीप' प्रयाग से, और 'छत्तीसगढ़मित्र' बिलासपुर से साहित्यिक मासिक पत्रों के नाते निकलते थे। साम्प्रदायिक पत्रों की चर्चा व्यर्थ है। 'छत्तीसगढ़मित्र' तो उसी साल बन्द भी हो गया। पंडित माधव प्रसाद मिश्र का 'सुदर्शन' और पंडित प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण' दोनों अच्छे पत्र थे, परन्तु कभी के बन्द हो चुके थे। समस्या पूर्तियों की कई पत्रिकाएँ निकल पड़ी थीं, जिनमें कि 'रसवाटिका' के सिवा, जो राय देवी प्रसाद पूर्ण के तत्वावधान में कानपुर से निकली थी, सभी निकम्मी पूर्तियों से भरी जाती थीं। उन दिनों उर्दू की पुस्तकें ज्यादा छपती और बिकती थीं। और हिन्दी की बहुत कम। इसलिए अच्छी पुस्तकें तो अभागी हिन्दी को अलंकृत करने पाती ही न थीं। उसके दो वर्ष बाद की बात है कि मैंने प्रसिद्ध सुधारक और प्राच्य विद्याओं के विद्वान स्वर्गीय रायबहादुर लाला बैजनाथ से पूछा—"आप अच्छी हिन्दी लिखने में पूर्ण समर्थ होते हुए भी उर्दू में क्यों लिखते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"हिन्दी की पुस्तकों की कोई बात नहीं पूछता। विधवा-विवाह पर मेरी लिखी हिन्दी की पुस्तक की छपी प्रतियाँ आज तक मेरे पास पड़ी हैं, और उर्दू वाली का दूसरा संस्करण निकल चुका है।"

झमेले इसमें बाधक होते हैं। अतः कबीर इस विषय में मौन नहीं रहना चाहते।[६]

कबीर पढ़े-लिखे नहीं हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—'बिदिया न परउ बादु नहीं जानउ' (रागु बिलावलु, २)। कबीर की जाति-गत और परिवार-गत परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी हैं जिनसे इसके अतिरिक्त और कोई संभावना नहीं हो सकती। फिर भी वह पढ़ने-लिखने के महत्व को जानते हैं। वह कहते हैं: मैंने जाना है कि पढ़ना भला है, परन्तु पढ़ने से योग भला और योग से भक्ति। भले ही उसके लिए लोग मेरी निंदा करें।[७] कबीर अध्यात्म-ज्ञान के इच्छुक थे, शास्त्रज्ञान के नहीं और आजीवन उन्होंने अपने हृदय और मन को खुला रखा। वह षट्दर्शन और चौरासी सिद्धों की ज्ञान-वार्ता को नाशवान बतलाते हैं।[८]

---

६ भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै॥
हउ मांगउ संतन रेना। मैं नाहीं किसी का देना॥
माधो कैसी बनै तुम संगे। आपि न देहु लेवउ मंगे॥
दुइ सेर मांगउ चूना। पाउ घीउ संगि लूना॥
अधसेरु मांगउ दाले। मोकउ दोनउ वखत जिवाले॥
खाट मांगउ चउपाई। सिरहाना अवर तुलाई॥
ऊपर कउ मागउ खीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा॥
मैं नाही कीता लबो। इकु नाउ तेरा मैं फबो॥
कहि कबीर मनु मानिआ। मनु मानिआ तउ हरि जानिआ॥
(रागु सोरठि, ११)

७ कबीर मैं जानिओ पड़िबो भलो पड़िबे सिउ भल जोगु।
भगति न छाड़उ राम की भावै निंदउ लोगु॥
(सलोकु, ४५)

८ षटदरसन संसै परे औ चउरासी सिध

लेख नहीं है, सभी आपकी ही कलम से हैं। बात यह न थी कि लेखों का कोई संग्रह न था। नहीं, संगृहीत लेखों में आपकी पसन्द के लेख न थे। जो थे भी, उनमें इतने संशोधनों की आवश्यकता थी कि पूरा संशोधन होने पर 'सारा मजमून रुखसत' हो जाता। उस समय चौथा ही साल था और शायद ग्राहक-संख्या बहुत गिर गई थी। हालत डावाँडोल थी। स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष के साहस और हौसले ने तथा द्विवेदीजी की विद्वत्ता, परिश्रम, संपादन-कला और कलम के जोर ने उसे संभाल लिया, नहीं तो इधर तीस बरसों का हिन्दी-साहित्य का इतिहास किसी और ढँग पर लिखा जाता। फिर 'सरस्वती' की दूसरी-तीसरी संयुक्त संख्या में आपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नाम का अपना एक बड़े महत्व का लेख दिया है। इसके अंत में आपने उस समय के विश्वविद्यालय के पदवीधरों को कड़ा उलाहना दिया है और पूज्यवर पं० मदनमोहन मालवीय जी को भी नहीं छोड़ा है। उनसे प्रेमपूर्वक विनय किया है कि 'आप स्वयं हिन्दी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिन्दी को ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।' आपका यह उलाहना बड़ा जोरदार है। इसी के प्रभाव से आपके पास कुछ अच्छे लेख भी आने लगे। आपके उद्योग और अध्यवसाय से अनेक छिपे रुस्तम निकल पड़े। बेहिम्मतवालों को हिम्मत हो गई। उस समय के अच्छे अच्छे लेखकों ने 'सरस्वती' को लेख देना आरम्भ किया। श्री राधाकृष्ण दास, पं० श्रीधर पाठक, डा० महेन्दुलाल गर्ग, पं० राधाचरण गोस्वामी, श्री शिवचन्द्र जी भरतिया, पं० गौरीदत्त जी वाजपेयी, रायदेवी प्रसाद जी पूर्ण, पं० जनार्दन जी झा, पुरोहित गोपीनाथजी, पं० माधवराव जी सप्रे, पं० गंगाप्रसाद जी अग्निहोत्री, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० शुकदेव प्रसाद तिवारी, मुंशी देवी प्रसाद मुंसिफ, पं० रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमन्त सिंह प्रभृत उस समय के लेखक और कवि 'सरस्वती' को अपने लेख-रत्नों से आभूषित करने लगे। नई पीढ़ी के लेखकों और कवियों का भी इसी समय अभ्युदय और प्रोत्साहन हुआ। मेरे सहाध्यायी लोकमणि और वागीश्वर मिश्र अच्छे और होनहार कवि थे। परन्तु दो तीन बरस के अन्दर ही वे दिवंगत हो गए। श्री गिरिजाकुमार घोष बंगाली थे; परन्तु पार्वतीनन्दन के नाम से उन्होंने जो कहानियां लिखी हैं, उन्हें पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि ये किसी बंगाली की लिखी हुई हैं। आधुनिक गल्प लेखन-कला का उन्हीं से आरम्भ समझना चाहिए। श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने विलायत से अपने लेख भेजने आरम्भ किए। श्री सत्यनारायण कविरत्न की कविताएँ 'सरस्वती' में चमकने लगीं। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की कविताएं भी निकलने लगीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० वेंकटेशनारायण तिवारी, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, पं० देवी प्रसाद शुक्ल, श्री ब्रजनन्दन सहाय, पं० लोचन प्रसाद, स्वामी सत्यदेव, श्री नरेन्द्र नारायण सिंह, लाला हरदयालु, पं० गिरधर

स्थापित किए गए बस्ती ज़िले के स्मारक (रौज़े) को मैं कबीर का मरण-चिह्न नहीं मानता। गुरु ग्रंथ साहब में उल्लिखित कबीर के प्रस्तुत पदों मे एक पद कबीर की जन्म-भूमि का उल्लेख करता है। उस पद के अनुसार कबीर की जन्म-भूमि मगहर में थी। रागु रामकली के तीसरे पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपति बुझाई।
पहिले दरसनु मगहर पाइओ, पुनि कासी बसे आई॥[1]

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि काशी में बसने के पूर्व कबीर मगहर में निवास करते थे। मगहर बस्ती के नैऋत्य (दक्षिण-पूर्व) में २७ मील दूर पर ख़लीलाबाद तहसील मे एक गाँव है। मैं तो समझता हूँ कि कबीर मगहर मे आमी नदी के दाहने तट पर ही निवास करते थे जहाँ बिजली ख़ाँ ने रौज़ा बनवाया है। बिजली ख़ाँ कबीर का बहुत बड़ा भक्त और अनुयायी था। जब उसने यह देखा कि मगहर के निवासी कबीर ने काशी मे जाकर अक्षय कीर्ति अर्जित की है तब उसने अपनी भक्ति और श्रद्धा के आवेश में कबीर के निवास-स्थान मगहर में स्मृति-चिह्न के रूप में एक चबूतरा या सिद्धपीठ बनवा दिया जो कालान्तर में नष्ट हो गया। जब ११७ वर्ष बाद सन् १५६७ मे नवाब फ़िदाई ख़ाँ ने उसकी मरम्मत की तो इस समय तक कबीर साहब का निधन हो जाने के कारण सन् १४५० ईस्वी मे बिजली ख़ाँ द्वारा बनवाए गए स्मृति चिह्न को लोगो ने या स्वय नवाब फ़िदाई ख़ाँ ने समाधि या रौज़ा मान लिया। तभी से मगहर का वह स्मृति-चिह्न रौज़े के रूप में जनता में प्रसिद्ध हो गया। इस दृष्टिकोण से सन् १४५० का समय बिजली ख़ाँ द्वारा चिह्नित कबीर की प्रसिद्धि काल ही है और वे १४५० के बाद जीवित रहकर सिकंदर लोदी के समकालीन रह सकते हैं। अब कबीर की जन्मतिथि के संबंध में विचार करना चाहिए।

कबीर ने अपनी रचनाओं में जयदेव और नामदेव का उल्लेख किया है—

[1] संत कबीर, पृष्ठ १७८।

एक लेखमाला निकाल दी। इसका बड़ा ही सुन्दर युक्ति-युक्त तथा विनोद पूर्ण उत्तर आपने 'सरस्वती' में दिया।[1] गुप्त जी के भट्ट विनोद का उत्तर वाला अंश तो 'कल्लू अल्हइत' ने पहले ही लिख दिया था।[2] इस विवाद से हिन्दी लेखकों का बड़ा उपकार हुआ। लेख शैली सुधर गई। लेखों में नियमों की स्थिरता आ गई। पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने भी 'आत्माराम की टेंटें' नाम की लेख-माला में द्विवेदी जी की अनेक बातों का समर्थन किया। आपने जो विवाद उठाया, उसका फल यह हुआ कि इसके बाद से हिन्दी के सभी लेखक अधिक सावधान हो गए। मुहावरों पर लोगों ने ध्यान देना शुरू किया। व्याकरण के शिकंजे में भाषा कसी जाने लगी। 'अनस्थिरता' और उश्रृङ्खलता बहुत घट गई। हिन्दी के पाठकों की रुचि को भी आपने धीरे-धीरे बढ़ाया। आपने आते ही 'सरस्वती' की भाषा को अधिक सरल और सुबोध बनाया। इतने पर भी पाँचवें भाग के 'सांवत्सरिक-सिंहावलोकन' में आप और अधिक सरलता चाहने वाले पाठकों को आश्वासन देते हैं। लेखों की भीड़ की भारी शिकायत से स्पष्ट प्रकट है कि आपको उनकी भाषा के संशोधन में कितना परिश्रम करना पड़ता था। आप लिखते हैं—"अतएव लेखों से सरस्वती की सहायता करने वाले सज्जनों से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखों को पहले की अपेक्षा अधिक लाभदायक और रोचक करने की कृपा करें।" इसी लेख में आपने 'अखिल प्रबन्धकर्त्ता' ग्रन्थकर्त्ताओं की खूब खबर ली है और उन्हें सावधान कर दिया है। आगे के वार्षिक सिंहावलोकनों में आपने लेखकों एवं पाठकों को अधिक गंभीर और ठोस लेखों में अभिरुचि बढ़ाने के लिए उत्साहित किया है। 'सरस्वती' भाषा की ओर जैसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुबोध और रोचक होती गई, वैसे ही विषय की ओर भी अधिक गंभीर और अधिकाधिक उपयोगी बनती गई। उसने जो नमूना हिन्दी-संसार को दिखाया, उसका जोरों के साथ अनुकरण किया गया। क्या विषय में, क्या भाषा में, क्या चित्रों में, क्या छपाई और सज-धज में, सभी अंगों में हिन्दी के सामयिक साहित्य-संसार में 'सरस्वती' आदर्श बन गई। उसके अनुकरण में आज अनेक सामयिक पत्र निकल रहे हैं और 'सरस्वती साइज' तो कागज की नाप पर ध्यान न देने वालों में डबल क्राउन अठपेजी का नाम पड़ गया है। आज चाहे 'सरस्वती' के उतने पढ़नेवाले न हों, परन्तु किसी समय जब 'सरस्वती' के टक्कर की पत्रिकाएँ नहीं निकली थीं, 'सरस्वती' का ग्राहक एक होता था तो उससे मंगनी मांगकर पढ़ने वाले दस से

---

(१) 'भाषा और व्याकरण'—सरस्वती, भाग ७, संख्या २, पृष्ठ-६०, फरवरी १९०६

(२) 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'—सरस्वती, भाग ७, संख्या-१, पृष्ठ ३८, जनवरी १९०६

कम नहीं होते थे। और पुस्तकालयों में तो कहना ही क्या है ! इस तरह पंडित जी के लेखों और विचारों का प्रचार 'सरस्वती' की ग्राहक-संख्या से दस गुने अधिक पाठकों में बराबर होता रहता था।

पूज्य द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य के प्रचार और प्रसार के किसी अंग को नहीं छोड़ा। अन्य भाषाओं के पत्रों में निकले हुए लेखों का स्वाद अपने पाठकों को चखाते हुए उनकी दाद देना और उचित प्रशंसा करना आपके संपादन की विशेषता थी। आपने पाठकों की जानकारी के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर दिया, अपने लेखकों को उनके विस्तार में सहायक होने को प्रोत्साहित किया, साथ ही कई लेखकों को आप और क्षेत्रों से लाने में भी समर्थ हुए। राय साहब छोटेलाल जी (बार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्योतिष वेदांग पर बड़े ही गवेषणापूर्ण लेख अंगरेजी के 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में छपे थे। लेख सचमुच बड़े महत्व के थे। आप उन्हें पढ़ कर लोट-पोट हो गए। 'बार्हस्पत्य' जी को एक स्वरचित सुन्दर संस्कृत पद्य में आशीर्वाद दिया। आपकी दाद और आशीर्वाद ने बार्हस्पत्य जी को 'सरस्वती' के लिये मोल ले लिया। फिर तो लिपियों पर बार्हस्पत्य जी की बड़ी ही गवेषणा-पूर्ण—परन्तु साथ ही अत्यन्त रोचक—लेख मालाएँ निकलीं। मैंने तो ऐसे रूखे-सूखे विषय का ऐसा मनमोहक रूप आज तक दूसरा नहीं देखा है। नागरी-लिपि के प्रचार और रोमन तथा कैथी लिपियों पर विचार के संबंध में भी आपने कम ध्यान नहीं दिया। संपादक की हैसियत से हिन्दी-हित के लिए आपकी कोशिशें चौमुखी थीं। जिस विषय की आपने समीक्षा की, उसका पूरा परिशीलन करके ही छोड़ा। आपकी समालोचना-विधि से प्रभावित यों तो हिन्दी-संसार ही हुआ, परन्तु कवि 'शंकर' ने तो अपनी अनुपम कविता द्वारा दो बार अच्छी दाद दी। एक बार उन्होंने समालोचना के लक्षण पर एक लंबी कविता लिखी। दूसरी बार उन्होंने 'सरस्वती की महावीरता' लिखी। इसे जनवरी १९०७ के अंक में द्विवेदी जी ने बड़ी मुश्किलों से प्रकाशित किया।

'सरस्वती' की उत्तरोत्तर वृद्धि से प्रभावित होकर और पत्रिकाएँ भी साहित्य-प्रांगण में आने लगीं। भागलपुर से 'कमला' निकली, पर कुछ दिनों चलकर बंद हो गई। प्रयाग से 'मर्य्यादा' निकली और कुछ दिनों तक चली। इसे लेखक भी अच्छे-अच्छे मिले। 'सरस्वती' के लेखों में गम्भीरता के साथ-साथ रोचकता का जो प्राचुर्य था, वह 'मर्य्यादा' में भी लाने की कोशिश की गई और उसे बहुत कुछ सफलता भी मिली। मेरठ वाली 'ललिता' ने तो बढ़कर 'सरस्वती' का मुकाबला करना चाहा। खंडवा से 'प्रभा' निकली और अच्छी निकली; परन्तु पूरे साल भर तक चलना कठिन हो गया। कई वर्षों पीछे वही 'प्रताप'-कार्यालय (कानपुर) से फिर निकली। परन्तु कई वर्ष चल कर धनाभाव से फिर बंद हो गई। हमारी काशी से 'इन्दु' भी सुन्दर प्रकाशित हुआ। उसकी सज-धज भी अच्छी थी, पर

वह भी कुछ बरसों के बाद अस्तंगत हो गया। जान पड़ता है, इन पत्रिकाओं में लेखों का संशोधन विशेष मनोयोग के साथ नहीं किया जाता था। किंतु 'सरस्वती' में संशोधन करके लेख छापते-छापते द्विवेदी जी ने सैकड़ों नवयुवकों को सुलेखक बना डाला। अब, 'अभ्युदय' और उसके बाद 'प्रताप' ने साप्ताहिक पत्रों का आदर्श उपस्थित किया। पंडित जी की छत्रच्छाया में ही 'प्रताप' का स्कूल जन्मा और फला-फूला। आत्मोत्सर्ग के सर्वोत्कृष्ट आदर्श श्री गणेश शंकर विद्यार्थी का पहला लेख जो सरस्वती में छपा था, 'आत्मोत्सर्ग' ही था। उस दिवंगत आत्मा का लेख आज भी पढ़ने से जान पड़ता है कि मानों आत्म-बलिदान का उदाहरण देने के पूर्व ही यह लेख लिखा होगा। 'प्रताप' का ढङ्ग सभी साप्ताहिकों से निराला निकला। उसकी शैली, उसका संपादन, उसकी गंभीरता, उसकी तेजस्विता, उसकी स्वतन्त्रता और निर्भीकता जिस मस्तिष्क से निकली थी, उसकी रचना का बहुत बड़ा श्रेय पंडित जी को ही है। 'प्रताप' को देख कर औरों ने अनुकरण की कोशिश की पर वह आज भी अनुकरणीय ही है।

'कालिदास की निरंकुशता' बड़ी आनबान से लिखी गई। 'मनसाराम' ने इसका उत्तर भी देने की चेष्टा की ; परन्तु वह बात कहाँ ! साथ ही विद्या-वारिधि जी की निरंकुशता की खबर पंडित पद्म सिंह शर्मा ने ली। 'सतसई-संहार' भी सरस्वती में एक चीज निकली। समालोचना के साथ-साथ विनोद का बड़ा अच्छा मेल था। पंडित जी के मित्र विद्यावारिधि (पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र) जी भी थे और शर्माजी भी। परन्तु सत्समालोचना के आगे इन संबंधों की क्या चर्चा ? मैथिलीशरण गुप्त जी को आपने ही प्रोत्साहित करके महाकवि बनाया और 'साकेत' महाकाव्य की नींव भी 'सरस्वती' के ही प्रांगण में पड़ी थी। पंडित जी के संपादन में 'सरस्वती' ने वस्तुतः अपना नाम सार्थक कर दिया। 'सरस्वती' की पुरानी फाइलें उठाकर देखिए—साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, संगीत, चित्रकला, नीति, कोई शास्त्र छूटा नहीं। सभी विषयों पर अच्छे से अच्छे गंभीर और गवेषणापूर्ण लेख हैं और इनमें से अनेक या तो स्वयं पंडित जी की कलम से हैं अथवा उनके प्रभावित लेखकों की कलम से। इस चलते-फिरते प्रचारित विश्व-विद्यालय में लाखों पाठकों ने घर-बैठे शिक्षा पाई और पंडित, सुलेखक और कवि हो गए। यदि हम पूज्यवर द्विवेदी जी को इस बड़े समुदाय का आचार्य कहते हैं तो उसमें पूर्ण औचित्य है।

[द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ से साभार]

*

श्री कृष्णाचार्य

अभिनन्दनीय आचार्य

१

४ से ६ मई, १९३३ ई०, प्रयाग की घटना है—एक साहित्यिक मेला ! इस महोत्सव का सभापतित्व डा० गङ्गानाथ झा ने और उद्घाटन पं० मदनमोहन मालवीय ने किया। इस अवसर पर हिन्दी के प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों के साथ लीडर के संपादक श्री चिंतामणि; न्यायाधीश उमाशंकर वाजपेयी जैसे विख्यात व्यक्ति उपस्थित थे। डा० झा ने मेला-केन्द्र की ओर देखकर कहा कि हिन्दी-प्रेमी गुरु को प्रणाम करने में उन्हें प्रसन्नता हो रही है। इतना कहने के अनन्तर वे अपने हिन्दी-गुरु के चरणों पर झुके। और उस विनम्र गुरु ने उसी समय यह दृश्य देख कर कहा—"यदि पृथ्वी फट जाती और मैं उसमें समा जाता तो अच्छा था।"

वृद्धावस्था में यह सम्मान पानेवाला साहित्यकार १७-१८ वर्ष की आयु में अपने गाँव दौलतपुर से १५ रु० की नौकरी पर अजमेर जाता है ! इस धन में से ५ रु० माँ को। ५ रु० पेट पूजा में। और ५ रु० में शिक्षक रखकर विद्याभ्यास ! पुनः बम्बई आकर गुजराती, मराठी और अंग्रेजी भाषाओं के साथ-साथ नौकरी के लिये तार प्रेषक यंत्र पर अभ्यास। ऐसे व्यक्ति ने सन् १९०० के किनारे एक सौ पचास रु० की सरकारी नौकरी इसलिये छोड़ दी कि वह अपने गोरे प्रभु को प्रसन्न करने के लिये अपने ही मजदूर भाइयों पर अत्याचार न कर सका।

तब इसी सीमित शिक्षा प्राप्त और तथाकथित 'घमण्डी' 'कलह प्रिय' और 'तुनुक-मिजाज' व्यक्ति को सरस्वती प्रेस के स्वामी चिंतामणि घोष ने १९०३ ई० में सरस्वती का सम्पादक नियुक्त किया। और कुछ ही दिन बाद श्री घोष को यह घोषणा करते हुए प्रसन्नता हुई थी कि समय की पाबन्दी में उन्होंने दो व्यक्ति ही हिन्दुस्तान में देखे थे—एक कायस्थ पाठशाला इलाहाबाद के प्रिंसिपल और बाद में माडर्न रिव्यू, कलकत्ता के संपादक श्री रामानन्द चटर्जी और दूसरे सरस्वती के संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी।

यह संभवतः सर्वमान्य सत्य है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी की कृतियों से बढ़

कर उनके व्यक्तित्व का महत्व है। प्रत्येक महान् जीवन के ये दो पक्ष कभी संतुलित रूप में दीख पड़ते हैं तो कभी कृतियों में या व्यक्तित्व में। निःसन्देह, कृतित्व और व्यक्तित्व की संपूर्णता विरल होती है। इटालियन कलाकार माइकेलेंजो, इंगलिश दार्शनिक फ्रांसिस बेकन, जर्मन कवि गेटे, फ्रैंच वाल्तेयर और रूसी तालस्ताय ऐसे व्यक्तित्व थे जिनकी जीवनी असाधारण और कृतियाँ प्रतिभाकण पूरित ! न इनकी जीवनी की थाह लगती है न कृतियों की।

और ऐसे भी लोग होते हैं—जैसे क्रोपाटकिन, गांधी, जवाहरलाल नेहरू, इनको समझकर भी हठात् यह निकल पड़ता है—ऐसे भी मनुष्य इस संसार में हुए थे जो हमलोगों की तरह ही थे किन्तु अपने जीवन-क्रम में कितने विशिष्ट, कितने विश्वासनिष्ठ ! द्विवेदी जी का व्यक्तित्व कुछ ऐसे ही तत्वों से बना था। माता-पिता के संस्कार तो साधारण—पितामह अवश्य संस्कृत के पंडित थे—किन्तु अजमेर, बंबई, झाँसी आदि नौकरी के लिये अपने ही बल पर भटकने वाले, किन्तु लियोनार्दो विंची की तरह प्रत्येक क्षण प्रभु से मानों यह कहने के लिये आतुर—'मुझे अपने ही परिश्रम के बल पर सब कुछ बतला दे।' ऐसे तत्वों से निर्मित द्विवेदी ने, जीवन के आरंभ में नियम बनाए कि कभी झूठ नहीं बोलूँगा, पढ़ने के लिये समय अवश्य निकलूँगा, सब काम समय से करूँगा आदि।

२

अब सहज ही कल्पना की जा सकती है कि मजदूरों पर अत्याचार के विरुद्ध १९०० ई० के पूर्व १५० रु० की सरकारी नौकरी पर लात मारनेवाले और संपूर्ण जीवनक्रम को कठोर नियमों के साँचे में ढाल कर चलने वाले व्यक्ति के हाथ में पड़ कर 'सरस्वती' का क्या हो सकता था। सरस्वती के पाँच संरक्षक थे—कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ दास रत्नाकर, राधाकृष्ण दास और श्यामसुन्दर दास—कोई इस कान्ता को न सम्हाल सका। अन्तिम छोड़ने वाले व्यक्ति थे बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०। बाबू साहब ने भी द्विवेदी जी के हाथों में ही सरस्वती सौंपने की राय दी थी।

सरस्वती १९०३ ई० से १९२० ई० तक ठीक समय पर निकली। इसमें नए विषयों पर लेख, खड़ी बोली की कविताएँ, विदेशी विद्वानों की जीवनियाँ, खोज, पुरातत्व, क्या नहीं निकला ! द्विवेदी जी के सम्पादकत्व में किसी भी पुस्तक की समालोचना परस्परं प्रशंसंति सिद्धान्त या लक्ष्मी के आकर्षण का शिकार नहीं हुई—मतभेद, विवाद, यहाँ तक कि कटुता की चटनी उस समय के साहित्यकारों को भले ही चाटनी पड़ी। सरस्वती ने श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, बाल मुकुन्द गुप्त आदि का विरोध सैद्धान्तिक रूप से आवश्यकता पड़ने पर किया था। एक बार प्रिय शिष्य मैथिलीशरण गुप्त ने अपने किसी काव्य-खण्ड की तुलना तुलसी-मानस से कर डाली तो संपादक ने कस कर धिक्कारा। इस पर भी शिष्य

बीस वर्ष पूर्व नहीं, जैसा कि वे लिखते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि कबीर ने अपने काव्य में अपने मनुष्य-गुरु का नाम कहीं लिखा भी नहीं इसलिए कबीर का गुरु मनुष्य-गुरु नहीं था वह केवल ब्रह्म, विवेक या शब्द था।[१] और इसके प्रमाण में वे गुरु ग्रंथ में आए हुए निम्नलिखित पद उद्धृत करते हैं :—

१. माधव जल की पिआस न जाइ।

... ...

तू सतिगुरु हउ नउ तनु चेला
कहि कबीर मिलु अंत की बेला।

(रागु गउडी २)

२. संता कउ मति कोई निंदहु संत राम है एकु रे।
कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिबेकु रे।

(रागु सूही ४)

इसमे कोई संदेह नहीं है कि कबीर ने अपने गुरु का नाम अपने काव्य में नहीं लिया है किंतु इसका कारण उनके हृदय में गुरु के प्रति अपार श्रद्धा का होना कहा जा सकता है। कबीर ने ईश्वर तथा विवेक को भी अपना गुरु कहा[२] किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कबीर का कोई मनुष्य-गुरु था ही नहीं।

हमें कबीर की रचना में ऐसे पद भी मिलते हैं जिनमें कबीर ने अपने गुरु से संसार की उत्पत्ति और विनाश समझा कर कहने की विनय की है।

गुर चरण लागि हम बिनवता पूछत कहु जीउ पाइआ।
कवन काज जगु उपजै बिनसै कहु मोहि समझाइआ॥

(रागु आसा १)

[१]कबीर—हिज बायोग्रेफी, पृष्ठ ११, १४

We must therefore conclude that when there is no mention of the name as that of the Guru, we are to take that fact as the Non-existance of a personal teacher and that the real Guru is the Shabad itself.

[२]कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिबेकु रे। (रागु सूही ५)

समुन्नत करना था। उनकी दृष्टि इस तथ्य की ओर बराबर रहती थी कि हिन्दी के सब अंग (विषय विशेष) समान रूप से आगे बढ़ें। इस दृष्टि से सरस्वती में 'साहित्य सभा' स्तम्भ खोला गया। स्तंभ थे—इतिहास, जीवन चरित, पर्यटन, समालोचना, उपन्यास, व्याकरण, काव्य, नाटक और कोश। समय समय पर इन अङ्गों का अभाव हिन्दी संसार के सामने रख दिया जाता था—चित्रों द्वारा—टिप्पणियों द्वारा। सम्पादक की सूझ-बूझ, निष्ठा और समय की पाबन्दी के कारण सरस्वती ने समय की गति के साथ जो वस्त्र और अलंकार अपनाए, वे हिन्दी की पचीसों पत्रिकाओं के लिये अनुकरण के विषय हो गये। और प्रतिद्वन्द्वता! वह सम्भव ही न थी। कितने तो थे सरस्वती-सम्पादक के बनाए-गढ़े सम्पादक। हाँ, कलकत्ता से बालमुकुन्द गुप्त जैसे प्रखर लेखक अवश्य ही भाषा-सुधार जैसे विषयों को लेकर उलझ जाते थे।

३

द्विवेदी-युगीन भाषा-सुधार आन्दोलन ही इस युग का सर्वोच्च स्वर था। कविता की भाषा-मिट्टी अभी कच्ची थी। उसके बीच-बीच में कभी कंकड़ आते थे, कभी तिनके। इससे कविता कामिनी का सौंदर्य कभी भौंड़ा होता था, तो कभी भड़कीला गँवारू। आलोचना साहित्य अभी नितांत आरंभिक अवस्था में था। उसकी गति—भाषा स्वच्छ है, व्याकरणीय भूलें नहीं हैं, विषय रोचक है, आदि परिचयात्मक या प्रशंसात्मक वाक्यावली से बाहर नहीं जाती थी। कथा-साहित्य में प्रेमचन्द-युग का अंकुर ही प्रस्फुटित हुआ था। भारतेंदु ने १८७३ ई० में हिन्दी को जिस नई चाल में ढाला था—अभी जिसका साँचा ही बना था, उसके लिये सामग्री जुटाने का काम शेष था। यह काम सरस्वती के माध्यम से क्रमशः विकसित हुआ। एक डा० लिखते हैं कि "द्विवेदी जी की ही नहीं तत्कालीन अन्य साहित्यकारों में भी सर्वत्र ही व्याकरण-सम्बन्धी अराजकता है।" और इसी शोधक आलोचक ने स्थापना की कि 'आधुनिक गद्य और पद्य की भाषा खड़ी बोली के परिमार्जन, संस्कार और परिष्कार का प्रधान श्रेय उन्हीं को है।"

मानव स्वभाव होता है कि वह अपनी सबसे प्रिय वस्तु या लक्ष्य के लिये सबसे झगड़ा कर बैठता है। द्विवेदीजी का झगड़ा तत्कालीन साहित्य-महारथियों से भाषा सम्बन्धी विवाद के संदर्भ में ही हुआ। द्विवेदी जी को अपनी भाषा से वैसा ही कुछ प्रेम रहा होगा जैसा लैटिन को छोड़ इटैलियन के प्रति दाँते को, संस्कृत को छोड़ अवधी और ब्रज के प्रति गोस्वामी तुलसीदास को। यहाँ बात भाषा प्रेम की है—साहित्य के रूप में उत्कृष्ट या स्थाई देन की नहीं। संभवतः ऐसी ही मानसिक बनावट के कारण द्विवेदी जी ने कभी ललकारा—

'सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष।

होने पर भी यदि कोई भाषा अपने निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-सुश्रूषा में रत रहता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।'

ऐसी मानसिक दृढ़ता जिस संपादक में हो, वह भला अपने पूज्यों को क्षमा कर सकता है? मातृभाषा के प्रति उदासीन मनुष्य को 'वह देश द्रोही, वह जाति द्रोही, किं बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है' मानते थे। भाषा-साहित्य सम्बन्धी विवादों में द्विवेदी जी छोटा-बड़ा, या प्रतिष्ठित-सामान्य कुछ नहीं देखते थे, परिणामस्वरूप क्रोधी और जिद्दी संज्ञा से कभी-कभी सम्मानित भी होते थे। स्वयं श्यामसुन्दर दास जी ने एक बार उन्हें क्रोधी लिख दिया था, और उधर द्विवेदी जी ने शब्दतः लाल-पीला होकर बाबू साहब की स्थापना पर अपनी मुहर ही लगाई। बालमुकुन्द गुप्त, लक्ष्मीधर वाजपेयी, कृष्णकान्त मालवीय आदि न जाने कितनों से झगड़ा हुआ। सिद्धान्तः झगड़ा ना० प्र० सभा से भी हुआ। द्विवेदी जी के चरित की विशेषता थी कि वह मन-वचन-कर्म में अभिन्न थे। अतः बड़े से बड़े महारथी अंततोगत्वा झुक जाते थे—सरस्वती के सत्यप्रिय, न्यायनिष्ठ और अखंडित हिन्दी-निष्ठ उपासक के आगे। जिस नागरी प्रचारिणी से उनका नाता टूटा था, वही सभा अभिनन्दन करती है—'हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अभिनन्दनों की परम्परा बनाने वाला अभिनन्दन।' वही श्यामसुन्दर दास विश्व विद्यालय से सम्मानित करने की बात उठाते दीख पड़ते हैं। द्विवेदी जी ने अपना पुस्तकालय सभा को अर्पित किया। एक बन्द लिफाफा मृत्यु के बाद खोलने को दिया—उसमें थे २०० रु० —कम वेतन पाने वाले कर्मचारियों के लिये। हमारे आचार्य द्विवेदी जी को यह सरल मानवीय मन कौन दिखा गया?

४

और इस प्रकार सरस्वती, हिन्दी और हिन्दी परिवार की सेवा में नियमित रूप से कठोर साधना करने वाले द्विवेदी ने शरीर की दुर्बलताओं से नाता जोड़ लिया। अपने को असमर्थ देखकर सम्पादक ने सरस्वती से विदा लेने का विचार अच्छा समझा। अब वह ढेरों लेखों में से छाँट कर लेख शुद्ध करने, तीन महीने की सामग्री आगे से आगे जुटाने, फालतू तथाकथित लेखकों को फटकारने और आई० सी० एस० अधिकारियों को भी समय से पूर्व आने के कारण प्रतीक्षा कराने की सामर्थ्य का हिस्सा रोगों से युद्ध में देने को विवश था। १९२० ई० तक सरस्वती का संपादन कर द्विवेदीजी अपने गाँव दौलतपुर चले आए।

तो क्या अब दिनचर्या आरम्भ या अस्त-व्यस्त जीवन की थी? प्रातः उठकर टहलने जाना, घर आकर आवश्यक सफाई आदि करना, और बारह बजे तक

आवश्यक चिट्ठियाँ लिखना, सम्मत्यर्थ आई पुस्तकें पढ़ना और कुछ समाचार-पत्र पढ़ना। यह आधे दिन की दिन-चर्या। भोजन के बाद कुछ अखबार देखकर मुंसिफ और पुनः सरपंच होने के नाते दो बजे मुकदमों का काम देखते थे। सन्ध्या को भी घूमने जाते और पुनः घर पर बैठ आने-जाने वाले लोगों से बातें करते। द्विवेदीजी ने इसी अवकाश काल में सरस्वती से अपने लेख पुनः निकाल संपादित कर पुस्तकाकार छपाने के लिये तैयार किये। द्विवेदीजी का श्रेष्ठ साहित्य उनके निबन्ध हैं।

द्विवेदीजी की सन्तानहीन पत्नी १६१२ ई० में ही चल बसी थीं। मित्रों ने दूसरा विवाह करने की राय दे डाली। किन्तु, द्विवेदीजी की आदर्शवादिता यहाँ भी दृढ़ थी। पत्नी-प्रेम द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का ऐसा उज्ज्वल और प्रेरक पक्ष है कि उसे समझे बिना साहित्यकार द्विवेदीजी का व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से नहीं उभरता। इतिहास सुन्दर नारियों को लेकर संहारक युद्धों का साक्षी है, इतिहास प्रतिभा पूर्ण या बलिदान की भावना पर निछावर क्षत्राणियों से भी समृद्ध है, इतिहास के पर्दे पर विदुषी नारियों की परंपरा भी जीवित है। प्रायः अपढ़, असुन्दर किन्तु कर्त्तव्यनिष्ठ पत्नी के लिये, सत्य और आत्म-प्रतिष्ठा की प्रेरणा देने वाली पत्नी के लिये, कितने नरसिंहों ने पत्नी-प्रेम का उपहास अनसुना किया है? किसी सुभीते के क्षणों में पत्नी ने महावीर का चबूतरा बनवा दिया और नाम का सहारा लेकर कहा कि मैंने आपका चबूतरा बनवा दिया है। पति ने तत्काल कहा—मैं भी तुम्हारा मन्दिर बनवाऊँगा। पत्नी-प्रतिमा की प्रतिष्ठा दौलतपुर गाँव के लिये क्या, भारत के गाँव के लिये अचरज की बात है। प्रेमचन्द द्वारा चित्रित भारत के ग्रामीण ने कहा—इस पंडित का दिमाग ठीक तो है; दूसरे ने कहा—इस सरपंच का माथा सचमुच ही पंचर हो गया है।

गाँव में इन कटूक्तियों के पीछे भी वही इतिहास है जो सरस्वती के पीछे कभी-कभी आलोचनाओं का हुआ करता था। गाँव के न्यायपति होने के नाते द्विवेदीजी जैसा व्यक्ति फैसले के समय गरीब अमीर क्यों देखेगा? जो साहित्यकार काम-शास्त्र पर लिखी विशेषकर पत्नी आदि को उपदेश के रूप में लिखी पुस्तक पर महामना मालवीय की अनुचित आलोचना सहन नहीं कर सका। जिसने प्रत्युत्तर में मालवीयजी जैसी विभूति की भभूत उड़ा दी और परिणाम स्वरूप महामना को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी—ऐसा व्यक्ति गाँव के प्रायः संस्कारच्युत व्यक्तियों की व्यंग-वाणी को क्या मान देगा? मौन-साधक ने मन्दिर बनवाया ही! कारीगरों ने जो प्रतिमा बनाई वह पसन्द नहीं आई। पुनः दूसरी प्रतिमा बनाई और प्रतिष्ठित हुई। इतिहास में सम्भवतः ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं है कि बात की बात में पत्नी से कहा हुआ वचन उसकी मृत्यु के उपरान्त इस प्रकार प्रतिष्ठित किया जाय!

और फिर भी, वार्धक्य, उसके सहयोगी रोगों को लिये हुए अपने भानजे-भानजी आदि को समेटे, उनके विवाहादि के लिये चिन्तित द्विवेदीजी को अन्तिम दिन प्राय: निर्धन की तरह बिताने पड़े। विधना की मार कि लोग उन्हें धनवान् ही समझते रहे। उल्टे उनसे कुछ अपेक्षा ही करते थे। एक बार इस प्रकार के मानसिक कष्ट में द्विवेदीजी ने किसी को झुंझलाहट में लिखा था—मैंने इतने लड़के-लड़कियों के विवाह किये, इतना अमुक-अमुक संस्थाओं को दिया, मन्दिर बनवाया, फिर भी जो लाख-दो लाख बचा है उसे हिन्दू-विश्व-विद्यालय को दे जाऊँगा। इस लम्बे ऐतिहासिक पत्र में द्विवेदीजी की व्यंग्यात्मक शैली, उनका क्षोभ; उनका कर्तृत्व— सब कुछ एक साथ बोल उठा है।

सरस्वती के इस पुजारी को एक दम अन्तिम दिनों में इधर-उधर, कुछ महाराजाओं के, कुछ बिड़लाओं के आगे हाथ पसारना पड़ा था। किन्तु हिन्दी सम्मान के लिये कभी न झुकने वाला शीश; कभी न रुकने वाला औदार्यपूर्ण हाथ अपने साथ ही लिये, हिन्दी को उदयाचल पर चढ़ा २१ दिसं० १९३८ को प्रात: पौने पाँच बजे स्वयं अस्ताचल की ओर चल दिया।

एक प्रकार से द्विवेदीजी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन दुरूह है; उनमें क्रोध आदि मानवीय दुर्बलताएँ थीं, उनका व्यक्तित्व अमर सर्जक के रूप में भी सामने नहीं आता। किन्तु द्विवेदी-युग हिन्दी भाषा और साहित्य के ऐसे क्षणों के लिये सदैव कृतज्ञ रहेगा जिनमें हिन्दी आवश्यक वातावरण, आवश्यक उर्वर भूमि और नवीन युग-बोध की क्षमता पाकर सहस्र रूपों में रूप और शक्ति सहित सृजनवती हो उठी। रूसी लेखक गोगोल की अमर और प्रथम यथार्थवादी कहानी 'ओवरकोट' पर तुर्गनेव ने कहा था कि हम सब उसी से निकले हैं—तो क्या यह तथ्य और भी अधिक प्रामाणिक नहीं है कि हिन्दी के लेखक द्विवेदीजी की सरस्वती का वरदान हैं!

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसा व्यक्तित्व ही हिन्दी को अभिनन्दन और आचार्य परंपरा दे जा सकता है।

*

और मालवे का भी वर्णन है। जीवन के अंत में कबीर बनारस छोड़कर मगहर चले गये थे। एक पद में गोमती-तीर के 'पीताम्बर पीर' का उल्लेख है। कदाचित् जौनपुर के किसी पर्यटन की ओर संकेत है। कई पदों में हज जाने की बात भी कही गई है।

ङ—अध्ययन

कबीर विशेष पढ़े लिखे थे, ऐसा उनकी रचनाओं से पता नहीं लगता। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'मसि कागद छूओ नहीं।' एक अन्य स्थल वह कहते हैं—'विदिया न परउ बादु नहीं जानउ।'

च—गुरु

कबीर के पदों में गुरु की कृपा का उल्लेख बार-बार आता है। परन्तु कदाचित् एक पद को छोड़ कर कहीं भी वे रामानन्द का नाम नहीं लेते। यहाँ भी रामानन्द इंगित ही हैं। 'बीजक' के एक पद में वह शेख तक़ी और उनके शिष्य अकरदी-सकरदी को ललकारते हुए और उपदेश देते हुए दिखलाई देते हैं। जनश्रुतियाँ जहाँ उन्हें झूंसी के शेख तक़ी का शिष्य बताती हैं, वहाँ दूसरी ओर रामानन्द से उनका संबंध जोड़ती हैं। शेख तक़ी अपने समय के प्रसिद्ध सूफ़ी थे। संभव है, प्रारम्भ में कबीर उनसे दीक्षित हुए हैं। बाद में बनारस में रहते हुए वे रामानन्द के संपर्क में आये हों। सच तो यह है कि मध्ययुग की सूफ़ी भावना और रामानन्दी भक्ति में विशेष अंतर नहीं है। परन्तु पदों में भावुकतापूर्वक जिन सद्गुरु की प्रशंसा उन्होंने बराबर की है वह निश्चत ही रामानन्द रहे होंगे।

छ—बाह्य संघर्ष

कबीर के कुछ पदों से यह स्पष्ट है कि उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों के लिए बड़ा दुःख भोगना पड़ा। मुल्ला, क़ाज़ी और पंडित-वर्ग ने उनका

मूल : संस्कृत है :—

ममस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तेर्विस्मिन् इव
स्तुवन जिह्वसित्वां न खलु ननुधृष्टामुखरता ॥

और अन्त में द्विवेदी जी कहते हैं :—

सुरसरि शेखर गिरिश हर चन्द्रमौलिकर जोर।
भाषा करो महिम्न की यथा बुद्धि लघु मोर।

द्विवेदी जी की प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'विनय विनोद' है। इसका प्रकाशन १८८९ में हुआ था। 'विनय विनोद' भर्तृहरि के वैराग्य शतक का पद्यानुवाद है। यह रूपान्तर दोहा छन्द में किया गया है। रूपान्तर का उद्देश्य धन कमाना या स्वान्तः सुखाय न होकर हिन्दी पाठकों को संस्कृत काव्य का आस्वादन कराना तथा संस्कृत के सुन्दर वर्णवृत्तों को हिन्दी में लाना कहा जा सकता है।

'विनय विनोद' वस्तुतः द्विवेदीजी के कर्मठ साहित्य सेवी बनने का प्रयास है। ब्रजभाषा में रचे विनय-विनोद की प्रारम्भिक पंक्तियां देखिए :

विश्वाधार विशुद्ध विभु विश्वम्भर वरगीत।
विमल विमोह विनाश कर विगति विकार विनीत ॥
निराकार-नर-केशरी केशरी केशव करुणा कन्द।
नमो निरंजन ब्रह्म शुचि सुखद सच्चिदानन्द ॥

'विनय-विनोद' की अन्तिम पंक्तियाँ विनय से परिपूर्ण हैं—

दीनबन्धु करुणायतन जगपति दीनानाथ।
बूड़त भवनिधि मध्य लखि गहिये मेरो हाथ ॥
शरणागत मांगत प्रभो हे अनाथ के नाथ।
युगुल चरण अरविन्द मंह राखन दीजै माथ ॥

बाबू सीतारामजी ने इण्डियन मिडलैंड यंत्रालय, झांसी से फरवरी, १८९० में 'बिहार वाटिका' प्रकाशित की। 'बिहार वाटिका' जयदेव के गीत गोविन्द का संस्कृत वृत्तों में संक्षिप्त भावानुवाद है। पुस्तक में १०० गणात्मक छन्द हैं।

'बिहार वाटिका' समर्पित करते हुए द्विवेदीजी के मित्र और प्रकाशक सीताराम जी लिखते हैं :—

"यह 'बिहार-वाटिका' मेरे मित्रवर पं० महावीर प्रसादजी की वाग् विलास है। पद्य रचना की सुघराई, यमक की मनोहरताई और लालित्य की अधिकाई आज इस मन भाई बाटिका को रसिक जनों की भेंट करने में मेरे परम हर्ष का कारण हुई है।" समर्पण १५ फरवरी; १८९० को हरलाल गंज; झांसी में लिखा गया था।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्तुति है :—

मेरी बुद्धि मलीन दीन जड़ को हे शुद्धि कै दीजिए।
ध्यावौ नाथ नवाय माथ धरणी एती कृपा कीजिए॥
वर्णी छन्द निबन्ध वृत्त कविता सारीज सिंगार की।
या नाहीं तिन माहि पूर्ण परि है दो षानि के मार की॥

अनुवाद का उद्देश्य हिन्दी पाठकों को संस्कृत शृङ्गार साहित्य का परिचय कराना है। पूर्ण शृङ्गारिक छन्दों का अनुवाद मर्यादा का ध्यान रखते हुए किया है। कृष्ण शोभा का वर्णन है :—

बंशी वट तट यमुन के राधा नन्द किशोर।
बिहरत आनन इन्दुछबि ब्रजजन नयन चकोर॥

कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पाई है :

दोऊ अंक भरे अनन्द बिहरें हारें न कोऊ कहूँ।
हूँ हूँ में छल में कपोल दल में लावण्य लीला चहूँ॥

राधा के वियोग में कृष्ण व्याकुल हैं :

राधे नागरि के बिना साधे सुख सब श्याम।
विरस जानि विह्वल विकल तजी सकल ब्रजवाम॥
हिये थके मोहन ताहि हेर के।
दशौ दिशा प्यारिहि टेरि टेरि के॥

× ×

प्रिया राधा के बिना कृष्ण को कुछ भी नहीं सुहाता—

महा बिकल हौं कल नहीं पल युग सरिस बितात।
बिन दर्शन कीन्हें प्रिया मोहि न कछू सुहात।

उधर राधा की विरह व्यथा देख सखी कृष्ण से जा कहती है :

परी छरी सी महि माहि राधा।
कही न जावे सु असाध्य बाधा॥
चलो हहा दीजहु जीव दाना।
न तो तजेगी वह बेगि प्राना॥

× ×

कीजिए सनाथ नाथ नायिका अनाथ जानि।
अंगु मंजु कंज गंज मैं न दीन हीन मानि॥

कभी-कभी तो राधा का स्वास लेना ही बन्द हो जाता है। उसने सभी आहार त्याग दिये हैं, एक नाम के सहारे ही जीवित हैं :

कबहुक स्वासा हू नहीं चलत कलेश अपार।
एक नाम आधार लखि तजे सकल आहार॥

हे कृष्ण राधा को अपनी ही समझ अब दर्शन दीजिए :
ऐती मेरी विनय सुनिए कीजिए नाहि देरी।
हा हा दीजे दरश अब तो आपनी जानि चेरी॥
नायिका का रूप चित्र सा उपस्थित कर देता है :—
सुखमा सदन सुचि रूप सुन्दर धन्य लखि मन मानही।
अनमोल गोल अडोल गोर उरज युगुल समान ही॥
और संयोग होने पर :—
जिमि जिमि मुसकाई युक्ति राधा बताई।
तिमि तिमि चितलाई कीन सोई सुहाई।
तन-मन बलि जाई प्राण प्यारी रिझाई।
पुनि पुनि उरलाई धाम आये कन्हाई॥

'विहार वाटिका' में स्रग्धरा, शार्दूल विक्रीड़ित, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, भुजंग प्रयात, मालिनी, मंदाक्रांता, हरिगीतिका, बसन्ततिलका, नराच, चामर, इन्द्रवज्रा और दोहा आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। भाषा ब्रज और साहित्यिक है।

१८९० मार्च का प्रकाशन 'स्नेहमाला' भर्तृहरि के शृङ्गार शतक का अनुवाद है। अनुवाद दोहा छन्द में किया गया है। समर्पण में द्विवेदीजी कहते हैं : "प्रेम के आधार यह आपके प्रेम की ही रचना है।" ग्रन्थ के प्रारम्भ में देवस्तुति है :

तनु जतु घनश्यामा शोभाधामा रसिक सुनामा विश्वभरं।
नटवर नन्दलाला उर बनमाला रूप विशाला मुकुटधरं॥

स्तुति के बाद ग्रन्थ का आरम्भ सौन्दर्य वर्णन से हुआ है :
घूंघट पट खोलनि हंसनि हिय आशय गम्भीर।
लाज सकुच भाषण मधुर मरकत हेम शरीर॥

द्विवेदीजी ने नायिका का चित्र इस प्रकार खींचा है :
चन्द्रानन सरसिज नयन स्वर्णमयी सब देह।
कच कुंचित लखि होत हैं बलि बलि अलिगण खेह॥
चक्रवाक कुच केहरी कटि नितम्ब विस्थूल।
वचन सरस मृदु अपर सब तिय स्वभाव के मूल॥

और जब नायिका चलती है :
मन्द-मन्द पग अवनि धरि कुटिल कटाक्षनि मारि।
बिनअयास तरुणी करत वश्य सुकोर बिहारि॥

ऐसी नायिका को देख बड़े-बड़े मुनियों का ध्यान भी टूट जाता है :
वचन श्रवण तिनके सुखद अरु अधरारस पान।
नव यौवन सुमिरन करत छूटत मुनिजन ध्यान॥

इन कामिनियों को अबला कहने वाले कवि :

निश्चय ते कवि श्रेष्ठ हैं ज्ञानबोध विपरीत।
कामनीन अबला कहहिं जे नित आनि प्रतीत॥

नायिका के नेत्रों से ही काम टपकता है :

दरसत ही जाके नयन तुरत काम प्रकटात।
ताको अजा कारिवर सेवक मदन लखात॥

कवि कहता है :

गरुता कुचित कठोर की सहि नहि सकत सुतीय।
कटि लचाय पग मग धरति पुनि पुनि तकि तकि हीय॥

हृदय की अकुलाहट तभी तक रहती है जब तक प्रिय के दर्शन नहीं होते :

प्रिय जब लग दरशति नहीं तब लगि जिय अकुलाय।
आवत नयनन तर जबहिं मन औरहि होइ जात॥

'मनुज-मीन' को फँसाने के लिए इस संसार-सागर में नारी एक जाल है और काम है धीवर—

नारी जाल जहान में धीमर काम प्रवीन।
फैलायो है युक्ति तें अधरामिष जालीन॥
मनुज-मीन के फसत ही आकर्षति अति हेत।
प्रीति अनल मंह डारि पुनि पचवत ताहि सचेत॥

कवि की शिक्षा है :

कामिन काया वन सघन शिखर स्तन दुहुं ओर।
रे मन पथिक न जाइयो बसत मार तहं चोर॥

और अन्त में :

मोह अन्ध मदग्रस्त जब मदन हाथ बिकि जात।
सकल विश्व तब नारिमय दशहूँ दिशा दिखात॥

कालिदास रचित 'ऋतु तरंगिणी' का अनुवाद फरवरी १८९१ में प्रकाशित हुआ। पुस्तक में संस्कृत के गणात्मक छन्दों की योजना है। भूमिका में द्विवेदीजी लिखते हैं :

"देवनागरी भाषा के काव्यों की पुस्तक मालिका में जहाँ तक मेरे अवलोकन में आया है विशेष करके दोहा, चौपाई, सोरठा, गीतिका, कवित्त (घनाक्षरी), सवैया इत्यादि साधारण मात्रा वृत्तों के अतिरिक्त गणात्मक वृत्तों का बहुत ही कम उपयोग किया गया है। ···कदाचित् ही कोई पुस्तक होगी जिसमें आद्योपान्त संस्कृत योग्य (गणवृत्त) छन्दों में ही काव्य कथन हुआ हो।......"

'ऋतु तरंगिणी' इसी कमी को पूर्ण करने का एक प्रयास है। इस प्रयास के परिणाम स्वरूप संस्कृत शब्द बाहुल्य तथा संस्कृत वाक्यावली का भी प्रयोग हुआ है।

(राग सारंग)

तपन लाग्यौ घाम, परत अति धूप भैया, कहँ छाँह सीतल किन देखो ।
भोजन कूँ भई अबार, लागी है भूख भारी, मेरी ओर तुम पेखो ॥
बर की छैयाँ, दुपहर की बिरियाँ, गैयाँ सिमिट सब ही जहँ आवै ।
'नंददास' प्रभु कहत सखन सों, यही ठौर मेरे जीय भावै ॥८॥

(राग सारंग)

जेठ मास, तपत घाम, ऐसे में कहाँ सिधारे स्याम ?
ऐसी कौन चतुर नारि जाकौ बीरा लीनों है ।
नैंक धौं कृपा कीजै, हम हू को सुख दीजै,
फेरि वाकें जाओ, जाकौ नेह नवीनौ है ॥
बाँह पकरि लै गई, सैया पर दिए बिठार,
अरगजा-चंदन लगाइ, हियौ सीतल कीनौ है ।
'रसिक' प्रीतम कंठ लगाइ, रस में रस मिलाइ,
अरस-परस केलि करत, प्रीतम बस कीनौ है ॥९॥

(राग बिहाग)

रुचिर चित्रसारी सघन कुंज में मध्य कुसुम-रावटी राजै ।
चंदन के रूख चहुँ ओर छवि छाय रहे,
फूलन के अभूषन-बसन, फूलन सिंगार सब साजै ॥
सीयरे तहखाने में त्रिविध समीर सीरी,
चंदन के बाग मध चंदन-महल छाजै ।
'नंददास' प्रिया-प्रियतम नवल जोरि,
बिधना रची बनाय, श्री ब्रजराज बिराजै ॥१०॥

(राग बिहाग)

बैठे ब्रजराज कुँवर, प्यारी संग जमुना-तीर,
सीतल बयारि सखी, मंद-मंद आवै ।
अति उदार बैजयंती, स्याम अंग सोभा देत,
भुज परस्पर कंठ मेलि बिहँसि गावै ॥
झीने पट दिपत देह, प्रीतम सों अति सनेह,
गौर-स्याम अभिराम कोटिक काम लजावै ।
'सूरदास मदनमोहन' मोहनी से बने दोउ,
रहसि-रहसि अंग अरगजा लगावै ॥११॥

अन्त में ऋतुराज वसन्त आने पर चम्पा, चमेली, कचनार सभी फूल उठते हैं :

नन्दीवरानार निवार न्यारे ।
चम्पा चमेली कचनार सारे ॥
सर्वत्र में चित्र विचित्र साजा ।
दीन्ह्यौ जबै दर्श बसन्त राजा ॥

इन अनुवादों के पश्चात् द्विवेदीजी ने पंडित राज जगन्नाथ की 'गंगा लहरी' का भाषान्तर सवैया छन्दों में किया । यह अनुवाद जुलाई १८९१ में प्रकाशित हुआ । मूल संस्कृत छन्द और भाषा छन्द के साथ-साथ गद्य में भावार्थ भी दिया गया है ।

स्मृतं सद्यः स्वातं विरचयति शान्तं सकृदपि,
प्रगीतं यत्पापं झटिति भवतापं च हरति ।
इदं तद् गंगेति श्रवण रमणीयं खलु पदं,
मम प्राण प्रान्तर्वदन कमलकान्ते विलसतु ॥८॥

मनते सुमिरे जिहि एकहि बार मिले सुविचार सुबुद्धि की खानी ।
जिहि जाप करै भवताप औ पाप की नेकु रहै नहिं एकु कहानी ॥
यह सो मन भावनो शब्द अनुपम गंगा कहै जिहि विश्व की बानी ।
प्रिय प्रानन प्रान्त नितान्त समै मम आनन मैं बिलसै महरानी ॥

"जिनके एक बार भी स्मरण करने से शीघ्र ही अन्तःकरण में शान्तता प्राप्त होती है जिसके गान करने से समस्त पाप और सांसारिक (कायिक, मानसिक, वायिक) दुःख नाश हो जाते हैं सो यह श्रवण सुहावना गंगा शब्द प्राणान्त समय मेरे मुख में विलास करे ।"

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी गद्य की दशा बड़ी हीन थी । अतएव पद्य के साथ-साथ द्विवेदी जी का ध्यान हिन्दी गद्य की ओर जाना स्वाभाविक था । आपने पंडितराज जगन्नाथ की संस्कृत पुस्तक 'भामिनी-विलास' का गद्यानुवाद किया । अनुवाद के साथ-साथ मूल संस्कृत भी दी गई है । यह भाषान्तर खेमराज कृष्ण दास ने १८९१ में बम्बई से प्रकाशित किया । पुस्तक का आकार २० से०मी० और १६८ पृष्ठ हैं। द्विवेदीजी द्वारा, २७ वर्ष की आयु में लिखे गये गद्य का नमूना 'भामिनी-विलास' है । भामिनी-विलास द्विवेदी जी की पहली गद्य पुस्तक है । काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से भामिनी-विलास का महत्व न होने पर भी द्विवेदी जी की भाषा के विकास और गद्य का अध्ययन करने में इसका महत्व कम नहीं । भूमिका के अनुसार यह भाषान्तर केवल हिन्दी जानने वालों को मूल संस्कृत रचनाओं की सरस वाणी की आनन्दानुभूति कराने के लिये किया गया है । सरल वर्णनात्मक शैली में पाठकों को आलोचित ग्रंथ के अर्थ के साथ-साथ गुण-दोष का ज्ञान कराया गया है ।

भामिनी-विलास में युग स्थिति के कारण व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ, रचना सम्बन्धी दोष तथा लेखन त्रुटियाँ हैं। हुला, उस्के, समुझा, झुरोखे, प्राणियों, दृष्टी, कीशोरी, ध्वनी, ज्योंहि, तूझे, कारूणिक, उपर, प्रतिकुल आदि शब्द ऐसे ही हैं। उपर्युक्त दोषों का कारण मराठी प्रभाव भी कहा जा सकता है।

इस प्रारम्भिक गद्य रचना में पंडिताऊपन अधिक है—"मेरे आगमन से अधिक हुआ है सन्तोष जिसको और जागरण से व्यतीत की है सारी रात जिसने ऐसी वह नायिका प्रातःकाल मुखोत्पन्न सुगन्ध के लोभी मधुपों के जगाने से भी न जगी।"

पद्यानुवादों के साथ-साथ द्विवेदी जी का ध्यान मौलिक काव्य की ओर गया। प्रथम मौलिक काव्य 'देवी-स्तुति शतक' जनवरी १८९२ में कवि ने स्वयं जुही (कानपुर) से प्रकाशित किया। देवी-स्तुति शतक चंडी स्तुति है। भूमिका से स्पस्ट है—"मुझे तो भगवती का स्तवन करना ही था और संस्कृत में विशेषतः सर्वस्तुति विषय गणात्मक वृत्तों में वर्णन किये भी गये हैं। अतएव मैंने ऐसे ही छन्दों का प्रयोग करना योग्य समझा। ग्रंथ आद्योपान्त वसन्ततिलका के १०० छन्दों में है।

शक्ति त्रिशूल असि पास गदा कुठारा,
धन्वा धुरीण युत केहरि पै सवारा।
जासों समस्त महिषासुर सैन्यहारी।
ता अष्टबाहु जननीहि नमो हमारी ॥ १६ ॥

कवि जीवन के आरम्भ में द्विवेदी जी का ध्यान संस्कृत छन्दों की ओर अधिक था। 'देवी स्तुति शतक' संस्कृत के परमेस्वर शतक, सूर्य शतक और चंडी शतक आदि की पद्धति पर रचा गया है। ग्रंथ में दैहिक तापों से मुक्ति पाने के लिए आराध्य देवी की स्तुति और उनके प्रति आत्म-निवेदन है।

१८९४ में 'तरुणोपदेश' कामशास्त्र पर उपदेशात्मक ग्रंथ रचा। यह अप्रकाशित ग्रन्थ द्विवेदी जी के जन्म-स्थान दौलतपुर में सुरक्षित है। ग्रंथ में ४ अधिकरण तथा २१० पृष्ठ हैं। द्वितीय गद्य रचना होने के कारण भाषा-शैली मंजी नहीं है। रसीली तथा अश्लील मानी जाने के कारण पुस्तक का प्रकाशन अभी तक न हो सका। उद्देश्य तरुणों को स्वास्थ्य, संयम और ब्रह्मचर्य पालन का मार्ग दिखाकर उन्हें अनिष्ट कृत्यों से बचाना है।

'अमृत लहरी' पंडितराज जगन्नाथ के यमुनास्तोत्र का भावानुवाद है। यह भाषान्तर १८९६ में प्रकाशित हुआ। भामिनी-विलास की ही भांति यह गद्यानुवाद मूल सहित है। भाषा में व्याकरण सम्बन्धी भूलें तथा पंडिताऊपन है। ११ मार्च, १८९७ के 'हिन्दोस्थान में 'भारत दुर्भिक्ष' कविता प्रकाशित हुई। कविता में दुर्भिक्ष का बड़ा ही सबल चित्रण है। खाने को गुठली भी नहीं मिलती :—

शक्ति नहीं जिनके बोलन की तकि-तकि मुख फैलावें,
सींक समान पैर लीन्हें बहु रोवत गोबर खावें।

गुठली खान हेत बेरन की ढूँढ़त सोउ न पावें,
पग पग चलैं गिरैं पग पग पर आरत नाद सुनावें ॥

'त्राहि ! त्राहि !! त्राहि !!!' कविता २६ नवम्बर, १८६७ को हिन्दी बंग-वासी में प्रकाशित हुई थी। इसमें भारत देश के कष्टों का बड़ा मर्मस्पर्शी चित्रण है :—

हे जगदीश ! शीश मैं अपनों बीस बार महिधारी।
पुनि पुनि पुनि तृण तोरि जोरि कर विनती करौं तिहारी ॥
कोप शान्त करि कान्त रूप धरि हरे ! हरहु दुःखभारी,
नतु पाताल प्रवेश करैगो अब यह देश दुखारी ॥ १ ॥

कान्यकुब्ज समाज पर तीखा व्यंग लेख 'कान्यकुब्जलीव्रतम्' शीर्षक से १८६८ में संस्कृत में प्रकाशित हुआ। 'समाचार पत्र सम्पादक स्तवः' अर्थात् सम्पादकों पर आक्षेप भी इसी वर्ष का प्रकाशन है।

जून १८६८ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका में "नागरी ! तेरी यह दशा !!" प्रकाशित हुई। कविता में अपनी भाषा नागरी की तत्कालीन दशा का चित्र है :—

श्रीयुक्त नागरि ! निहारि दशा तिहारी,
होवे विषाद मन मांहि अतीव भारी।
हा ! हन्त लोग कत मातु तुम्हें बिसारी,
सेवैं अजान उर्दू उर माहिं धारी ॥१॥

कवि बड़े गौरव के साथ कहता है कि—

तेरे समान रुचिरा, सरला, रसाला,
शोभा युता, सुमधुरा, सगुणा, विशाला।
भाषा न अन्य यहि काल अहो दिखाई,
बोलें निशंक हम यों स्वभुजा उठाई ॥५॥

'बाल विधवा विलाप' ७ अक्टूबर, १८६८ के भारत मित्र में छपी थी। बेचारी विधवा विलाप करती है, उसकी समझ में नहीं आता कि वह क्या करे :

सूझे कछू यहि घरी अब नाहिं मोहीं,
बूझे न अन्य हतचित विहाय तोहीं।
जावों कहां ? कह करों ? किहि धौं पुकारौं ?
हे जीवितेश ! किम धीरज चित्त धारौं ?

गधे पर लिखी व्यंग्य कविता 'गर्दभ काव्य' २६ अगस्त, १८६८ के हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित हुई। गधा अपने मृदु स्वर का बखान करता है—

पीर उठै यदि सुनैं पियानो; कर्कश लगै सितारा है,
कोकिल कूक हूक उपजावें; अस स्वर ज्ञान हमारा है

दिल बहलाव हेत हम अपने मुखतें दुःख अपारा है,
मृदुल बोल बोलें पंचम में कबहुँ कबहुँ बहु बारा है ॥१०॥

अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद इन्हीं दिनों किया गया था। अनुवाद कार्य १८९९ में पूर्ण हुआ। पुस्तक में ऐतिहासिक नामों का संक्षिप्त विवरण पाद टिप्पणी में दिया गया है। अन्त में व्यक्ति वाचक नामों की सूची से अनुवाद की उपयोगिता बढ़ गई है। प्रत्येक निबन्ध के प्रारम्भ में एक या दो श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। श्लोक उस निबन्ध के वर्णित विषय के निष्कर्ष रूप में हैं। अनुवादक ने इस प्रकार बेकन के निबन्धों और संस्कृत के सुभाषित श्लोकों की एकरूपता दिखलाने का प्रयत्न किया है।

विकलत, इष्टसिद्धी, यम० ऐ० लावा, पहंचान, धृष्ठ, चैष्ठा, बारम्बार, विला आदि गलत प्रयोग हैं। कहीं-कहीं अंग्रेजी वाक्यों का अनुवाद भी गलत हुआ है—'उसको उसके पिता के मरने का समाचार मिला।'

बेकन के ये निबन्ध 'बेकन-विचार-रत्नावली' शीर्षक से खेमराज कृष्णदास, बम्बई ने १९०१ में प्रकाशित किए। १३६ पृष्ठों की इस पुस्तक में ३६ निबन्ध हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने १८९९ में 'नैषध चरित चर्चा' प्रकाशित की। पुस्तक हरि प्रकाश यंत्रालय, बनारस में छपी थी। यह ग्रन्थ श्री हर्ष लिखित नैषधीय चरितम् नामक संस्कृत-काव्य की परिचयात्मक आलोचना है। लेखक ने संस्कृत साहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से दिखाने और संस्कृत सम्बन्धी पश्चिमीय विद्वानों के अनुसंधान का परिचय देने का प्रयास किया है।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' इसी वर्ष लिखी गई। त्रुटियां दिखलाने के साथ-साथ अंग्रेजी शासन की प्रशंसा भी है। इस आलोचना से इण्डियन प्रेस को काफी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। पर प्रेस के मालिक बाबू चिन्तामणि घोष, द्विवेदी जी की प्रतिभा से बड़े प्रभावित हुए। आगे चलकर इन्होंने इण्डियन प्रेस से द्विवेदी जी की अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं।

७ अप्रेल, १८९९ के श्री बेंकटेश्वर समाचार में 'प्रार्थना' कविता प्रकाशित हुई थी। कविता में २८ छन्द हैं :

बिना स्वराजाश्रय देवबानी,
न भूलि होती गुण राशि खानी।
जानें सबै सौ तिहुँलोक माहीं,
है सत्य, है सत्य, असत्य नाहीं ॥११॥
हा ! हन्त ! हिन्दी सुई तासु कन्या,
सर्व प्रकार व्यवहार अन्या।

३

इष्टदेव

कबीर के इष्टदेव अद्वैत निर्गुण ब्रह्म हैं। इनकी साधना और उनके गीतों के लक्ष्य वही हैं। यद्यपि कबीर ने इस अद्वैत निर्गुण ब्रह्म को अनेक नामों से संबोधित किया है[१] परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनका इंगित इन नामों के पार झाँकने वाली अद्वय चित्सत्ता से ही है। इन सब नामों में राम नाम उन्हें सबसे प्यारा है। वह स्पष्ट कहते हैं—'हे प्राणी, राम को जप। वही अनन्त जीवन है।

राम शब्द कबीर के लिए ब्रह्म-भाव का ही प्रतीक है। कभी-कभी वह 'राजाराम' शब्द का भी प्रयोग करते हैं, परन्तु इसमें भी दाशरथि राम से उनका तात्पर्य नहीं होता। शुद्ध ब्रह्मभाव ही उनका लक्ष्य है। योगियों की परिभाषा में वह कभी राम को अनाहत का भी प्रतीक मान

---

१ राजा राम अनहद किंगुरी बाजै (सिरी रागु, २)
रामु राजा नउ निधि मेरै (रागु भैरउ, २)
माधव जल की प्यास न जाइ (रागु गउड़ी, २)
धंनु गुपाल धंनु गुरुदेव (रागु गौंड, ११)
कहि कबीर भजु सारिंगपानी (रागु गउड़ी, ४)
अलह राम जीवउ तेरे नाई (रागु बिभास, २)
कबीरदास तेरी आरती कीनी निरंकार निरबानी (वही, ५)
दुआदस दल अभअंतरि मंत। जह पउड़े स्री कमलकंत ॥
(रागु भैरउ, १६)

२ रमईआ जपहु प्राणी अनत जीवण (सिरी रागु, १)

के प्रपितामह, गिलटी रोग का गवर्नर आदि बतलाया है।

मार्च १९०० के सुदर्शन में 'अयोध्या का विलाप' कविता प्रकाशित हुई। कवि ने प्राचीन और आज की तुलना करते हुए अयोध्या की दयनीय दशा दिखलाई है :—

जाकी समस्त सुनि सम्पत्ति की कहानी,
नीचो नवाय सिर देवपुरी लजानी।
ताकी अरे निपट निष्ठुर काल ऐसी,
तूने करी शठ! दशा अतिही अनैसी ॥२॥

'कृतज्ञता प्रकाश' रचना अप्रैल १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित हुई। कविता में तत्कालीन शासन के प्रति कृतज्ञताज्ञापन है :—

विक्टोरियाँ विजयिनी-वर राज्य माहीं,
अन्याय-लेशहु कभु कहुँ होत नाहीं।
पूरी प्रतीति इहि की हम आज पाई,
यों ही परस्पर मनुष्य कहें सुनाई॥

द्विवेदी जी की अब तक की कविताओं को देखने से ज्ञात होता है कि वे ब्रज-भाषा से खड़ी बोली की ओर शनैः शनैः उन्मुख हो रहे थे। द्विवेदीजी प्रायः संस्कृत वृत्तों में लिखते थे, अतएव उन्हें ब्रजभाषा में कठिनाई होती थी ; दूसरे गद्य की भाषा खड़ी बोली होने के कारण वे उसी भाषा को काव्य में भी लाना चाहते थे। श्रीधर पाठक का भी इन पर प्रभाव पड़ा। महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की प्रथम खड़ी बोली कविता 'बलीवर्द' है। बलीवर्द १९ अक्टूबर, १९०० के श्री वेंक्टेश्वर समाचार में प्रकाशित हुई थी।

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज! महाराज।
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुहताज।
तुम्हें खण्ड कर देते हैं जो महा निर्दयी जन-सिरताज ;
धिक उनको, उन पर हंसता है, बुरी तरह यह सकल समाज।

इसी काल की एक अन्य रचना 'मांसाहारी कौ हंटर' ब्रजभाषा में है :—

धिक्कार तोहिं; नर-जन्म वृथा हि पायो ;
आहार मांस करि मानुषता नसायो।
तो सों भले पशु, असभ्य मनुष्य आदि ;
हा हन्त! हन्त!! तव जीवन-जालवादि!!

(१९ नवम्बर १९०० हिन्दी बंगवासी)

नागरी प्रचारिणी सभा, कशी के तत्वावधान में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से मासिक सरस्वती का प्रकाशन आरम्भ हुआ। अब तक द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य-कारों में अपना स्थान बना चुके थे। सरस्वती के ४—५ अंक निकलने पर भी जब सम्पादक को द्विवेदी जी का कोई रचना न मिली तो सम्पादक कार्तिक प्रसाद

खत्री ने उन्हें लिखा—"अभी तक आपने अपने किसी लेख से सरस्वती को भूषित नहीं किया जिसके लिए सरस्वती की प्रार्थना है कि शीघ्र उसकी सुधि लीजिए।" द्विवेदीजी ने रचनाएँ भेजना प्रारम्भ कर दिया।

नवम्बर, १९०० की सरस्वती में प्रकाशित 'द्रौपदी वचन वाणावली' खड़ी बोली में है। खड़ी बोली की प्रारम्भिक रचनाओं में होने के कारण कहीं-कहीं ब्रजभाषा का पुट भी है—

धर्मराज से दुर्योधन की इस प्रकार सुनि सिद्धि विशाल।
चिंतन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी संभाल॥

१९०१ से द्विवेदीजी पूर्ण रूप से खड़ी बोली में ही कविताएँ लिखने लगे। मई १९०१ की सरस्वती में विधि विडम्बना है—

भली बुरी बातें सुत की सब पिता सदा सुन लेता है;
अनुचित सुनि लेवें तो भी वह उसे क्षमा कर देता है।
तेरा तो त्रिभुवन में विश्रुत परम-पितामह नाम;
फिर तुझ से कहने सुनने में भय का है क्या काम॥

'हे कविते!' जून १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। कविता के संबंध में कवि कहता है :—

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है;
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे!
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है;
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही॥२२॥

ग्रन्थकारों के लक्षण 'ग्रंथकार लक्षण' व्यंग्य कविता में हैं। खड़ी बोली की यह कविता अगस्त १९०१ की सरस्वती में छपी थी। द्विवेदीजी द्वारा बतलाए ग्रंथकारों के लक्षण पठनीय हैं :—

शब्दशास्त्र है किसका नाम?
इस झगड़े से जिन्हें न काम;
नहीं विराम-चिन्ह तक रखना जिन लोगों को आता है।
इधर - उधर से जोर - बटोर,
लिखते हैं जो तोड़ - मरोड़;
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।

सितम्बर, १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित 'कोकिल' कविता बड़ी सरल और बालोपयोगी है—'कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है, सच कहते हैं अति बढ़िया है।
जिस रंगत के कुंवर कन्हाई, उसने भी वह रंगत पाई॥१॥'

'वसन्त' और 'ईश्वर की महिमा' कविताएँ १९०१ की सरस्वती में छपी थीं। इन्हीं दिनों द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित वैज्ञानिक कोष नागरी प्रचारिणी सभा,

काशी ने १९०१ में प्रकाशित किया।

द्विवेदीजी ने लाला सीताराम कृत कुमार सम्भव, मेघदूत और रघुवंश की टीकाओं की तीखी आलोचनाएँ कीं। पुस्तक रूप में इन्हें मर्चेन्ट प्रेस, कानपुर ने 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' शीर्षक से १९०१ में प्रकाशित किया। पुस्तक का आकार २२·५ सें० मी० तथा १५८ पृष्ठ हैं। इस दोष-मूलक समीक्षा का उद्देश्य कालिदास के गौरव की प्रतिष्ठा करना है। समालोचना की भाषा बड़ी ओजपूर्ण है।

'अनुवादक महोदय ने व्याकरण के नियमों की बहुत कम स्वाधीनता स्वीकार की है! कहीं क्रिया है तो कर्त्ता नहीं और कर्त्ता है तो क्रिया नहीं।'

इस आलोचना के प्रकाशित होने पर किसी ने इन पर व्यंग्य किया कि आप ही कुछ लिखकर दिखलाइये कि हिन्दी-कविता में कालिदास के भाव कैसे स्पष्ट किए जाएँ। पद्य में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने 'कुमारसम्भवसार' नाम से कालिदास कृत कुमारसम्भव के पाँच सर्गों का पद्यानुवाद किया। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने इसे पुस्तकाकार में ७ नवम्बर, १९०२ में प्रकाशित किया। अनुवाद का क्रमशः प्रकाशन 'भारत मित्र' कलकत्ते से हुआ था। ग्रंथ के अन्त में द्विवेदीजी अपना परिचय इस प्रकार देते हैं :—

रायबरेली के अन्तर्गत सुरसरि-तट दौलतपुर ग्राम,
श्री हनुमन्त तनय जिसमें थे रामसहाय द्विवेदी नाम।
उनके एक मात्र सुत मैंने यह कुमार सम्भव का सार,
अब के कवियों को प्रणाम कर किया यथामति किसी प्रकार ॥८७॥

'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' फरवरी, १९०२ की सरस्वती में छपी थी। 'सेवा वृत्ति की विगर्हणा' कविता ७ सितम्बर, १९०२ के अवध समाचार में प्रकाशित हुई। कवि सेवा या चाकरी को बड़ा हीन बतलाता है :

चाहे कुटी अति घने वन में बनावे;
चाहे बिना नमक कुत्सित अन्न खावे।
चाहे कभी नर नये पट भी न पावे;
सेवा प्रभो! पर न तू पर की करावे॥

वस्तुतः स्वतंत्रता अनमोल है :

स्वातंत्र्य-तुल्य अति ही अनूपम रत्न;
देखा न और बहु बार किया प्रयत्न।
स्वातंत्र्य में नरक बीच विशेषता है;
न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है॥

परतंत्रता में स्वर्ग भी सुखद नहीं हो सकता।

उन दिनों सरस्वती का सम्पादन बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, पंडित किशोरी

लाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर बी० ए०, बाबू राधाकृष्ण दास तथा बाबू श्यामसुन्दर दास करते थे। अन्य सम्पादकों के पृथक होने पर दो वर्ष बाद अकेले बाबू श्यामसुन्दर दास ही रह गए। बाबू चिन्तामणि घोष को स्थाई और परिश्रमी सम्पादक की आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि बाबू श्यामसुन्दर दास भी अधिक समय तक काम करने वाले न थे। इस कार्य के लिए घोष बाबू को द्विवेदीजी ही उपयुक्त प्रतीत हुए। २५ रु० मासिक एलाउन्स पर द्विवेदीजी ने सरस्वती सम्पादन का भार १९०३ से सम्हाला। वे सम्पादन कार्य को १९२० तक बड़ी लगन से करते रहे। सरस्वती विकास के साथ-साथ द्विवेदीजी का भी साहित्यिक रचनात्मक विकास हुआ।

'सरस्वती की विनय' फरवरी, मार्च १९०३ के अंक के लिए लिखी गई थी। सरस्वती विनय करती हुई कहती है :—

मेरे वाचक-वृन्द, तथा ग्राहक विज्ञाता,
विविध भाँति उत्साह और लेखों के दाता।
सम्पादक जो हुए आज तक मेरे बुध-वर,
सुखी रहें सब काल विनय यह है हे ईश्वर ॥४॥

'जन्मभूमि' भी इन्हीं दिनों लिखी गई :

जल अथवा थल के चारी,
घास-पात आदिक आहारी।
जीव जगत में जो रहते हैं,
जन्म भूमि को सब चहते हैं ॥५॥

स्वदेशी-विदेशी वस्त्र विवाद उठने पर 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' कविता जुलाई, १९०३ की सरस्वती के लिए रची—

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जावो पास, उससे दूर भागो।

अक्टूबर १९०३ की सरस्वती में श्री हार्नली-पंचक कविता निकली। इसी वर्ष द्विवेदीजी की कविताओं का पहला संकलन 'काव्य-मंजूषा' नाम से जैन वैद्य, जयपुर ने प्रकाशित किया। संकलन में १८९७ और १९०२ के बीच लिखी संस्कृत और हिन्दी की मौलिक कविताएँ हैं। १४९ पृष्ठों की पुस्तक का मुद्रण हरिप्रकाश और तारा यंत्रालय, बनारस में हुआ। संकलन में ३३ कविताएँ हैं।

नाट्य साहित्य के उस प्रारम्भिक काल में नाटककारों, पाठकों और दर्शकों को नाट्यकला का परिचय देने के लिये 'नाट्य शास्त्र' की रचना की। आचार्य

पद्धति से १९०३ में लिखी गई ५९ पृष्ठ की यह पुस्तक १९११ में इण्डियन प्रेस, प्रयाग ने प्रकाशित की। 'नाट्य शास्त्र' विवेचनात्मक शैली पर लिखा गया है।

उन्हीं दिनों नये रेलवे अधिकारी से न पटने पर द्विवेदी जी ने १५० रु० मासिक की रेलवे सर्विस छोड़ दी। वे जुही (कानपुर) आकर सरस्वती के सम्पादन, एवं अन्य साहित्यिक तथा सृजनात्मक कार्यों में ही सारा समय लगाने लगे।

सरस्वती सम्पादन काल में उन्होंने अनेक लेखकों, कवियों को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ उनका मार्ग प्रदर्शन भी किया। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली कविता को प्रमुख स्थान दिया, विराम चिह्नों का सही प्रयोग बतलाया और व्याकरण सम्बन्धी भूलों को इङ्गित कर गद्य का सही रूप स्थिर किया।

फरवरी, १९०५ में सरस्वती के माध्यम से ग्रंथकारों से विनय की है :—

हे ग्रंथकार, आगार गुणों के, ज्ञाता,
अति रुचिर मनोरम गद्य-पद्य-निर्म्माता।
क्षण भर के लिए समेट काम निज सारा,
सुनिए यह इतना विनय विनीत हमारा ॥१॥

मार्च, १९०५ की सरस्वती 'रम्भा' को उपस्थित करती है। रम्भा का रूप इस प्रकार है—

वेश विचित्र बनाया इसने,
मुख मयंक दिखलाया इसने।
भृकुटी धनुषाकार मनोहर,
अरुण दुकूल बहुत ही सुन्दर।

अगस्त, १९०५ की 'कुमुद सुन्दरी' की शोभा दर्शनीय है—

इसके अधर देख जब पाते,
शुष्क गुलाब फूल हो जाते।
कोमल इसकी देह लता है,
मूर्तिमती यह सुन्दरता है।

'महाश्वेता' के दर्शन इसी वर्ष सितम्बर के अंक में यों होते हैं—

यह सुन्दरी कहाँ से आई,
सुन्दरता अति अद्भुत पाई।
सूरत इसकी अति भोली है,
और न इसकी हमजोली है ॥

३० दिसम्बर, १९०५ को महिला परिषद्, काशी में गाए जाने के लिए महिला गीत लिखे। ये ४ गीत अगले माह की सरस्वती में प्रकाशित हुए हैं। अन्तिम गीत देशभक्ति का है—

प्यारा है सबसे हमको हिन्दुस्तान हमारा,
सुख दुख में हमेशा मेहरबान हमारा—
विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है,
क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा ॥

'वन्देमातरम् !' का सरल हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद जनवरी १९०६ की सरस्वती में प्रकाशित हुआ। 'ऊषा स्वप्न' भी इसी माह की रचना है। ऊषा स्वप्न में देखती है—

यदुवंशी अनिरुद्ध कुमारा,
रूप-राशि शोभा आगारा।
पास स्वप्न में उसके आया,
जी से वह ऊषा को भाया ॥

'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' आल्हा १९०६ जनवरी में प्रकाशित हुआ। शहरी जीवन और शहर के कोलाहल में ऊबा कवि कहता है—

हमरी नस नस बीच बियापे इरखा औरु लोभ महराज,
उनहिन की दीन्हीं खाइत है रोटी, छांड़ि लोक के लाज।
जहिका चही चढ़ाई ऊपर जहिका चही गिराई कीच,
हाय हाय अस हमें बेगारा सहरु यहु है अस नीच ॥

'प्यारा वतन' फरवरी, १९०६ की रचना है। कवि अपने बिछुड़े वतन की याद करता है—

बिछड़ा वतन हुआ यह बेजा,
फटता है सुध किये कलेजा।
गर्व अमीरी के सब तुझ पर,
मिले अगर तू, करें निछावर ॥

'जम्बुकी न्याय' और 'गौरी' बालोपयोगी सरल कविताएँ मार्च, १९०६ में छपीं। गौरी की कठोर तपस्या से—

इसकी देख तपस्या भारी,
हुए द्रवित कैलाश बिहारी।
की तब सब इसकी मन भाई,
कुछ दिन में यह हर-घर आई ॥

'आर्य्य भूमि' दसवें मराठी पत्र Message of young men का भावार्थ है। अप्रैल १९०६ की सरस्वती में प्रकाशित हुआ था—

जहां हुए व्यास मुनि प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तिमान।

जो थी जगत्पूजित धन्य भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य भूमि ॥

शहर और गांव का वार्तालाप भी इसी अंक में छपा। शहर की बात सुनकर गाँव कहता है—

ग़ौर करो तो मुझको जानो।
दिल में सोचो तो पहचानो ॥
अपने मुंह से सभी बड़े हैं।
तुमसे मिल लाखो बिगड़े हैं ॥

'शरीर रक्षा' और 'गंगा भीष्म' जून की सरस्वती में प्रकाशित हुई थीं। कवि कहता है—

जो कोई जग में आता है,
सुख-दुख दोनों ही पाता है।
विधि ही यह जोड़ा निर्म्माता,
यह न किसी से तोड़ा जाता ॥

तत्कालीन भारत की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में स्वदेशी आन्दोलन और बायकाट में कवि का मत है—

लूटा तुझे बहुत बार खुले-खजाना,
तातार-गौर-गजनी नृप ने न माना।
पै लूट, आज-कल, जो यह हो रही है,
तू सोच देख उससे बढ़ के कहीं है ॥

कान्यकुब्ज अबला विलाप, कवि और स्वतंत्रता, कर्त्तव्य पंचदशी, टेसूँ की टांग, ठहरौनी और प्रियंवदा आदि रचनाएँ १९०६ की हैं। ठहरौनी की आलोचना करते हुये कवि कहता है—

लड़के के विवाह में कहिये मोल-तोल क्यों करते हो ?
इस काले कलंक को हा हा ! क्यों अपने सिर धरते हो ?
जिनके नहीं शक्ति देने की क्यों उनका धन हरते हो ?
चढ़कर उच्च सुयश-सीढ़ी पर क्यों इस भांति उतरते हो ?

हर्बर्ट स्पैंसर के 'एजूकेशन' का अनुवाद भी द्विवेदीजी ने किया। 'शिक्षा' नामक यह रूपान्तर इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से १९०६ में प्रकाशित हुआ। हिन्दी के लिए इस नवीन विषय की पुस्तक में ४०३ पृष्ठ हैं। ग्रंथ में बुद्धि, शरीर और चरित्र-शिक्षा की विशद विवेचना है। विचारों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए नये-पुराने उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। 'अर्थात्' आदि का प्रयोग कर निष्कर्ष स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है।

'शिक्षा' की भूमिका बड़ी सबल है-

"जो मनुष्य अपनी सन्तति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते, अथवा जान-बूझ कर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं, उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं, उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।"

कुने लुई के जल-चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्त 'जल-चिकित्सा' पुस्तक में है। यह रूपान्तर १९०७ में इण्डियन प्रेस से प्रकाशित हुआ। शैली वर्णनात्मक है। इसी वर्ष जॉन स्टुअर्ट मिल के 'आन लिबर्टी' निबन्ध का अनुवाद किया। हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई ने इसे 'स्वाधीनता' शीर्षक से प्रकाशित किया। इस लघु पुस्तक के प्रारम्भ में मूल लेखक की जीवनी है। पुस्तक में विचार और विवेचना की स्वाधीनता, व्यक्ति विशेषता, व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा आदि का विवरण है। वाक्य छोटे, सरल, सुबोध तथा शैली प्रवाहमय है। भाषा को सरल बनाने के चक्कर में उर्दू शब्दों का प्रयोग अधिक है। अनुवाद से प्रसन्न हो छत्रपुर के महाराजा ने द्विवेदी जी को ५०० पुरस्कार स्वरूप दिये थे।

इन्हीं दिनों संस्कृत कवि विल्हण के विक्रमांक देव चरितम् की आलोचना की। यह परिचयात्मक आलोचना 'विक्रमांक देव चरित चर्चा' शीर्षक से इण्डियन प्रेस, प्रयाग, ने १९०७ में प्रकाशित की। आलोचना का उद्देश्य हिन्दी पाठकों को संस्कृत साहित्य का परिचय देना है। ९६ पृष्ठों की पुस्तक 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' इण्डियन प्रेस, प्रयाग से इसी वर्ष प्रकाशित हुई।

द्विवेदीजी के चरित्र और उनकी शैली के अध्ययन की दृष्टि से 'कौटिल्य कुठार' का महत्व कम नहीं। १९०७ में लिखी यह रचना अप्रकाशित तथा नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित है। लेखक ने अपने क्रोध और उग्रता का उल्लेख भी किया है। शैली कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक हो गई है। वस्तुत: द्विवेदीजी के भावपूर्ण उद्‌गारों का संग्रह ही 'कौटिल्य कुठार' है। द्विवेदीजी के सभा को भेजे गए एक वक्तव्य का परिवर्द्धित रूप 'कौटिल्य कुठार' है।

'सम्पत्ति शास्त्र' १९०७ की रचना है। इस सचित्र पुस्तक का प्रकाशन अगले वर्ष इण्डियन प्रेस, प्रयाग ने किया। ३९९ पृष्ठों के विशद ग्रंथ में सम्पत्ति के स्वरूप, वृद्धि, विनिमय, वितरण और उपयोग, साख, बैंकिंग, बीमा, व्यापार और कर आदि की विस्तृत विवेचना है। पुस्तक में उन्हीं पश्चिमीय सिद्धान्तों को स्वीकार किया है, जो भारत के लिये उपयोगी प्रतीत हुए। आज भी इस ग्रंथ का महत्व कम नहीं।

सरस्वती की 'इन्दिरा' कविता भी १९०७ में प्रकाशित हुई।

महावीर प्रसाद जी ने संस्कृत महाभारत कथा का हिन्दी रूपान्तर १९०८ में किया। 'महाभारत मूल आख्यान' शीर्षक से इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने इसे १९१० में प्रकाशित किया। पुस्तक का आकार २४ सें०मी० तथा ५१७ पृष्ठ हैं।

भूमिका से स्पष्ट है कि यह स्वच्छन्द हिन्दी अनुवाद सुरेन्द्रनाथ ठाकुर के बंगला रूपान्तर से किया गया है। द्विवेदीजी के शब्दों में "अनुवाद में बोल-चाल की सीधी-सादी भाषा से काम लिया गया है। क्लिष्टता न आने का यथा सम्भव यत्न किया गया है।

१९०९ में इण्डियन प्रेस से द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'कविता कलाप' नामक सचित्र कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। संग्रह में द्विवेदीजी की कविताओं के साथ साथ राय देवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर प्रेमी, कामेश्वर नाथ गुरु, मैथिलीशरण गुप्त आदि की भी कविताएँ हैं।

'कालिदास की निरंकुशता' कालिदास की एकांगी समीक्षा है। ८८ पृष्ठों की यह पुस्तक इण्डियन प्रेस से १९११ में प्रकाशित हुई। रचना का उद्देश्य केवल मनोरंजन कहा जा सकता है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल का कथन हैं—

'यह पुस्तक हिन्दी वालों के या संस्कृत वालों के फायदे के लिए लिखी गई है, यह ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता।' पुस्तक के भाव संस्कृत टीकाकारों पर ही आधारित हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन के लिए निम्नलिखित 'सन्देश' १९११ में रचा गया :

> सुनिए सब सज्जन, विद्वजन, प्रिय हिन्दी भाषा-भाषी,
> पूज्य, पवित्र मातृभाषा की उन्नति के अति अभिलाषी।
> प्रबल प्रेरणा से हिन्दी की यहां आज मैं आया हूं,
> उसका ही सन्देश आपको स्वल्प सुनाने लाया हूँ ॥१॥

कालिदास के रघुवंश का भावार्थ बोधक गद्यानुवाद इण्डियन प्रेस से १९१३ में प्रकाशित हुआ। रघुवंश का आकार २१ सें०मी० और २६६ पृष्ठ हैं। नारायण भट्ट के वेणी संहार नाटक का आख्यायिका के रूप में भावार्थ इसी वर्ष कामर्शियल प्रेस कानपुर से प्रकाशित हुआ। "क्या जैसे तू भी अभी भाग आया है वैसे ही क्या मैं भी भाग आया हूँ ?" (पृ० ५१) में शब्दों की पुनरावृत्ति है। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी कम नहीं है।

कालिदास के 'कुमार-सम्भव' का गद्यानुवाद १९१५ में हुआ। इण्डियन प्रेस, प्रयाग ने इसे १९१७ में प्रकाशित किया। 'मेघदूत' का हिन्दी गद्य में भावार्थ बोधक अनुवाद भी इन्हीं दिनों का प्रकाशन है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य का हिन्दी गद्य में भावार्थ बोधक अनुवाद ३८७ पृष्ठों में है। इन सभी गद्यानुवादों का उद्देश्य हिन्दी पाठकों को संस्कृत महाकाव्यों से परिचित कराना है।

"प्राचीन पण्डित और कवि" तथा 'वनिता विलास' सरस्वती में प्रकाशित

लेखों का संकलन है। ये संकलन १९१८ और १९१९ में कामर्शियल प्रेस, कानपुर से प्रकाशित हुए। वनिता विलास में नारियों के जीवन-चरित हैं। कालिदास सम्बन्धी ९ लेख राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, जबलपुर ने १९२० में कालिदास शीर्षक से प्रकाशित किए।

सरस्वती में प्रकाशित साहित्यिक लेखों का संग्रह 'रसज्ञ रंजन' इण्डियन प्रेस से १९२० में प्रकाशित हुआ। 'औद्योगिकी' में भी सरस्वती के लेख हैं। सरस्वती के लिये लिखे गये कवियों और विद्वानों के जीवन चरित का संकलन 'सुकवि संकीर्तन' १९२४ का प्रकाशन है। 'सुमन' द्विवेदीजी द्वारा चुनी और मैथिलीशरण गुप्त द्वारा सम्पादित संस्कृत और हिन्दी कविताओं का संकलन है।

तेरहवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में द्विवेदी जी ने स्वागताध्यक्ष का भार सम्हाला था।

'अतीत स्मृति' सरस्वती के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक लेखों का संग्रह है। रामकिशोर शुक्ल ने १९२४ में मुरादाबाद से इसे प्रकाशित किया। इसी वर्ष के प्रकाशन 'साहित्य-संदर्भ' और 'अद्भुत आलाप' में भी सरस्वती के लेख हैं।

गंगा पुस्तकमाला लखनऊ ने १९२५ में महिलाओं सम्बन्धी १० लेख 'महिला मोद' में प्रकाशित किए।

आध्यात्मिकी, आख्यायिका सप्तक और विज्ञ विनोद १९२६ के प्रकाशन हैं। लेखों का चयन सरस्वती के लेखों से किया गया है। कोविद कीर्तन, विदेशी विद्वान, चरित चर्या और पुरावृत्त संकलन १९२७ के हैं। अगले वर्ष के संकलित प्रकाशन दृष्यदर्शन, आलोचनांजलि, समालोचना समुच्चय, वैचित्र्य चित्रण और लेखांजलि हैं। विज्ञानवार्त्ता, साहित्य सीकर और वाग्विलास १९३० तथा संकलन और विचार विमर्श १९३१ के प्रकाशन हैं। प्राचीन चिह्न, चरित चित्रण तथा साहित्यालाप संकलन १९२९ में छपे थे।

उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर लिखे लेखों का संग्रह 'प्रबन्ध पुष्पांजलि' साहित्य सदन झांसी का १९३५ का प्रकाशन है।

सरस्वती से अवकाश लेने पर १९२० से द्विवेदी जी जुही (कानपुर) रहने लगे। इन दिनों उन्होंने सरस्वती में प्रकाशित अपनी रचनाओं को संकलित कर उनका पुस्तकाकार प्रकाशन किया। अतएव द्विवेदी जी की बाद की सभी रचनाएँ सरस्वती में प्रकाशित जीवनियों, लेखों के संग्रह हैं।

द्विवेदी जी के सम्पूर्ण साहित्य को देखने पर विदित होता है कि उनके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ संस्कृत ग्रंथों के अनुवादों से हुआ। उन्होंने लगभग ७ ग्रंथों का पद्यानुवाद और ८ ग्रंथों का गद्यानुवाद किया। अंग्रेजी की ४ पुस्तकों का गद्य में तथा १ का पद्य में भावानुवाद किया। मौलिक काव्य पुस्तकों की संख्या लगभग ७ और गद्य की लगभग ५० पुस्तकें हैं।

प्रकाशकों में इण्डियन प्रेस, प्रयाग का स्थान प्रमुख है। कुछ पुस्तकें खेमराज कृष्णदास, बम्बई; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ; हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई ; मर्चेन्ट तथा कमर्शियल प्रेस, कानपुर ; राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, जबलपुर ; साहित्य सदन चिरगाँव, झांसी ; गंगा पुस्तक माला, और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ तथा भारती भण्डार, बनारस और हिन्दी प्रेस इलाहाबाद ने भी प्रकाशित कीं।

कविताएँ तथा लेख प्रायः सरस्वती में ही प्रकाशित हुए। सरस्वती प्रकाशन के पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भारत मित्र, हिन्दी बंगवासी, हिन्दोस्थान, भारत जीवन, सुदर्शन और वैंकटेश्वर समाचार में भी कविताएँ प्रकाशित हुई थीं।

सम्पूर्ण रूप से द्विवेदी-साहित्य में संस्कृत के अतिरिक्त ब्रज और खड़ी बोली का काव्य, लेख, जीवन चरित, शिक्षाप्रद लेख, व्यंग-विनोद और अनुवाद आदि साहित्य के सभी रूप विद्यमान हैं।

*

"सामयिक साहित्य में कविता की जो द्विवेदी जी की विरासत है, वह अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की सन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमें काव्य-कला का वास्तविक जीवन-स्पन्दन कहीं-कहीं ही मिलता है।

खड़ी बोली को छन्दों के साँचे में ढाल देना एक अनभ्यस्त कार्य कर दिखाना-जब सध गया; तब द्विवेदी जी ने छन्द की मशीनरी को भी अपने उसी प्रचार कार्य में लगाया। उस काल की कविता का अलंकार उसकी सरलता और सामयिकता है। हृदय के निष्कपट उद्गार चाहे वे रूखे उदगार ही हों—उसमें भरे हैं······ कविता का चोला बदल गया।"

डा० श्यामसुन्दर दास

किसी दूसरे के घर जायेगा ?[३६] जीव को तो ब्रह्म के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना चाहिये। 'न मेरा ही कुछ अस्तित्व है, न कुछ मेरा है। यह तन, यह धन, सारा रस गोविंद तेरा ही है।'[३७] कबीर कहते हैं—'हे दीनदयाल, तेरे ही भरोसे मैंने सारे परिवार को इस बेड़े पर चढ़ा दिया है। जैसा चाहे, हुकुम दे। किसी तरह इस बेड़े को पार लगा।'[३८] इस अनन्यभाव से आत्मसमर्पण करने में अपार सुख है। कबीर कहते हैं—'मैंने यह समझ लिया कि जो मुझे प्राप्त है, वह तेरे कारण है, जो प्राप्त होगा, वह तेरे कारण होगा। जो इस तरह समझ लेता है, वही सहज में समा जाता है। इस धारणा के जाग्रत होते ही सांसारिक संघर्षों का नाश हो गया और मन स्वतः ही ईश्वर

---

३६ रे जीअ निलज लाज तुहि नाही।
हरि तजि कत काहू के जाही॥
जाको ठाकुर ऊचा होई॥
सो जनु पर घर जात न सोई॥

(राग गउड़ी, ३८)

३७ मैं नाहीं कछु आहि न मोरा।
तनु धनु सभु रसु गोविंद तोरा॥

(वही, ६०)

३८ दीन दइआल भरोसे तेरे।
सभु परिवारु चड़ाइआ बेड़े॥
जा तिसु भावै ता हुकमु मनावै।
इस बेड़े कउ पारि लघावै॥

(वही, ६१)

था। युग-प्रवर्तक भारतेन्दु ने ही अपने अल्प जीवनकाल में हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य का काया-कल्प कर दिया और जीवन की यथार्थता से उसका परिचय करा दिया। हिन्दी साहित्य क्षेत्र में भारतेन्दु के पदार्पण से पहले खड़ी बोली गद्य का कोई रूप निश्चित नहीं हुआ था। मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज' इन्शाअल्ला खाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र खड़ी बोली गद्य में अपने नाना प्रयोग कर चुके थे। राजा शिवप्रसाद ने भी स्कूलों के पाठ्यक्रम के लिए गद्य की कुछ पुस्तकें लिखी थीं और कतिपय राजनीतिक कारणों से उनकी भाषा में अरबी, फारसी की शब्दावली की प्रधानता हो रही थी। उनकी इस "आमकदम" भाषा-नीति के प्रतिक्रिया-स्वरूप राजा लक्ष्मणसिंह ने संवत् १९१६ में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का शुद्ध हिन्दी में अनुवाद करके यह प्रतिपादित कर दिया था कि "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं", भाषा की ऐसी विवादास्पद परि-स्थिति में भी भारतेन्दु को खड़ी बोली गद्य के सहज और प्रकृत रूप को पहिचानने में देर न लगी। उन्होंने जनता की बोलचाल की भाषा को अपनाया। वे न तो उर्दू-ए-मुअल्ला के पक्षपाती थे और न राजा लक्ष्मणसिंह की भाँति उन्हें उर्दू शब्दों से परहेज था। सन् १८६८ ई० में उन्होंने अपने प्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' में इस चलती हुई सरस भाषा का प्रयोग किया। "जब भारतेन्दु अपनी मँजी हुई परि-ष्कृत भाषा सामने लाए तब हिन्दी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्तावकाल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।" [1]

हिन्दी भाषा को सशक्त और हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने के लिए भारतेन्दु ने रत्नावली, धनंजयविजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर मंजरी, मर्चेन्ट आफ बेनिस, जैसे संस्कृत, प्राकृत और अंग्रेजी नाटकों का हिन्दी में सफल अनुवाद किया। उनके 'विद्यासुन्दर' और 'भारतजननी' नाटक भी बंगला के छायानुवाद हैं। 'रत्नावली' की भूमिका में वे अपने अभिप्राय को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—"हिन्दी भाषा में जो सब भाँति की पुस्तकें बनने योग्य हैं, अभी बहुत कम बनी हैं, विशेष करके नाटक तो (कुँवर लक्ष्मण सिंह के शकुन्तला के सिवाय) कोई भी ऐसे नहीं बने हैं जिनको पढ़के चित्त को कुछ आनन्द और इस भाषा का बल प्रकट हो। इस वास्ते मेरी ऐसी इच्छा है कि दो चार नाटकों का तर्जुमा हिन्दी में हो जाय तो मेरा मनोरथ सिद्ध हो। [2] जहाँ एक ओर भारतेन्दु ने अपने नाटकों के माध्यम से जनसाधारण में नव-चेतना स्फुटित करने का प्रयास किया [3] वहाँ दूसरी ओर

---

१ रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पाँचवाँ संस्करण पृ० ४५०

२ भारतेन्दु ग्रन्थावली, पहला खंड। प्रथम संस्करण पृ० ४३

३ आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल। भारतेन्दु कला। प्रथम संस्करण पृ० ११७

साक्षर लोगों के मानसिक स्तर को ऊँचा करने के लिए और उन्हें देश की सामयिक समस्याओं से अवगत कराने के लिए सन् १८६८ ई० में 'कविवचनसुधा' और सन् १८७३ ई० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (आठ संख्याओं के बाद हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका) पत्रिकाएँ निकालीं। 'कालचक्र' में उन्होंने स्वयं लिखा—'हिन्दी नए चाल में ढली—१८७३'। इस चन्द्रिका में राजनीतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, वैज्ञानिक लेखों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति के लिए नाटक, उपन्यास, निबन्ध, जीवन चरित आदि का प्रकाशन होता था। भारतीय नारी के लिए भारतेन्दु ने 'बालाबोधिनी' पत्रिका निकाली।

उपन्यास की ओर भी उनका ध्यान गया था। इसीलिए 'राजसिंह' और 'पूर्ण प्रभाचन्द्र प्रकाश' जैसे उपन्यासों का उन्होंने अनुवाद किया। यदि वे कुछ दिन और जीवित रहते तो अवश्य ही उनकी लेखनी सुन्दर उपन्यासों की सृष्टि करती। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास, श्रीनिवासदास द्वारा लिखित 'परीक्षा-गुरु' सन् १८८३ ई० में उनके जीवनकाल में ही प्रकाशित हुआ था।

भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने कुछ ही वर्षों में गद्य को सशक्त और पुष्ट कर दिया किन्तु भाषा की बारीकियों की ओर वे ध्यान न दे सके। इसलिए 'बड़ी ताड़ना किया,' 'आज्ञा किया' जैसे प्रयोग उनकी भाषा में कहीं-कहीं मिलते हैं।

भारतेन्दु ने अपनी काव्य-सृष्टि ब्रज-भाषा में ही की किन्तु अलंकारों से लदी हुई रीतिबद्ध काव्य-परम्परा का उन्होंने यथावत् अनुसरण नहीं किया। 'हिन्दी की ह्रासकारिणी शृङ्गारी कविता के प्रति आन्दोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझ जाना चाहिए जिस दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द ने अपने 'भारत दुर्दशा' नाटक के प्रारम्भ में समस्त देशवासियों को सम्बोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने के लिए आमंत्रित किया था—

'रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥'

उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था, उस दिन रूढ़ियों की अनिष्टकर परम्परा के विरुद्ध प्रबल क्रान्ति की घोषणा हुई थी।[1]

भारतेन्दु ने खड़ी बोली में भी कविता करने की कोशिश की थी। 'फूलों का गुच्छा' नामक पुस्तक में उनकी खड़ी बोली में लिखी गई लावनियाँ संगृहीत हैं। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय के मतानुसार तो 'हिन्दी में स्पष्ट रूप से खड़ी बोली रचना का प्रारम्भ इसी ग्रन्थ से होता है। मैं यह नहीं भूलता हूँ कि यदि सच्चा श्रेय हिन्दी में खड़ी बोली की कविता पहले लिखने का किसी को प्राप्त है तो वे महन्त

---

१ श्यामसुन्दर दास—हिन्दी साहित्य, नवम् संस्करण। पृ० २७८-७९

सीतलदास हैं। वरन् मैं यह कहता हूँ कि इस उन्नीसवीं शताब्दी में पहले-पहल यह कार्य भारतेन्दु जी ने किया।[१] भारतेन्दु के कुछ एक नाटकों में भी कहीं-कहीं खड़ी बोली पद्य का प्रयोग हुआ है।'

हिन्दी साहित्य में 'निबन्ध' की उत्पत्ति भारतेन्दु द्वारा ही मानी जाती है। उन्होंने साहित्यिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि विषयों पर अगणित निबन्धों की सृष्टि की। रामानुजाचार्य, शंकराचार्य, सुकरात, कालिदास जैसे महान् व्यक्तियों के जीवनचरित लिखे। इनके कुछ यात्रा-वर्णन भी अत्यन्त रोचक हैं। भारतेन्दु की ज्योत्सना ने हिन्दी साहित्य के अन्धकार को दूर कर दिया और उसने नवीन पथ पर अभी चलना ही शुरु किया था कि सन् १८८५ ई० में भारतेन्दु के अस्त हो जाने से उसके कदम फिर डगमगाने लगे। नेतृत्वहीन साहित्य को दिशाभ्रम हो गया।

भारतेन्दु के बाद नाटक-रचना का उत्साह मन्द पड़ गया। बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत के कुछ नाटकों का अनुवाद हुआ। ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों को लेकर कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गए। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट-चपेट' प्रहसन और 'मयंक मंजरी' नाटक सन् १८९१ ई० में लिखा। पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सन् १८९४ ई० 'रुक्मिणी परिणय' और सन् १८९३ में 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग,' नाटक लिखे। पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'प्रभास मिलन', 'मीराबाई', 'लल्ला बाबू' तीन नाटक लिखे। रायदेवी प्रसाद पूर्ण ने कल्पित कथा को लेकर 'चन्द्रकला भानुकुमार' नाटक लिखा।

उस समय उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के असंख्य उपन्यासों को हिन्दी में अनूदित किया गया। बाबू देवकीनन्दन खत्री का मौलिक उपन्यास 'चन्द्रकान्ता (चार भाग) सन् १८८७ में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (२४ भाग) और 'भूतनाथ' (२१ भाग) उपन्यास भी लिखे। इनकी भाषा 'हिन्दोस्तानी' है।

इन घटना प्रधान ऐयारी उपन्यासों के जनप्रिय हो जाने के कारण बाबू गोपालराम गहमरी ने जासूसी उपन्यास लिखे। पैंसठ उपन्यासों के लेखक पंडित किशोरीलाल गोस्वामी का सबसे पहला उपन्यास 'प्रणयिनी-परिणय' सन् १८९० ई० में प्रकाशित हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने केवल किशोरीलाल गोस्वामी को ही इस काल का साहित्यिक उपन्यासकार माना है। किन्तु इनकी भाषा कहीं तो संस्कृतमयी है और कहीं उर्दू-ए-मुअल्ला। बाबू राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दु' भी सन् १८९० ई० में प्रकाशित हुआ। ठेठ हिन्दी भाषा के नमूने प्रस्तुत करने के लिए पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने सन् १८९९ ई० में 'ठेठ हिन्दी का

---

१ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास। द्वितीय संस्करण। पृ० ५०६।

ठाठ' लिखा। पंडित लज्जाराम मेहता ने 'धूर्त रसिकलाल' (सन् १८९९ ई०), 'आदर्श दम्पत्ति,' 'हिन्दू गृहस्थ' सन् १९०४ ई० के लगभग लिखे। यह उपन्यास-कला का प्रयोगकाल था इसलिए ऊंच स्तर के उपन्यास नहीं लिखे गए।

भारतेन्दु के स्वर्गवास के बाद अयोध्या प्रसाद खत्री ने हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा को एक बनाने के लिये बहुत बड़ा आन्दोलन शुरु किया। खत्रीजी ने सन् १८८७ ई० में खड़ी बोली की विभिन्न पद्य रचनाओं के एक संग्रह को "खड़ी बोली का पद्य, पहला भाग" नाम से छपवाया। इसी पुस्तक का अन्य संस्करण सन् १८८८ में लन्दन से पिन्कोट साहब के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। खत्रीजी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था खड़ी बोली का प्रचार किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित खड़ी बोली और हरिश्चन्द्र की खड़ी बोली में महान् अन्तर था। खत्री जी ने खड़ी बोली की पाँच शैलियाँ मानी है :—

ठेठ हिन्दी, पंडित हिन्दी, मुन्शी हिन्दी, मौलवी हिन्दी और यूरेशियन हिन्दी। इनमें से उन्होंने "मुन्शी हिन्दी" को सर्वमान्य और शिष्ट हिन्दी माना है और राय सोहनलाल को इस शैली का आदर्श लेखक "खड़ी बोली का पद्य, पहिला भाग" की भूमिका में खत्री जी लिखते हैं:—"Munshi Hindi is midway between the Pandit's and Maulvi's Hindi and is styled by European scholars as Hindusthani......... Popular scientific terms indifferent of Arabic, Sanskrit or any classic origin have also been coined in the Munshi style by Rai Sohan lal, the late very able headmaster of Patna Normal school and now translater to the Bengal Govt. who may without opposition be styled as the father of Munshi style. Thus the style is becoming complete language in itself."[1]

"खड़ी बोली का आन्दोलन" पृ० १५९-१६० पर अवतरित, उक्त पुस्तक में राय सोहनलाल की जो कविताएँ हैं उनमें से एक की भाषा का नमूना यह है—

"जमीं नूर और आसमां नूर था, समा एक अनोखा बना नूर था।
हुनर का जिसे देख उड़ जाय रंग, समझ सामने जिसके हो जाय दंग॥"[२]

खत्री जी के इस आन्दोलन का विरोध करने वाले थे ब्रजभाषा के समर्थक, राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र, शिवनाथ शर्मा, ग्रियर्सन आदि।

---

1 Pincott–Khari Boli ka Padya I vol. —W. H. Allen & Co. London-1818.

२ शितिकंठ मिश्र—खड़ी बोली का आन्दोलन। प्रथम संस्करण। पृ० १६१

समर्थन करने वालों में मुख्य थे श्रीधर पाठक जिनके द्वारा १८८४ ई० से खड़ी बोली में थोड़ा बहुत पद्यानुवाद कार्य आरम्भ हो चुका था। सन् १८८६ ई० में इन्होंने गोल्डस्मिथ के 'हर्मिट' का खड़ी बोली पद्य में जो अनुवाद किया उसका नाम था 'एकान्तवासी योगी'। इस पुस्तक से खड़ी बोली आन्दोलन को बहुत बल मिला। किन्तु श्रीधर पाठक ने खत्रीजी का पक्ष लेते हुए भी उनकी मुन्शी शैली को नहीं अपनाया

जिस प्रकार भारतेन्दु से पहले खड़ी बोली का स्वरूप अनिश्चित था उसी प्रकार उनके बाद भी कुछ वैसी ही परिस्थिति हो गई। लेखक मनमानी भाषा का प्रयोग कर रहे थे। अनुवादक प्रायः शब्दानुवाद करते समय विचित्र भाषा का प्रयोग कर देते जिससे उनकी हिन्दी अस्वाभाविक मालुम पड़ती। भाषा की अराजकता के समय पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी-बोली के वास्तविक रूप की पुनः प्रतिष्ठा की। 'हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था' शीर्षक लेख में भाषा विषयक अपने विचारों को उन्होंने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—'आजकल कुछ लेखक तो ऐसी हिन्दी लिखते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अँग्रेजी, फारसी, अरबी सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशीय शब्दों का बिल्कुल ही प्रयोग नहीं करते, ढूंढ़-ढूंढ़ कर ठेठ हिन्दी शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिन्दी के शब्द समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी की कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है। अरबी-फारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते हैं, उनका बहिष्कार किसी प्रकार सम्भव नहीं।'[1]

भाषा की इस अव्यवस्था की ओर द्विवेदी जी का ध्यान सरस्वती-सम्पादन से पहले ही जा चुका था। सन् १८९६ ई० में प्रकाशित 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना' में तो उन्होंने उसके भाषादोष पर एक अध्याय ही लिख डाला था। सन् १९०१ ई० में प्रकाशित 'हिन्दी कालिदास की आलोचना', में भी अनुवाद की भाषा और व्याकरण की त्रुटियों का विशद विवेचन किया है। सन् १९०३ ई० में जब द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक बने तो भाषा को सुव्यवस्थित करने का मानो उन्होंने प्रण ही कर लिया। सन् १९०५ ई० और सन् १९०६ ई० में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक इनके दो लेख प्रकाशित हुए। इनमें उन्होंने अन्य लेखकों के साथ बाबू बालमुकुन्द गुप्त की भाषा के दोष दिखलाये जिससे हिन्दी साहित्य में एक तूफान ही उमड़ पड़ा। किन्तु भाषा की शुद्धि और अशुद्धि की चर्चा से यह लाभ हुआ कि हिन्दी के लेखक कुछ सावधान होकर लिखने लगे।

---

१ सरस्वती भाग १२, संख्या १०, पृ० ४७३।

द्विवेदीजी ने भाषा सम्बन्धी अपने विचारों को लेखों द्वारा अभिव्यक्त करके ही सन्तोष नहीं कर लिया। सरस्वती में प्रकाशनार्थ आई हुई समस्त सामग्री का वे बड़े ध्यान से संशोधन करके छापते। तब तक शब्दों का रूप स्थिर नहीं हुआ था। 'हमैं', 'उन्हैं', 'सक्ता' 'कीया' 'जिन्हों का' 'उन्हों का' आदि अशुद्ध शब्दों का प्रयोग होता था। किन्तु द्विवेदी जी की पैनी दृष्टि से भाषा का कोई दोष छिप नहीं सकता था। 'सरस्वती' के सम्पादक पद पर बैठकर उन्होंने अपने कड़े अनुशासन द्वारा भाषा को परिमार्जित और सुव्यवस्थित करके उसे निश्चित मार्ग पर चलाया।

जिस समय द्विवेदी जी कार्यक्षेत्र में उतरे उस समय यद्यपि खड़ी बोली कविता का आरम्भिक-काल था और उसमें काव्यत्व का अभाव था। तथापि द्विवेदी जी खड़ी बोली की शक्ति और उसकी व्यावहारिकता को अच्छी तरह से समझ चुके थे। वे जानते थे कि पुरातनता के मोह के कारण ब्रजमाधुरी युग के नवीन दृष्टिकोण को नहीं अभिव्यक्त कर सकती। इसीलिए उन्होंने ब्रजभाषा काव्य का विरोध किया।

बम्बई जैसे आधुनिक नगर में कुछ वर्ष रहने के कारण द्विवेदी जी को समय की गतिविधि का आभास मिल चुका था। ईसाई धर्म प्रचार और अँग्रेजी शिक्षा के प्रतिक्रिया स्वरूप जनता में अपने देश, धर्म, अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति गौरव भावना का जो बीजारोपण भारतेन्दु के समय में हो चुका था वही इंडियन नेशनल काँग्रेस के स्वदेशी आन्दोलन से पल्लवित हो रहा था। दूसरी ओर आर्य समाज द्वारा व्यक्ति के आचार और विचार की शुद्धता विषयक विचारों का प्रचार हो रहा था। अपने समय की इन विशेषताओं का द्विवेदी जी के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ा। उनके निरन्तर प्रयास से खड़ी-बोली कविता में धीरे २ ये नवीन विचार अभिव्यक्त होने लगे।

द्विवेदी जी ने स्वयं सन् १८८६ ई० से लेकर सन् १८६२ ई० तक केवल ब्रजभाषा में ही काव्य रचना की। सन् १६०२ ई० में द्विवेदीजी ने "कुमार-सम्भवम्" के प्रथम पाँच सर्गों के भावानुवाद द्वारा खड़ी बोली कविता का एक सुन्दर आदर्श सामने रखा। वे खड़ी बोली की कविताएँ लिखने के लिए कवियों को सदा प्रोत्साहित करते। "मुझको यह ज्ञात है कि जो खड़ी बोलचाल की कवितायें उनके पास उस समय 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिए जाती थीं उनका संशोधन वे बड़े परिश्रम से करते थे और संशोधित कविता को ही 'सरस्वती' में प्रकाशित करते थे। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता था कि खड़ी बोली की कविता करनेवालों का ज्ञान बढ़ता था और वे यह जान सकते थे कि उनको किस मार्ग पर चलना चाहिए"[1] एक बार गुप्त जी की "क्रोधाष्टक" तुकबन्दी

१ अयोध्यासिंह उपाध्याय—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास द्वितीय संस्करण। पृ० ५५५

सकति अहेड़ै मिस रिध[1], कोस वल स्यूं[2] बागो।
गोरष कहैं चालती मारू[3], कान गुरू[4] तौ लागो[5] ॥२६८॥
नाथ कहै मेरा दून्यौ[6] पंथ पूरा। जत नहीं तौ सत का नीसूरा[7]।
जत सत किरिया[8] रहणि हमारी। और वलि बाकलि देवि तुम्हारी॥२६९
कथणी कथै सो सिष बोलिये[9], बेद पढ़ै सो नाती।
रहणी रहै सो गुरू[10] हमारा, हम रहता का साथी ॥२७०॥

दान देते हैं योगी उसीसे भिक्षा मांगते हैं कुंडलिनी शक्ति-स्वरूपा अर्थात् माया है। गृहस्थ का जंजाल माया को अधिकाधिक स्थूल बनाता जाता है जिससे कुंडलिनी सो जाती है। माया की स्थूलता का हरण कर योग कुंडलिनी को जागृत करता है। मणिपूर चक्र में कुंडलिनी का निवास माना जाता है। मणिपूर चक्र को और उस के संसर्ग से कुंडलिनी को भी, धरती कहते हैं।

पश्चिम, पश्चात् भाग अर्थात् सुषुम्ना या साधकावस्था अथवा माया ॥ २६७ ॥

शक्ति ने मृगया में ऋद्धि और कोष के बहाने बलपूर्वक हल्ला बोल दिया। (किन्तु मैंने भी) गुरु से दीक्षा तब प्राप्त की है, (गुरु का चेला तब हूँ) जब चलती ही को मार डालूँ ॥ २६८ ॥

नाथ कहते हैं कि मेरे दोनों पंथ पूरे हैं। शारीरिक संयम (यत) और हृदय का दृढ़ भाव (सत) (ये दोनों एक दूसरे के बिना चल नहीं सकते) बिना जत के, सत के शूर भी नहीं हो सकते, यत और सत की क्रिया हमारी रहनी है और हे देवि ! (माया !) बलि और बकरे (बाकलि (? रि)) तुम्हारे ॥ २६९ ॥

जो कथनी कहा करता है, वह हम से छोटा है, बेद पाठी उससे भी छोटा और जो रहनी रहता है वह हम से श्रेष्ठ है, (हमारा गुरु है) जो रहनी रहता है अथवा जो सत्तत्व, रहता, अथवा रहने वाला है) हम उसके साथी हैं ॥ २७० ॥

---

१. (ख) रीध। २ (ख) स्युं। ३. (ख) मारु। ४. (ख) गरु। ५. (ख) लागौ। ६. (ख) दुन्यौ। ७. (ख) सुरा। ८. (ख) कीरीया। ९. सीष बोलीये १०. (ख) गुरु।

द्वारा लेख रूप में समालोचना का सूत्रपात कर चुके थे। तथापि हिन्दी साहित्य में एक ही ग्रन्थकार पर लिखी गई पहली समालोचना-पुस्तक "हिन्दी कालिदास", है जिसका प्रकाशन सन् १९०१ ई० में हुआ। इसमें द्विवेदी जी ने लाला सीताराम द्वारा किए गए कालिदास के नाटकों के अनुवाद के दोषों पर प्रकाश डाला।

वास्तव में द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही आलोचनात्मक लेख लिखे। "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" जैसे लेखों से यही सिद्ध होता है कि हिन्दी साहित्य के अभावों की आलोचना द्वारा वे लेखकों को उनकी पूर्ति के लिए प्रोत्साहित करते थे।

फारसी थिएटर के सस्ते नाटकों के कुप्रभाव को रोकने के लिए द्विवेदी जी ने अपने "नाट्य-शास्त्र" की रचना की और लोगों को अच्छे नाटक लिखने का सुझाव दिया। किन्तु खेद है कि द्विवेदी-काल में रंगमंच की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाला एक भी साहित्यिक नाटक नहीं लिखा गया।

"रसज्ञ-रंजन" में संकलित प्राय: सभी लेखों का उद्देश्य साहित्यिकों का मार्ग-प्रदर्शन है। द्विवेदी जी काव्य को लोकमंगलकारी मानते थे। इसलिए उन्होंने कवियों से अनुरोध किया कि वे नैतिक और सामाजिक विषयों पर कविता लिखें। "कोविद कीर्तन", "सुकवि संकीर्तन", में प्राचीन विद्वान और साहित्यकारों की जीवनियों और उनकी कृतियों का परिचय दिया है। "विक्रमांकदेव चरितचर्या", और "नैषध-चरितचर्चा", भी एक प्रकार की परिचयात्मक आलोचनाएँ हैं। "मेघदूत-रहस्य", "रघुवंश", "किरातार्जुनीय" की भूमिकाओं में इन ग्रन्थों की ऐतिहासिकता और काव्य-सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया है। उस समय हिन्दी में महाकवि कालिदास पर अच्छी पुस्तक के अभाव की पूर्ति के लिए ही द्विवेदी जी ने 'कालिदास और उनकी कविता' लिखी। हिन्दी में संस्कृत ग्रन्थों की समालोचनाओं द्वारा द्विवेदी जी ने संस्कृत-अनभिज्ञ लोगों को संस्कृत साहित्य की जानकारी करायी और उनके हृदय में संस्कृत के प्रति अनुराग उत्पन्न किया। साहित्यालोचक के उत्तरदायित्व को उन्होंने अच्छी तरह से निभाया। आलोचक के कर्तव्य का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं, 'कवि या ग्रन्थकार जिस मतलब से ग्रन्थ रचना करता है उससे सर्वसाधारण को परिचित कराने वाले आलोचक की बड़ी जरूरत रहती है। ऐसे समालोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नत्ति होती है और कवियों के गूढ़ाशय मामूली आदमियों की समझ में आ जाते हैं।' [१]

सचमुच द्विवेदी जी ने आलोचना को तप के रूप में स्वीकार किया। उनकी संहारात्मक समीक्षाओं ने लेखकों को सावधान करके, भाषा को सुव्यवस्थित करके हिन्दी साहित्य का ईहता और इयता को उन्नत करने की भूमिका प्रस्तुत की, साहि-

---

१ कालिदास और उनकी कविता। पृ० १३

त्यिक जगत में जागृति उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप आगे चलकर मननीय ठोस ग्रंथों की रचना हो सकी। उनकी सर्जनात्मक सकर्मक आलोचनाओं ने मैथिलीशरण गुप्त; रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्यकारों का निर्माण किया······आलोचक द्विवेदी युग का निर्माण करने के लिए सम्पादक बने, भाषा सुधारक बने, गुरु और आचार्य बने।'[१] आधुनिक कहानी-कला की उत्पत्ति भारतेन्दु युग में न हो सकी। भारतेन्दु कृत 'मदालसोपाख्यान' में कहानी-कला का अभाव है। हिन्दी की प्रथम कहानी तो पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' मानी गयी है जो सन् १९०० ई० में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। द्विवेदी जी ने सरस्वती में 'आख्यायिका खण्ड' के अन्तर्गत नियमित रूप से कहानियाँ प्रकाशित करके साहित्य के इस अंग का विकास किया। हिन्दी की कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ उनके द्वारा संशोधित होकर ही सरस्वती में प्रकाशित हुई थीं। सन् १९०३ ई० में शुक्ल जी की 'ग्यारह वर्ष', सन् १९०७ ई० में बंग महिला की 'दुलाईवाली' सन् १९१५ ई० गुलेरी जी की 'उसने कहा था', सन् १९१६ ई० में प्रेमचन्द की 'पंच परमेश्वर' और सन् १९२० ई० में कौशिक की 'ताई' कहानियाँ प्रकाशित हुई। द्विवेदी जी ने स्वयं भी सन् १९२७ ई० में अन्य भाषाओं की छाया लेकर 'आख्यायिका सप्तक' पुस्तक लिखी।

उपन्यास-क्षेत्र में भी द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। जासूसी ऐयारी और रोमांचकारी उपन्यासों के बुरे प्रभाव को रोकने के लिए उन्होंने उपन्यासकारों को राजनीतिक और सामाजिक कथावस्तुओं की ओर उन्मुख किया जिसके फलस्वरूप प्रेमचन्द जी के सेवासदन, प्रेमाश्रम और रंगभूमि की सृष्टि हुई। इन उपन्यासों में द्विवेदी जी की आदर्शवादी सुधारक प्रवृत्तियों की झलक दिखाई देती है।

द्विवेदी जी की समस्त कृतियों के अवलोकन से यही निष्कर्ष निकलता है कि उनकी साहित्य-सृष्टि स्वान्तः सुखाय नहीं अपितु लोक-कल्याण के लिए थी। हिन्दी साहित्य की उन्नति और हिन्दी पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिए उन्होंने विविध विषयों पर लेख लिखे और अनुवाद किए। हिन्दी की समृद्धि के लिए वे निरन्तर संस्कृत, अंग्रेजी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि साहित्यों का अध्ययन करते रहे और जहाँ कहीं उन्हें कोई उपयोगी सामग्री मिली तो उसे, हिन्दी साहित्य-प्रेमियों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने के लिए, तुरन्त हिन्दी में रूपान्तरित करके प्रस्तुत किया। 'महाभारत' की भूमिका में वे लिखते हैं—'महाभारत का पाठ......उस महाभारत का पाठ जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता है ···वही कर सकते हैं

१ डा० उदयभानु सिंह—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग। प्रथम संस्करण। पृष्ठ १४२।

जो संस्कृत के अच्छे पण्डित हैं। सो एक तो संस्कृतज्ञ पण्डित ही कम हैं, दूसरे उनमें से अधिकांश इस इतने बड़े ग्रन्थ को मोल नहीं ले सकते क्योंकि उसका मूल्य बहुत है।......भारत की अन्यान्य भाषाओं में महाभारत के कितने ही अनुवाद हो गये हैं......परन्तु हाय, जिस हिन्दी को हम सारे भारत की भाषा बनाना चाहते हैं उसमें इस पूरे ग्रंथ का कोई सर्वाङ्ग सुन्दर अनुवाद ही नहीं......श्रीयुत सुरेन्द्रनाथ ठाकुर बी० ए० बँगला के प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्होंने महाभारत का मूल आख्यान बँगला में लिखा ... ... यह पुस्तक इसी पूर्वोक्त बँगला-पुस्तक का अनुवाद है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्यरूपी उपवन में भारतेन्दु द्वारा जो नवीन पौधे लगाए गए थे उनको द्विवेदी जी ने काट-छाँट कर विशेष आकार-प्रकार का बनाया और अपने जीवन से उन्हें सींचा जिसके फलस्वरूप आज वह नाना वर्ण सुगन्धित कुसुमों से शोभायमान हो रहा है।

शिल्पी परम प्रवीण मातृ - मंदिर - निर्माता,
अभिनव लेखन-कला-लोक के विज्ञ विधाता !
उपयोगी साहित्य आपने लिखा, लिखाया।
सेवा में ही सरस्वती की जन्म बिताया।
हिन्दी - भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में।
ऋषि दधीचि सम अस्थियां दे दीं परउपकार में॥

—*रूप नारायण पाण्डेय*

श्रावण

'केसव' सरिता सकल, मिलत सागर मन मोहैं ।
ललित लता लपटाति, तरुन तन तरुवर सोहैं ॥
रुचि चपला मिलि मेघ, चपल चमकत चहुँ ओरन ।
मनभावन कहँ भेंटे, भूमि कूजत मिसि मोरन ॥
इहिं रीति रमन रमनीन सों, रमन लगै मनभावनै ।
पिय गमन करन की को कहै, गमन न सुनियत सावनै ॥१॥

**

सोना से सरीर पै सिंगारन सुभग सजि,
सेज साजि-साजि स्याम-संगम-सुखन मे ।
सुंदरी सिरोमनि सोहागिनि सलौनी सुचि,
स्यामा सुकुमारि सौहैं सीसा के सदन मे ॥
सीस सीस-सुमन सुहायौ 'गिरिधरदास',
सूर सरसात, ज्यों सकारे सरपन मे ।
सिंधु-सुता, सैल-सुता, सारदा, सची सी सुचि,
सावन में सरसै सरस सखियन मे ॥२॥

भाद्रपद

नभ नीर देत, नील नीरद नगेस कैसे,
नाद कर सुनि नाक नाग करै नति है ।
नदी-नद-नारे-नीरनिधि नीर पूरे नये,
नलिन नसाए त्यों निदाघता नसति है ॥
'गिरिधरदास' नग नाह नीय नग धरे,
नाग अति नाचैं, नेह नदी निकरति है ।
नभ मास नागर कों नागरी निरखि ऐसै,
नवल निकुंज मे निपुन निरतति है ॥३॥

**

घोरत घन चहुँओर, घोष निर्घोषनि मंडहिं ।
धाराधर धर धरनि, मुसल धारन जल छंडहिं ॥
झिल्ली गन झनकार, पवन झुकि-झुकि झकझोरत ।
बाघ-सिंह गुंजरत, पुंज कुंजर तरु तोरत ॥
निसिदिन विशेष निहि सेष मिटि, जात सुओली ओढ़िए ।
देसहिं पियूष परदेस विष, भादौं भौन न छोड़िए ॥४॥

मीरा की विशेषता है प्रेम साधना में । इसी प्रेमसाधना के कारण उन्हें निम्बार्क, विष्णुस्वामी, वल्लभ इत्यादि सम्प्रदायों में सम्मिलित करने की चेष्टा की गई है, किन्तु साम्प्रदायिकता के रंग से अछूते, मीरा के पदों की आलोचना से स्पष्ट हो जाता है कि वे सर्वथा सम्प्रदाय मुक्त थीं। निम्बार्क, विष्णुस्वामी, और वल्लभ सम्प्रदाय का आधार राधाकृष्ण की भक्ति था, अतः मीरा को उक्त सम्प्रदायों से युक्त करने की चेष्टा उचित नहीं जान पड़ती। वास्तव में मीरा के पद राधाकृष्ण की प्रेम लीला के आधार पर नहीं हैं। वरन, उनके भजनों में प्रतिष्ठित उनका रमैया या गिरधारी से व्यक्तिगत अपार विरह ही उनकी प्रेरणा का आधार है। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं को लेकर वैष्णव काव्य की सर्व-प्रथम सृष्टि जयदेव के गीत गोविन्द में बंगाल (?) में ही हुई थी। उसी समय से बंगाल में वैष्णव धर्म का जो उत्थान हुआ था, उसका मुख्य अवलम्ब था राधाकृष्ण का प्रेम। इसी राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर बंगाल में एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण तथा साधना मार्ग उठ खड़ा हुआ था। इस नवीन दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि थी नित्य-लीला, उसी लीला का रसास्वादन करना ही था सब साधकों का लक्ष्य। बंगाल के समस्त वैष्णव काव्य का आधार है यही नित्य लीला। इसीलिए इसे (नित्यलीला को) भलीभांति समझ लेना चाहिए।

गौड़ीय वैष्णव मत के अनुसार पूर्णभगवान श्रीकृष्ण की तीन शक्तियां हैं, अंतरंगिनी-स्वरूपा-शक्ति, तटस्था जीवशक्ति, एवं वहिरंगिनी मायाशक्ति। स्वरूपा शक्ति के आधार पर वे स्वरूप में निवास करते हैं, स्वरूप को जानते हैं, एवं स्वरूप का ही आस्वादन करते हैं। जीव-शक्ति के आधार पर वे जीवसृष्टा हैं, और उनकी आश्रयभूता मायाशक्ति इस बहिर्विश्व की रचनाकर्त्री है। श्री कृष्ण

मानते थे। वे 'निरंकुश' कवि के सिद्धांत के समर्थक नहीं थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि—'महाकवि वस्तुत: है भी वही जिसने उच्च भावों का उद्बोधन किया हो। उसे भी आचार्यों के नियमों का न्यूनाधिक अनुशासन मानना ही पड़ता है। महाकवि का काव्य उच्च पवित्र एवं मंगलकारी होता है।' [१] द्विवेदीजी ने कविता का शब्द-चित्र निम्न प्रकार से अंकित किया है :—

'सुरम्य रूपे ! रस राशि रंजिते ! विचित्र वर्णाभरणे ! कहां गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महाकवीन्द्र कान्ते कविते अहो कहां ?
सुरम्यता ही कमनीय कांति है अमूल्य आत्म रस है मनोहरे।
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है, नितांत निष्कर्ष यही यही ॥'

(द्विवेदी काव्यमाला पृ० २६१)

कविता के उपर्युक्त विवरण में संस्कृत आचार्यों की ही काव्यगत मान्यताओं का निष्कर्ष निहित है।

द्विवेदी जी काव्य सृजन को प्रतिभाजन्य और परिश्रमसाध्य दोनों ही मानते थे। उन्हीं के शब्दों में—"कवित्व में सिद्धि प्राप्त करने के लिये बहुत पुण्य चाहिये, हृदय में ईश्वरदत्त बीज चाहिये, परिश्रम भी चाहिये, अध्ययन भी चाहिये, मनन भी चाहिये।" [२]

समीक्षादर्शों का विवेचन करते समय द्विवेदीजी की दृष्टि बहुत व्यापक, उदार और समन्वयवादी थी। उन्होंने एकांगी और पक्षपातपूर्ण आलोचनाओं एवं आलोचकों का कड़े स्वर में विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि—"मित्रता के कारण किसी की पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं है।" [३] आलोचक के गुणों का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि—"समालोचक को न्यायाधीश की भाँति चलना पड़ता है। सच्चे समालोचक को बड़े बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहास लेखक और वक्ताओं की कृतियों पर फैसला सुनाने का अधिकार होता है। ढंग सभ्यतापूर्ण और युक्ति-संगत होना चाहिये। पांडित्यसूचक आलोचना भूलों के प्रदर्शन तक रह जाती है। प्रमुख बात तो आलोचक की वस्तु-स्थापन शैली, मनोरंजकता, नवीनता, उपयोगिता आदि है।" [४] एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि—"समाज के भय की चिंता न करके विचारों को स्वतन्त्रता पूर्वक उपस्थित करने का गुण होना चाहिये।

---

१ समालोचना समुंच्चय—हिन्दी नवरत्न—पृ० २८८ के आधार पर

२ कालिदास की निरंकुशता—पृ० १

३ विचार-विमर्श—पृ० ४५

४ कालिदास और उनकी कविता—पृ० ११२

(राग मल्हार)

कुंज-महल के आँगन मध्य, पीय-प्यारी—
बाँह जोरि, फिरत रंग सों रँगमगे ।
अरुन बसन तन, मोतिन की माला गरै,
चौहटे सरीर, चीर नीर सो सगबगे ॥
छूटे बार भीजन लागे ललित कपोलन सों,
कुंडल किरन नग, भूषन झगमगे ।
'नागरीदास' घन बरषत पानी, तामें—
रूप के जहाज मानों डोलत डगमगे ॥१३॥

★

गरजि-गरजि रिमझिम-रिमझिम बूँदन लाग्यौ बरषन घन ।
प्रीतम-प्यारी राजै रंग महल, बोलत चातक-मोर,
दामिनी दमक, आवै झूम-झूम बादर अवनी परसन ॥
तैसोई सोहै हरियारौ सावन मनभावन,
इंद्र-बधू ठौर-ठौर आनंद उपजावन ।
पिय बिहारी प्रिया सँग गावत राग मल्हार,
ललित लता लागीं सुनसुन सरसावन ॥१४॥

★

डरत नहिं घन सो रति-रस-माते ।
हार्‍यौ बरसि गरजि बहु भाँतिन, टरै न वीर तहाँ तें ॥
गिरिवर अटा सुहावन लागत, बन दरसात जहाँ तें ।
तहाँई जुगल लपटि रस सोए, नींद भरे अलसातें ॥
रस-भीने, आलस सों भीने, भीने जल बरसातें ।
औरहु गाढ़ अलिंगन करिकै, सोए सुखद सुहातें ॥
भोर भयौ नहिं गिनत, सखीगन लखिकै कछु सकुचातें ।
'हरीचंद' घन-दामिनि हारी, जीत जुगल इतरातें ॥१५॥

★

सखी री, बूँद अचानक लागी ।
सोवत हुती मदनमद-माती, घन गरज्यौ तब जागी ॥
दादुर-मोर-पपैया बोलैं, कोयल सब्द सुहागी ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर सों, जाय मिली बड़ भागी ॥१६॥

प्रो० रामप्रीत उपाध्याय

आचार्य द्विवेदी : काव्यादर्श

कविता एक ईश्वरदत्त वस्तु है । यह अभ्यास से नहीं आती । अभ्यास अथवा प्रयास से उसका रस प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है । कविता में यथार्थ और कल्पना दोनों का समन्वय होता है । पर यथार्थवादी कविता ही लोगों पर अमिट प्रभाव छोड़ती है तथा उन्हें रसलीन करती है । वह श्रोता को प्रगति पथ की ओर भी ले जाती है । पर जो कविता काल्पनिक है, आकाश में जिसकी नींव है, वह कर्णप्रिय भले हो जाय पर जन कल्याण की वस्तु नहीं सिद्ध हो सकती । वही कविता जिसमें यथार्थ और अनुभव का संयोग है, बहुत शीघ्र लोगों को प्रभावित करती है । लोग उसे सुनकर अभिभूत हो जाते हैं। वह लोगों में अनेक प्रकार का रस संचार करती है तथा अवसरानुसार उन्हें हँसाती और रुलाती है । अतः कविता के लिए प्रतिभा, यथार्थ, सुन्दर अभिव्यक्ति तथा स्वतन्त्रता की अपेक्षा है । स्वतंत्रता से अभिप्राय यहाँ कवि की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से है । उस पर किसी प्रकार का दवाब नहीं होना चाहिए । इस सम्बन्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत उल्लेखनीय है—"दवाब से कवि का जोश दब जाता है । उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें वह जब निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है, तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है ।"

कविता का क्षेत्र असीम है । कवि किसी भी वस्तु पर कविता कर सकता है । यह कोई आवश्यक नहीं है कि वह किसी के आश्रय में रहकर ही कविता करे । आश्रय अथवा दरबार से तो कविता शिथिल हो जाती है । धरती का विशाल आँगन, प्रकृति का विस्तृत रूप तथा अम्बर का नीला परिधान एवं रवि-शशि-सितारों का उल्लसित संसार सभी कुछ कवियों के ही लिए तो है । कवि किसी को भी अपवे भाव का आलम्बन बना सकता है तथा उसका सरल, सरस शब्दों में वर्णन कर सकता है । प्रेम की कविता प्रेम के औचित्य पर निर्भर करती है । अगर प्रेम सच्चा है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके पाठक उसे पढ़ कर उल्लसित न हों । कविता की भाषा शुद्ध और सुन्दर होनी चाहिए ।

अगर उसकी भाषा अशुद्ध और अश्लील है तो वह निश्चय ही लोगों की दृष्टि से गिर जायगी। बुरी भाषा कभी भी जन-जीवन को प्रगति के पथ पर नहीं ले जा सकती। आचार्य द्विवेदी का कथन है कि जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती ही नहीं उलटा अवनति होती जाती है।

आचार्य द्विवेदी की मान्यता है कि कविता के लिए तुक और अनुप्रास की अपेक्षा नहीं है। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य समूह बिना तुकबन्दी का है और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो। श्री द्विवेदी के सिद्धान्तानुसार कविता के लिये निम्न तत्त्वों की अपेक्षा है—(क) मनोरंजन (ख) प्रभावोत्पादकता (ग) विचार स्वातन्त्र्य (घ) कल्पना (ङ) यथार्थ (च) अभिव्यक्ति (छ) भाषा की सरलता।

आचार्य द्विवेदी ने कविता के लिए प्रभावोत्पादकता को एक आवश्यक तत्त्व माना है। इस प्रभाव के बिना कविता का रंग ही फीका पड़ जाता है। उनके शब्दों में कविता की परिभाषा देखिए—"जो बात एक असाधारण और बिरले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वालों पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है।" उर्दू के प्रसिद्ध शायर श्री जिगर की निम्न उक्ति द्रष्टव्य है—

"कारीगराने शेर से पूछे कोई जिगर।
सब कुछ तो है मगर ये कमी क्यों असर में॥"

इस प्रभावोत्पादकता के बिना कविता कवि की कारीगरी मात्र हो सकती है। सच्ची कविता नहीं।

कविकर्म के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी का कथन है कि कवि के लिए भावों की अपेक्षा है। जिस कवि के पास जितने ही सुन्दर भाव होंगे, उसकी कविता उतनी ही सुन्दर होगी। कविता भाव की उपज है और भाव हृदय की। अतः कवि को हृदयवान होना आवश्यक है। हृदयवान व्यक्ति किसी भी वस्तु की उपेक्षा नहीं करता। वह प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता है तथा अपनी कल्पना की तूलिका से उसे सँवार कर एक दिव्य मूर्त रूप प्रस्तुत करता है। कवि की सबसे बड़ी सफलता यही है कि वह अरूप को रूप, अदिव्य को दिव्य तथा कल्पना को यथार्थ का आवरण पहनावे। दिव्य भावों की दिव्याभिव्यक्ति के लिए दिव्य शब्दों की भी अपेक्षा है। भाव वीर-रस का हो तथा भाषा शृङ्गार रस की, तो उन दोनों में कभी समरसता ही नहीं आ सकती। इस प्रकार का असमान पद कभी भी श्रोताओं या पाठकों को अभिभूत नहीं कर सकता। शब्द चयन पर बल देते हुए श्री द्विवेदी कहते हैं कि "कवि को चुन-चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिए और इस क्रम से रखने चाहिए जिससे मन का भाव

नाउ मेरे खेती नाउ मेरे बारी।
भगति करउ जनु सरनि तुम्हारी॥
नाउ मेरे माइआ नाउ मेरे पूंजी।
तुमहि छोड़ि जानउ नहीं दूजी॥
नाउ मेरे बंधिप नाउ मेरे भाई।
नाउ मेरे संगि अंति होइ सखाई॥
माइआ महि जिसु रखै उदासु।
कहि कबीर हउ ता को दासु॥

(राग भैरउ, १)

जोग-ध्यान और वैराग्य से माया का बाध संभव है, परन्तु ये साधन कठिन हैं। राम-नाम का साधन सरल है। उस जैसा सहायक तत्व और कहाँ मिलेगा? इसीसे भक्त के लिए नाम ही सबसे बड़ा आधार है। कबीर के शब्दों में :

ना मैं जोग धिआन चितु लाइआ।
बिनु बैराग न छूटसि माइआ॥
कैसे जीवनु होई हमारा।
जब न होइ राम-नाम अधारा॥
कहु कबीर खोजउ असमान।
राम समान न देखउ आन॥

(राग गउड़ी, ३४)

एक दूसरे पद में कबीर रामनाम की अमोघ शक्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि साधक, सिद्ध और मुनि जब अनेक साधनों से हार गये तो उन्होंने नाम की शरण ली और नाम ने उन्हें तार दिया :

अहिनिसि एक नाम जो जागे।
केतक सिध भए लिव लागे॥

कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है। 'छायावाद" से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कवि के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद कहना चाहिए।" उन्होंने 'रसज्ञरंजन' की भूमिका में अपने छायावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है—"आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं—उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्य रचना अच्छी होती है जो देश प्रेम पर अपनी लेखनी चलाते हैं या 'चलो वीर पटुआ खाली' की तरह की पंक्तियों की सृष्टि करते हैं। उनमें कविता के और गुण आये ही न हों पर उनका मतलब तो समझ में आ जाता है। पर छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नहीं आती।"

आचार्य द्विवेदी ने नई वस्तु की खोज एवं विषय परिवर्त्तन की ओर भी 'सरस्वती सम्पादकीय" में अनेक बार संकेत किया है; उनका कथन है कि कवि को सदा नयी वस्तु समाज को प्रदान करनी चाहिए। लकीर का फकीर बनना, कवि और काव्य दोनों के लिए उपयुक्त नहीं है। इस विषय पर उनका 'हिन्दी कविता का भविष्य' नामक सम्पादकीय (सरस्वती, सन् १९२०) अच्छा प्रकाश डालता है—"कवि किसी मत का अनुयायी हो, कोई भी सिद्धान्त मानता हो, पर ज्योंही वह अपने सिद्धान्तों को पद्धबद्ध करता है अथवा Words worth या Dryden के समान पद्यों में धार्मिक शिक्षा देना चाहता है त्योंही वह कवि के उच्च आसन से गिर जाता है। कवि का काम न तो शिक्षा देना है और न दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से तो वह गान उद्गत होना चाहिए जिससे समस्त मानव-जाति की हृदतंत्री में विश्ववेदना का स्वर बज उठे।" वे आत्मानुभूति पर पुनः प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि "वाह्य प्रकृति के बाद मनुष्य अपने अन्तर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है; तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्त्तित हो जाता है! कविता का लक्ष्य 'मनुष्य' हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है। तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सृष्टि के कण-कण में अनन्त का दर्शन करता है और भौतिक पिंड में असीम ज्योति का आभास पाता है।"

आचार्य द्विवेदी जिस युग धरातल पर खड़े थे, वह संघर्ष और संक्रान्ति का रंगमंच था। फिर भी इन्होंने जिस प्रतिभा और शालीनता से युगीन-समस्याओं को सुलझाया था वे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। जिस ढंग से आपने भाषा और विषय का विस्तार और परिमार्जन किया, जिस काव्यकौशल से जनमानस को मुग्ध किया; जिस कलात्मक ढंग से पत्रिका का सम्पादन किया तथा जिस सृजनात्मक ढंग से इन्होंने 'द्विवेदी युग' का निर्माण किया; वह कम नहीं है। वह सत्य है, शिव है, सुन्दर है। हिन्दी कविता के भविष्य के बारे में एक स्थल पर (हिन्दी कविता

का भविष्य : सम्पादकीय सरस्वती १९२०) उन्होंने प्रगतिशील साहित्य की ओर संकेत कियाहै—"अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखानों से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक बनाना नहीं चाहता था !... परन्तु अब वह क्षुद्रों को भी महत्व देगा और तभी जनता का रहस्य सबको विदित होगा।" इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आचार्य द्विवेदी प्रगतिशील साहित्य के पोषक थे।

आचार्य द्विवेदी न तो स्वयँ अप्सरा-लोक के कवि थे और न दूसरों को बनाना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि उनके मंडल के कवि अतीत की मधुर मादक स्मृति में आँसू बहावें अथवा भविष्य के रंगीन कल्पना लोक में परियों के साथ विचरण करें ! वे वर्त्तमान के कवि थे तथा यही चाहते थे कि अन्य कवि भी उनके ही पथ का अनुसरण करें। वे तो एक ऐसे कवि को पसंद करते थे जो अतीत का गौरव, वर्त्तमान की समस्या तथा भविष्य की नवीन योजना लेकर काव्य का सृजन करे। श्री मैथिलीशरण गुप्त उनके लिए उन दिनों एक ऐसे ही प्रतिभाशील कवि थे। यही कारण है कि उन्होंने (सरस्वती, अगस्त १९१४) के सम्पादकीय में उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'भारत भारती' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है—'यह काव्य वर्त्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्त्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा।××× यह सोते हुए को जगाने वाला है, भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है; आत्म विस्मृतों को पूर्व स्मृति दिलाने वाला है, निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है। यह पूर्व पुरुषों के विषय में भक्ति भाव का उन्मेष कर सकता है। यह सुख समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इससे हमलोगों की मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार हो सकता है; क्योंकि हम क्या थे और अब क्या हैं इसका मूर्तिमान चित्र इसमें देखने को मिल सकता है।'

आचार्य द्विवेदी के काव्य में नारी के प्रति असीम श्रद्धा का भाव झलकता है। वे नारी की प्रशंसा में नारी के ही मुख से कहलाते हैं। "जहाँ हमारा आदर होता, वहीं देवता करते बास।' वे नारी समाज की अधोगति से भी अपरिचित नहीं थे। नारी के प्रति श्री द्विवेदी जी ने अपनी 'कान्यकुब्ज अबला विलाप' में निम्नलिखित बातें कही हैं जो बड़ी ही मर्मस्पर्शी हैं—

"महामलिन से मलिन काम हम करती हैं दिन-रात,
दुखी देख पति पिता पुत्र को व्याकुल हो कृश करती गात,
हे भगवान हाय तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं,
'ढोल तुल्य ताड़न अधिकारी' हमी बतायी जाती हैं।"

यह संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा कि इस छन्द ने श्री मैथिलीशरण गुप्त को प्रभावित किया है। वे इससे प्रभावित होकर ही नारी जीवन की दीनता को मुखरित करते हैं :—

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"

इस तरह आचार्य द्विवेदी ने अपने काव्य संकेतों द्वारा अनेक कवियों को उद्बुद्ध किया है, राह दिखायी है।

आचार्य द्विवेदी एक उच्चकोटि के सिद्धांतवादी और सिद्धान्तपालक सम्पादक थे। वे अपने सिद्धान्तानुसार ही 'सरवस्ती' में कविताएँ छापते थे तथा अपनी मान्यता के अनुकूल ही कविताओं का संशोधन किया करते थे। भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान ही उनका उद्देश्य रहता था। उनके इन गुणों की चर्चा करते हुए डा० श्यामसुन्दर दास ने 'द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रंथ' में उनकी खूब प्रशंसा की है—"संस्कृत साहित्य का पुनरुत्थान, खड़ी बोली कविता का उन्नयन, नवीन पश्चिमीय शैली की सहायता से भाषाभिव्यंजन; संसार की वर्त्तमान प्रगति का परिचय; साथ ही प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा,—जो कुछ उनके लक्ष्य थे, उनकी प्राप्ति अपनी निश्चित धारणा के अनुसार 'सरस्वती' के द्वारा करना उनका सिद्धांत था; अतः द्विवेदी काल की सरस्वती में केवल द्विवेदी जी की भाषा की प्रतिभा ही गठित नहीं है, उनके विचारों का भी प्रतिबिम्ब उसमें पड़ा है। उन्होंने किसी संस्था की स्थापना नहीं की, परन्तु सरस्वती की सहायता से उन्होंने भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक—तीन-तीन संस्थाओं के संचालक—का काम उठाया और पूरी सफलता के साथ उसका निर्वाह किया।"

आचार्य द्विवेदी की प्रारंभिक कविताओं में जब वे खड़ी बोली का भव्य महल खड़ा कर रहे थे, रमणीय तत्त्व नहीं है; फिर भी उनकी भाषा में एक प्रकार की स्पष्टता और सरसता है, अर्थ क्लिष्टता रंचमात्र भी नहीं है।

हमारे आचार्यों ने काव्य में रस की अनिवार्यता पर वृहद् प्रकाश डाला है। पर श्री द्विवेदी ने इसका कुछ विशेष अर्थ लिया है। इनके रस-सिद्धान्त की चर्चा करते हुए 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि "रस के विषय में यही कहना चाहिए कि भाषा की चुस्ती और अर्थ की सफाई में ही द्विवेदी जी ने विशेष रूप से रस लिया। उस काल के चित्रकार जैसे रवि वर्मा थे, वैसे ही कवि द्विवेदी जी और उनके साथी हुए। ये लोग आचारी और सुधारक व्यक्ति हैं। कविता जिस प्रकार की सौंदर्य सामग्री का व्यवहार कर अन्तर का पवित्र रस उच्छ्वासित करती है, उसका स्पर्श करने में ये लोग जैसे लोकलाज से डरते रहे हों। इनकी कविताएँ इसीलिए उपदेश प्रधान हैं; वस्तु की व्यंजना करती हैं, अंतर के तारों को झनझनाती नहीं। बाहर ही ठकठक करके चुप हो

रहती हैं।" श्री द्विवेदी के सरस अनुवादों एवं कोमल काव्य कलेवरों पर आह्लादित होकर वे पुनः कहते हैं—"सामयिक साहित्य में कविता की जो उनकी विरासत है, वह अधिकांश में शब्दों का स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की सन्यासिनी की प्रतिमा है—उसमें काव्यकला का वास्तविक जीवन स्पंदन कहीं-कहीं ही मिलता है।"

आचार्य द्विवेदी को मुक्तककाव्यों की अपेक्षा छोटी-छोटी कथा वस्तुओं में ही अधिक सफलता मिली है। इनके पूर्व के साहित्यकारों ने ब्रजभाषा में अनेक कविताएँ लिखीं; अनेक पद्यमय निबंध लिखे; साहित्य की प्रायः समस्त विधाओं को स्पंदित किया; फिर भी उनकी भाषा में प्रांजलता और स्पष्टता नहीं आयी। पर उनके इस अवशेष कार्य को श्री द्विवेदी और उनके मंडल के साहित्यकारों ने शीघ्र ही पूरा कर दिया इस सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दर दास का मत द्रष्टव्य है—"द्विवेदी काल का साहित्य सबसे पहले खड़ी बोली का आग्रह करके चला। गद्य और पद्य की भाषा एक करके जनता तक नवीन युग का संदेश पहुँचाना ही उनका उद्देश्य था। साहित्यिक सामग्री को समाज व्यापी बनाने का ध्येय लेकर ये लोग निकले थे। खड़ी बोली को छंदों के सांचे में ढाल देना—एक अनभ्यस्त कार्य कर दिखाना—जब सध गया, तब द्विवेदी जी ने छंद की मेशीनरी को भी अपने उसी प्रचार कार्य में लगाया। उस काल की कविता के अलंकार उसकी सरलता और सामयिकता हैं। हृदय के निष्कपट उद्‌गार—चाहे वे रूखे उद्‌गार ही हों—उसमें भरे हैं। ब्रजभाषा की शृङ्गारिक कविता से विरक्ति हो जाने के कारण समाज में इस नवीन काव्य साधना का अच्छा सत्कार किया गया। कहीं-कहीं छोटी रचनाओं में भी बड़े ही मधुर भाव भरे मिलते हैं। कविता का चोला बदल गया।"

आचार्य द्विवेदी की कविताओं में भावना की गहराई और कल्पना की उड़ान नहीं है फिर भी उनकी कविताओं में स्पष्टता, सरलता, सरसता और असलियत के जो गुण हैं; वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनके काव्य में आदर्श है और वह ऐसा है कि उसके सामने सभी गुण फीके पड़ जाते हैं। इस पक्ष को लेकर वे अपने समकालीन कवियों से आगे बढ़ जाते हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने श्री द्विवेदी काव्य-युग की प्रवृत्तियों एवं परम्पराओं पर विचार करते हुए लिखा है कि 'द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो, समाज में एक सात्त्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, शृङ्गार के विलास वैभव का निषेध—ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं। इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी पूर्णता का अवलंब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परन्तु अपनी सत्यवृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य रहेगा। वह आदर्श धन्य है जो हमारी व्यापक

भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करता है और हमारे मस्तिष्क की सत्यान्वेषिणी शक्ति का समाधान करके आत्मतृप्ति की व्यवस्था करता है। परन्तु जो आदर्श समय और समाज के अंधकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करता है, वह भी अपना अलग महत्त्व रखता है। द्विवेदी जी का ऐसा ही आदर्श था। मुक्ति ज्ञान से ही होती है; किन्तु शास्त्रों में कर्म और उपासना की भी विधियाँ विदित हैं। द्विवेदी युग को साहित्य के कर्म-योग का युग कहना चाहिए।'

इस समीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी केवल कवि ही नहीं थे; अपितु कवि-निर्माता भी थे। न जाने कितने कवियों को इन्होने अपने काव्य संकेतों से प्रोत्साहित किया तथा उन्हें जनकल्याण की ओर उन्मुख किया। श्री मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचरित उपाध्याय, पंडित लोचनप्रसाद पांडेय आदि इन्हीं की शिष्य परंपरा में आते हैं। इनकी खड़ी बोली रूपी लता का विकास पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, पांडेय मुकुटधर शर्मा और कुछ और आगे बढ़कर प्रसाद काव्य उपवन में पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। इन्होंने एक कुशल माली की तरह उस लता को अपने स्नेह श्रमजल से सींचा तथा उसके भ्रमजालों का मूलोच्छेदन कर उसे पनपने का अवसर दिया। उन दिनों भला किसी को विश्वास था कि खड़ी बोली राजरानी ब्रजभाषा को दबाकर राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हो जायेगी! यह द्विवेदी जी के ही सतत प्रयत्नों का प्रतिफल है कि आज खड़ी बोली अपने इस रूप में विद्यमान है, सुशोभित है। इन्होंने अपने स्नेह जल से कविता के दोनों पक्षों—भाव और कला को संवारा। हिन्दी साहित्य संसार इनके इस काव्य वैभव का चिरऋणी है। इनके काव्य सिद्धान्त महावीर के प्रसाद हैं जो शक्ति, शील और सौन्दर्य की सर्जना करते हैं।

अब तक उनके काव्य सिद्धान्त की ही चर्चा हुई, अब उनकी कविताओं की भी समुचित समीक्षा होनी चाहिए ताकि पाठक यह शीघ्र ही समझ लें कि स्वयं उन्होंने अपने काव्यों में अपने सिद्धान्तों का कहाँ तक पालन किया है? आचार्य द्विवेदी वक्ता ओर कर्त्ता दोनों थे। वे जिस सिद्धान्त का निर्माण करते थे, पहले वे ही उसका पालन करते थे और बाद में दूसरों को मानने के लिए आग्रह करते थे। वे एक सच्चे काव्यकार थे।

आचार्य द्विवेदी ने अपने काव्य में अनेक विषयों को स्थान दिया है। उनके काव्य के विषयों को हम साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय और राजनैतिक आदि भागों में बाँट सकते हैं। उनकी अनेक कविताएँ एवं काव्य संग्रह 'द्विवेदी काव्य माला' में प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ निम्न प्रकार से हैं। उनके काव्यात्मक विकास को दिखलाने के लिए उनकी मौलिक और संपादिद पुस्तकों की तिथियाँ भी दी जाती हैं :—

१ विनय विनोद—१८८९ ई० (भर्तृहरि के वैराग्य शतक का दोहों में अनुवाद)
२ स्नेह माला—१८९० ई० (भर्तृहरि के श्रृङ्गार शतक का दोहों में अनुवाद)
३ विहार वाटिका—१८९० ई० (गीत गोविन्द का भावानुवाद)
४ ऋतु तरंगिनी—१८९१ ई० (कालिदास के ऋतुसंहार का छायानुवाद)
५ श्री महिम्न स्तोत्र—१८९१ ई० (अनूदित)
६ गंगा लहरी—१८९१ ई० (पण्डितराज जगन्नाथ की गंगा लहरी का सवैये में अनुवाद)
७ देवी स्तुति—१८९२ ई०
८ कान्यकुब्जावलीव्रतम् (१८९८ ई०)
९ समाचार पत्र सम्पादिक स्तव (१८९८ ई०)
१० नागरी (१९०० ई०)
११ कुमार संभवसार-१९०२ ई० (कालिदास के कुमार सम्भवम् के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश
१२ काव्य मंजूषा—१९०३ ई०
१३ कान्यकुब्ज अबला विलाप (१९०७ ई०)
१४ कविता कलाप—१९०९ ई०
१५ सुमन (काव्य मंजूषा का संशोधित संस्करण) १९२३ ई०
१६ अमृत लहरी (यमुना लहरी का अनुवाद)
१७ सोहाग रात (अप्रकाशित, बाइरन के ब्राइडलनाइट का छायानुवाद)
१८ द्विवेदी काव्य माला (१९४० ई०)

उपर्युक्त ग्रन्थों में आचार्य द्विवेदी ने अपने काव्य सिद्धान्तों का अच्छी तरह से प्रतिपादन किया है। इनकी कविताओं को अन्य विद्वान तुकबन्दी मानें अथवा न मानें पर इन्होंने उसे स्वयँ तुकबन्दी ही माना है—"कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझें, हमें तो एक तरह से दुस्साध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का अभ्यास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनाधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्रायः बन्द कर दिया।" परन्तु इसका यह आशय नहीं कि उनमें कोरी तुकबन्दी ही है। उनकी कविताओं में सौन्दर्य, रस एवं माधुर्य के तत्व प्रचुर मात्रा में भले न मिलें, पर उनमें सुधारक एवं परंपरावादी का स्वर निश्चय ही मुखरित होता है। उनके काव्य में स्पष्टता एवं सरलता की जो रमणीयता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने संस्कृत काव्य ग्रन्थों (वैराग्य शतक, गीत गोविन्द, श्रृङ्गार शतक, महिम्नस्तोत्र, ऋतुसंहार, गंगास्तोत्र) को हिन्दी में छन्दोबद्ध किया जिसका एकमात्र कारण हिन्दी पाठकों को संस्कृत काव्य सुरभि से सुरभित करना तथा हिन्दी काव्य सीमा को विस्तार देना था। इतना ही नहीं, उन्होंने संस्कृत

ग्रंथों के रस, अलंकार, ध्वनि एवं वक्रोति को भी अपने अनुवादों में स्थान दिया है। उनके काव्यों में शान्त, शृङ्गार, करुण एवं माधुर्य रस की सरिता प्रवहमान है। जहाँ तक भाव का प्रश्न है, उनकी कविताओं में रति, करुणा, हास्य, निर्वेद, जुगुप्सा, क्रोध आदि के भाव यत्र-तत्र बिखरे दिखाई पड़ते हैं। उनकी कविता में करुण का एक चित्र देखिए। अकाल पीड़ित जनों का यह दृश्य कितना हृदयद्रावक है!

लोचन चले गये भीतर कहुँ, कंटक सम कच छाए।
कर में खप्पर लिए अनेकन, जीरण पट लपटाए॥
मांस विहीन हाड़ की ढेरी, भीषण भेष बनाए।
मनहुँ प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाए॥

द्विवेदी काव्य माला में संकलित 'लीलामृतम्' और 'काक कूजितम' में क्रमशः कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के पाखंड तथा दुष्टों के व्यवहार पर व्यंगात्मक वर्णन मिलता है। इस संकलन में 'गर्दभ काव्य' 'वलीवर्द' 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' 'जम्बुकी न्याय' और 'टेसू की माँग' में हास्य और व्यंग का सुन्दर समन्वय हुआ है। इस व्यंग में एक ऐसे सम्पादक की खिल्ली उड़ाई गई है जो अच्छी रचनाओं को फेंक देते हैं और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ सम्बन्ध के कारण खोटी रचनाओं को भी छाप देते हैं—

'हरीघास खुरखुरी लगै अति, भूसा लगै करारा है,
दाना भूलि पेट यदि पहुँचै, काटै असजस आरा है।
लच्छेदार चीथड़े कूड़ा जिन्हें बुहारि निकारा है,
सोई सुनो सुजान शिरोमणि, मोहन भोग हमारा है।'

शिल्प की दृष्टि से श्री द्विवेदी जी की कविताएँ सक्षम हैं। इनकी कविताओं में मर्मभेदी शब्दों और अलंकारों की छटा निहारते ही बनती है। अनुप्रासों और उपमाओं के मेघ बरस बरस कर मानस शतदल को सींचने लग जाते हैं। एक ही पद में शब्द और अर्थ का माधुर्य देखिए—जिनमें कवि का मन भ्रमर कामिनी कली की रीझ और खीझ की मन्द बयार से स्पंदित हो उठता है—'

'इन कोकिल कंठी कामिनियों ने जो मधुर गीत गाये,
सुधा सदृश कानों से पीकर वे मुझको अति ही भाये।
इनका यह गाली गाना भी चित्त में यों जब चुभ जाता,
यदि ये कहीं और कुछ गातीं बिना मोल मैं बिक जाता।'

विहार वाटिका, स्नेहलता, और ऋतु तरंगिणी में अलंकार योजना खूब है। आचार्य द्विवेदी की खड़ी बोली और संस्कृत की कविताओं पर पंडितराज जगन्नाथ और केशवदास का अधिक प्रभाव है। निम्नलिखित छन्द में श्लेष, अनुप्रास, संस्कृत वृत्त, ओज, प्रसाद एवं माधुर्य की छटा द्रष्टव्य है—

'सुरम्य रूपे ! रस राशि रंजिते ! विचित्रवर्णाभरणे ! कहाँ गई ।
अलौकिकानन्द विधायिनी ! महाकवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ॥'

आलोचक वृन्द आचार्य द्विवेदी की कविताओं को इतिवृत्तात्मक की संज्ञा देते हैं और यह उनका दूषण मानते हैं । पर जब हम उनके काव्य सृजन की परिस्थितियों का अवलोकन करते हैं तो वह दूषण हिन्दी काव्य संसार के लिए भूषण बन जाता है । श्री द्विवेदी जी का काव्यकाल अराजकता का काल था । उस समय विश्व के प्रांगण में अनेक राजनैतिक उथल-पुथल हो रहे थे जिससे वे अछूते नहीं थे । और साथ ही वे काव्य को उन हलचलों से दूर रखकर ब्रजभाषा की चली आई परिपाटी के पोषण के विरुद्ध थे । दूसरा कारण है कि वे गद्य और पद्य की भाषा में अन्तर को मिटाना चाहते थे । जो भाषा जीवन के निकट है, काव्य भी उसी में होना चाहिए । तभी वह काव्य जीवन और समाज के लिए मंगलकारी हो सकता है । निश्चय ही ऐसा काव्य इतिवृत्त पर आधारित होगा । रीतिकालीन शृङ्गार की काल्पनिक-अस्वाभाविक शृङ्खला को तोड़ कर वे काव्य को जीवन के चतुर्दिक देखना चाहते थे । इसके लिए काव्य के विषय का इतिवृत्तात्मक होना स्वाभाविक ही है । उनकी वर्णनात्मक काव्य शैली का कारण संस्कृत ग्रंथों पर आधारित उनका ज्ञान था और जिसका उन्हें अभ्यास भी था । उनकी कविता में शिथिलता का कारण भी संभवत: वर्णन की यह शैली ही है । महत्त्वपूर्ण विषय भी अपेक्षाकृत दुर्बल अभिव्यक्ति के कारण महत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते, जिसके वे अधिकारी हैं । एक अन्य कारण द्विवेदी जी के काव्य में सौष्ठव के अभाव का यह भी हो सकता है कि उन्हें कोई काव्य गुरु नहीं मिला था । बाद में वे स्वयं अनेक कवियों के काव्य गुरु बने और उन्होंने उन्हें काव्य रचना का सरस मार्ग दिखाया ।

आचार्य द्विवेदी का काव्य उद्देश्य कुछ और ही था । उन्होंने कविताएँ स्वान्त: सुखाय, कला प्रदर्शन तथा वर्णन के लिए नहीं लिखीं, अपितु हिन्दी को बढ़ाने एवं सर्वप्रिय बनाने के लिए लिखीं उनका उद्देश्य हिन्दी पाठकों की वृद्धि समाज सुधार तथा देवनागरी लिपि का प्रचार प्रसार था । समाज एवं साहित्य की पदोन्नति में उनका काव्य भाव समाप्त हो चुका था । यही कारण है कि उनकी कविताओं का रूप खड़ी बोली में निखर न सका । सारांश यह कि कविता उनके लिए साध्य नहीं, साधन थी ।

डा० उदयभानु सिंह ने आचार्य द्विवेदी की कविताओं का वर्गीकरण पाँच भागों में किया है—१-प्रबन्ध २-मुक्तक ३-प्रबन्ध मुक्तक ४-गीत ५-गद्य काव्य । इनकी प्रबन्धात्मक कविताएँ प्रांजल प्रवाह के अभाव में एवं विचार प्रधान होने के कारण पद्य प्रबन्ध ही सिद्ध हुई हैं । इनका प्रबन्ध दो रूपों में मिलता है—कथात्मक और वस्तु वर्णनात्मक । कथात्मक में किसी कल्पित या यथार्थ का उप-

गहबर हिय कहैं कोसलपाल ।४।६।

आस्रम निरखि भूले, द्रुम न फले न फूले,
अलि खग मृग मानो कबहुँ न हे ।
मुनि न मुनिबधूटी, उजरी परनकुटी,
पंचबटी पहिचानि ठाढ़ेइ रहे ।१।
उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये
प्रिया, न पुलकि प्रिय बचन कहे ।
पल्लव-सालन हेरी, प्रानबल्लभा न टेरी,
बिरह बिथकि लखि लषन गहे ।२।
देखे रघुपति-गति बिबुध बिकल अति,
तुलसी गहन बिनु दहन दहे ।
अनुज दियो भरोसो, तौलों है सोचु खरो सो,
सिय-समाचार-प्रभु जौलों न लहे ।३।१०।

राग सोरठ

जबहिं सिय-सुधि सब सुरनि सुनाई ।
भए सुनि सजग बिरहसरि पैरत थके थाह-सी पाई ।
कसि तूनीर तीर धनु-धर-धुर धीर बीर दोउ भाई ।
पंचबटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई ।
चले बूझत बन बेलि बिटप खग मृग अलि अवलि सुहाई ।
प्रभु की दसा सो समौ कहिबे को कबि उर आह न आई ।
रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई ।
तुलसी रामहिं प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई ।११।

"विद्या नहीं हैं, बल नहीं है, धन भी नहीं है ।
क्या से हुआ है, क्या यह गुलिस्तान हमारा ।"

आचार्य द्विवेदी की कविताओं का पाँचवा रूप गद्य-काव्य का है । 'समाचार पत्रों का विराट रूप' और 'प्लेग राजस्तव' इसी वर्ग की रचनाएँ हैं । इस प्रकार की कविताएँ कल्पना एवं धार्मिक भाव व्यंजना की दृष्टि से चाहे भली न हों, पर इनका ऐतिहासिक महत्व अवश्य है ।

आचार्य द्विवेदी को हम छन्द सम्राट कह सकते हैं । जितने विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग अपने काव्यों में इन्होंने किया है, उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो । इन्होंने अपने काव्यों में संस्कृत, बंगला, मराठी, उर्दू और तत्कालीन हिन्दी छन्दों का सुन्दर प्रयोग किया है । दोहा; हरिगीतिका, स्त्रग्धारा, शार्दूलविक्रीड़ित, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ शिखरिनी, भुजंगप्रयात, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, नाराच, चामर, बसन्ततिलका, उपजाति; उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, तोमर, प्रज्भाटिका, सवैया एवं स्वतन्त्र छन्दों का प्रयोग अपनी कविताओं में इन्होंने खूब किया है । गणात्मक छन्दों के प्रयोग में तो ये अद्वितीय स्थान रखते हैं । इन्होंने अन्य कवियों को भी अन्यान्य छन्दों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया है । भाषा की दृष्टि से इनका काव्य काल तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है ।

क—१८८९ ई० से १८९७ ई० तक (अनुवाद काल)
ख—१८९७ ई० से १९०२ ई० तक (ब्रजभाषा, खड़ी बोली, संस्कृत की कविता)
ग—१९०२ से—१९३८ ई० तक (खड़ी बोली की कविता)

खड़ी बोली को स्थापित करने में आचार्य द्विवेदी का विशेष हाथ है । इन्होंने इस बोली की नींव ही नहीं दी है, अपितु उसको स्नेह जल से सींच सींचकर दृढ़ बनाया है । इस सम्बन्ध में डा० उदयभानु सिंह का कथन विशेष महत्त्वपूर्ण है—"हिन्दी काव्य भाषा के सिंहासन पर खड़ी बोली को आसीन कर देने का प्राय: समस्त श्रेय सम्पादक द्विवेदी को ही है । उन्होंने स्वयं तो सरल, प्रांजल प्रवाहयुक्त और व्याकरण सम्मत खड़ी बोली में पद्यात्मक रचनाएँ की हीं; अपने आदर्श, उपदेश, और प्रोत्साहन से अन्य कवियों को भी खड़ी बोली में कविता लिखने के लिए प्रेरित किया ।"

इनकी कुछ कविताएँ भक्ति प्रधान हैं । इसका एक मात्र कारण आराध्य देवता का स्तवन, और उनके प्रति नम्र आत्म निवेदन है । उन्होंने व्यक्तिगत और जन समुदाय दोनों के सुख के लिए ऐसी कविताएँ लिखी है । 'देवी स्तुति शतक' इसी कोटि की है ।

आचार्य द्विवेदी ने समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिये बाल विवाह, धर्माडम्बर आदि विषयों पर भी लेखनी चलाई है । इनकी सामाजिक भावना

किया गया और यह पौराणिक कथा गढ़ी गयी कि **सैटुर्नुस, कोएलुस** का बेटा है। इस प्रकार इटालियन देवता **हेरकुलीस,** जो अग्र गति रोकनेवाले बाड़ो, बाड से घिरे हुए स्थानों तथा दीवारों का देवता था, वह ग्रीक देवता **हेराक्लीस** (*Heracles*)[१] के साथ एक कर दिया गया। इटली के मल्लाहों ने कास्टोर (Castor) और पौलुक्स (Pollux) को, जो दोनो देवता विशुद्ध ग्रीक उत्पत्ति के थे, उन्हें अपना देवता बनाकर उन पर प्रगाढ विश्वास किया, और ये पहले ग्रीक देवता थे जिनके नाम पर **लेक रेगिल्लुस** (४८५ ई० पू०) के युद्ध के बाद रोम मे[२] एक मन्दिर का निर्माण किया गया। ४३१ ई० पू० रोम मे **अपोलो** देवता के नाम पर और एक मन्दिर स्थापित किया गया। इस देवता का मन्दिर **डेल्फी** (ग्रीस) मे था। इटली में ग्रीक शरणार्थियो के बसने के बाद इस देवता की भविष्यवाणी से इटालियन लोगों ने कई बार अपने युद्ध के कार्यों में सम्मति ली। क्यूमाए नामक स्थान मे स्थापित विख्यात सिबिल्ला की भविष्यवाणियाँ ग्रीक भाषा मे[३] लिखी जाती थी और वहाँ के पुरोहितो (*duoviri sacris faciundis*), दुओवीरि साक्रिस फाकिउन्दिस 'पवित्र काम करनेवाले दो वीर', (लैटिन मे **विर** का अर्थ वीर मनुष्य था अनु०) को यह आज्ञा दी गयी थी कि वे उक्त भविष्यवाणियों का ग्रीक भाषा मे **अनुवाद** करने के लिए दो ग्रीक दासो को रख ले।[४] जब ४५४ ई० पू० मे ोमन लोगो

लैटिन शब्द गुवरनारे (=नाव चलाना) ग्रीक भाषा के शब्द कुबैरनान से निकला है; लैटिन अंकोरा (जहाज का लंगर) ग्रीक शब्द अंकुरा से निकला है; लैटिन प्रोरा (नाव का अगला 'कर्ण') ग्रीक में 'प्रोरा' है; नाविस (नाव), रेमुस (नाव का डांड़) आदि शब्द ग्रीक के ही हैं और आर्य भाषाओं में प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त शब्द रोमनिवासियों ने ग्रीक लोगों से प्राप्त किये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब फोकियन नामधारी जाति ने इटली का आविष्कार किया तो इससे पहले रोमन लोग समुद्र की यात्रा तथा उससे संबंधित लोगों से परिचित थे।

१. मौम्सेन कृत उक्त ग्रंथ, खण्ड १, पृ० १५४।

२. उक्त ग्रंथ, खण्ड १, पृ० ४०८।

३. उक्त ग्रन्थ, खण्ड १, पृ० १६५

४. सिबिल्ला या सिबुल्ला लैटिन भाषा के एक शब्द साबुस् या साबिउस्

इसी कोटि की कवितायें हैं। इन कविताओं का एकमात्र उद्देश्य नारियों को ऊँचा उठाना और उनकी महत्ता का प्रतिपादन करना था। स्मरण रखने की बात यह है कि उपेक्षित नारियों पर जितने आँसू 'द्विवेदी मंडल' के कवियों ने बहाये हैं, उतने दूसरों ने नहीं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस काल के काव्य ग्रन्थ तत्कालीन परिस्थितियों, प्रवृतियों एवं विशेषताओं से परिप्लावित हैं। इस तरह इस युग ने हिन्दी काव्य का शिलान्यास इतनी दृढ़ता, श्रद्धा एवं पवित्रता से किया है कि आज तक उस पर अनेकानेक मंजिल बनते जा रहे हैं। इस नींव के पीछे हिन्दी खड़ी बोली काव्य के जनक, विद्वान प्रवर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का ही काव्य-सिद्धान्त है। हिन्दी का यह महावीर आज भी हिन्दी सेवियों को प्रसाद बाँट रहा है।

'द्विवेदी जी शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गये, जिसमें न कल्पना की उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की 'नेरसविशद गुनमय फल जासू।'

डा० श्रीकृष्ण लाल

हिन्दी साहित्य के मार्ग-दर्शक

ईसवी की बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ ही साथ १ जनवरी सन् १९०० को सरस्वती का जन्म हुआ जिसके साथ आगे चलकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का अभेद्य सम्बन्ध हो गया। एक वर्ष तक नागरी प्रचारिणी के पञ्चायती (बाबू श्यामसुन्दर दास, राधाकृष्णदास, रत्नाकर' पं० किशोरी लाल गोस्वामी और श्री कार्तिक प्रसाद खत्री के) सम्पादकत्व में रही। इसके पश्चात् दो वर्षों तक बाबू श्यामसुन्दर दास ने अकेले ही इसका सम्पादन किया। इसके प्रभु चिन्तामणि घोष बंगाली थे पर वे हिन्दी के विकासेच्छु थे। उस समय महावीर प्रसाद द्विवेदी रेलवे में नौकरी कर रहे थे पर भगवान हिन्दी के अनुकूल थे इसलिए परिस्थितियों के दबाव से श्री द्विवेदी जी को नौकरी से त्यागपत्र देना पड़ा। उच्चाधिकारियों की ओर से इस्तीफा वापस लेने के सतत प्रयास करने के अनन्तर भी द्विवेदी जी ने उसे वापस नहीं लिया। शायद सरस्वती ही उनकी पुण्यस्मरणीया पत्नी के कण्ठ में थी जिसने इस्तीफा वापस लेने को 'थूककर पुनः चाटना' कहा था। इस प्रकार द्विवेदी जी ने रेलवे की नौकरी से मुँह मोड़ लिया और हिन्दी की सेवा में पूरा समय देने के लिए उन्होंने कमर कस ली।

१९०३ ई० में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का पूरा भार अपने कन्धों पर उठा लिया। उस समय हिन्दी भाषा और साहित्य में अराजकता छाई थी। भाषा के क्षेत्र में १९ वीं शती में लल्लूलाली हिन्दी तो पादरियों द्वारा चल ही रही थी, उसके बाद पाठ्य पुस्तकों के लिए शिवप्रसादी हिन्दी भी सामने आ गई थी। इसीके विरोध में १८७३ ई० में हरिश्चन्द्री हिन्दी भी चली। इस समय राजा लक्ष्मण सिंह की हिन्दी एक अलग ही अपना मार्ग बना रही थी जिसका सिद्धान्त वाक्य था—'हिन्दी उर्दू दो न्यारी न्यारी बोलियाँ हैं।' इस भाषा की अराजकता को अंगरेजी अधिकारी और साहित्य प्रेमी और भी बढ़ावा दे रहे थे। ग्रियर्सन इत्यादि विद्वान उच्च हिन्दी (तत्सम प्रधान) के विरोध में ठेठ हिन्दी को प्रोत्साहित करते थे। उन्हीं के संकेत पर पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने १८९९ ई० में 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' प्रकाशित किया जिसे सर जार्ज ग्रियर्सन की कृपा से आई० सी० एस० के लिए पाठ्यक्रम में आने का गौरव प्राप्त हुआ। इस ठेठ हिन्दी से भिन्न म० म० सुधाकर द्विवेदी ने एक सरल हिन्दी

निकुस, जो **तारेन्तुम** (ई० पू० २७२ में) युद्ध का बन्दी बनाकर रोम भेजा गया था, रोम में ही बस गया और ग्रीक भाषा के अध्यापक के रूप में रोम में ही डटा रहा। उसका, होमर के ग्रन्थ **ओडिसी** का लैटिन पद्य मे अनुवाद रोमन साहित्य का श्रीगणेश समझा जाना चाहिए। यह प्राय: स्पष्ट ही है कि यह ग्रन्थ उक्त लेखक ने अपनी चलायी हुई पाठशाला के छात्रों के लिए लिखा था। उसके लिखने का ढग यद्यपि बहुत ही भद्दा है और नाम मात्र भी लचीला नही है, तो भी रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम के उगते हुए कवियो ने इसे सर्वथा पूर्ण और अपना आदर्श साहित्य समझा। **नेविउस** और **प्लाउटुस** उसके समसामयिक थे और उसके मरने के बाद भी इन्होने लैटिन में ग्रीक साहित्य के झण्डे को फहराया। **प्लाउटुस** के सभी नाटक मौलिक ग्रीक नाटको के अनुवाद थे और रोमन लोगो की मानसिक परिस्थिति के अनुसार उनमें कहीं-कही बदलाव भी कर दिया गया था। इस पर तमाशा यह था कि रोमन लोगो की इच्छा को देखकर **प्लाउटुस** ने ग्रीस देश के दृश्यों और वहाँ हुई घटनाओ को रच मात्र नही बदला। रोम के निवासी ग्रीक जीवन को, या कहिए, ग्रीक लोगों के भ्रष्ट चरित्र को ही देखना चाहते थे; यदि कोई कवि किसी रोमन रईस या किसी महिला को रंगमच पर ले आने का साहस करता तो इनके जीवन को देखने की इच्छा न होने के कारण वे लोग कवि पर पथराव कर उसे मार डालते। लैटिन मे ग्रीक दु खान्त नाटकों का भी धड़ाधड अनुवाद होने लगा। **एन्निउस**, जो **नेविउस** और **प्लाउटुस** का समकालीन था, भले ही वह उक्त लेखको से कुछ कम आयु (२३९ ई० पू० से १६९ ई० पू०) का था, उसने **यूरिपाइडीज** के नाटकों का सर्वप्रथम अनुवाद किया। यह **एन्निउस, आन्द्रोनिकुस** के समान एक ग्रीक था जो सदा के लिए इटली में ही बस गया था। यह रोम मे भाषाएँ सिखाता था और ग्रीक भाषा के नाटकों का अनुवाद करता था। इसे रोम के उदार दल ने बहुत संरक्षण दिया। **पुब्लिउस सीपिओ, तितुस, फ्लामिनिउस** और **मारकुस पुब्लिउस नेबिलिओर**[1] उस पर लट्टू थे तथा उसके बहुत बड़े सहायक थे। वह भी रोम पर इतना फिदा था कि वहाँ का नागरिक ही बन गया। यह मानना पड़ता है कि **एन्निउस** केवल कवि ही नही था, वल्कि कवि से भी बहुत बडा था, और वह भाषाओ का अध्यापक ही नही रहा, उसका पद उससे भी बहुत ऊँचा था।

१. मॉम्सेन कृत उक्त ग्रंथ, खण्ड १, पृ० ८९२।

के एकत्व और अद्वैत के ज्ञान के बाद ही जीवात्मा में ब्रह्म से मिलन-वियोग की अनुभूति जगाई जा सकेगी। अतः स्पष्ट है कि कबीर की साधना में ज्ञान-भक्ति का विरोध नहीं है। ज्ञान भक्ति का पूरक है। ज्ञान की भूमि पर ही सतगुरु द्वारा भगवद्भक्ति का बीजारोपण होता है।

लेख अपने आप में एक चुनौती था। अब तो इस प्रश्न ने साहित्यिक ही नहीं साम्प्रदायिक और जातिगत विद्वेष की भावना फैलाई और इसीलिए खत्री जी का यह आन्दोलन सफल भी न हुआ।

परन्तु द्विवेदी जी ने जब सरस्वती के माध्यम से पुनः खड़ी बोली आन्दोलन प्रारम्भ किया तब उन्होंने धार्मिक, जातिगत आदि भावनाओं को दबा कर साहित्य और भाषा की उन्नति को ही अपना एक मात्र लक्ष्य बनाया। उनके तर्क से सभी प्रतिवादी निरूत्तर भी हो गए। इस प्रकार खड़ी बोली को काव्य-भाषा का गौरव प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार शृंगार रस, नायिका भेद, लक्षण ग्रन्थ आदि को लेकर जो ऊहा-पोह और वितंडावाद चल रहे थे द्विवेदी जी ने अपनी प्रखर प्रतिभा से उन सबों को समाप्त कर दिया और साहित्य में भाषा, भावगत अराजकता समाप्त कर साहित्य और भाषा को व्यवस्थित मार्ग प्रदान करना द्विवेदी जी का हिन्दी के लिए श्रेष्ठ योग दान है।

द्विवेदी जी के पहले हिन्दी का सम्बन्ध संस्कृत और उर्दू से पृथक-पृथक जोड़ा जाता था। कुछ संस्कृत वाले पंडित थे जो हिन्दी को संस्कृत की बेटी मानते थे और भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों के बाहुल्य पर बल देते थे। कुछ उर्दूदां उर्दूवी हिन्दी पर बल देने के कारण अरबी-फारसी के शब्दों को भरते थे। यदि पंडित वर्ग की रुचि संस्कृत के संधि, समास, वर्णवृत्तों में अधिक रमती थी तो मुंशी वर्ग (बाल मुकुन्द गुप्त, लाला भगवान दीन आदि) उर्दू के प्रयोगों का आग्रह कर रहे थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर' आदि हिन्दी के परम भक्त होते हुए भी 'रसा' 'बिरहमन' आदि उपनामों से उर्दू काव्य की रचनाएँ कर रहे थे। इस प्रकार दोनों वर्गों में एक प्रकार की खींचातानी चल रही थी। इनमें किसी तरह का समझौता सम्भव ही नहीं था। ऐसे विकट समय में पं० द्विवेदी जी ने उर्दू से हटा कर हिन्दी का सम्बन्ध बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं से जोड़ा और इस तरह जो साहित्यिक जगत में भाषा के आधार के सम्बन्ध में खींचातानी चल रही थी उसे द्विवेदीजी ने समाप्त कर दिया। इसे समाप्त करने से द्विवेदीजी को इसलिये अधिक शक्ति मिल गई कि उस समय की सभी आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा था और द्विवेदीजी ने भी संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान भाषा की ओर ही लोगों को आकृष्ट किया। उर्दू की प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति से बहुत मेल नहीं खाती थी। भाव-विचार सभी दृष्टियों से उर्दू बहुत कुछ विदेशी हो चली थी। उसका मूल स्रोत ही देशी नहीं था। हिन्दी के क्षेत्र में ही उर्दू का जन्म, पालन-पोषण हुआ और राज दरबारों का अनुग्रह प्राप्त कर उसने हिन्दी को पद दलित भी किया। इसलिए हिन्दी के साहित्यकार उर्दू से मुँह नहीं मोड़ सकते थे।

पं० द्विवेदीजी ने ही इन प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का सम्बन्ध प्रदर्शित कर इसे उर्दू की तरफ से हटाया। उनमें भी विशेष कर बंगला से अत्यधिक पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। उन विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के मेल से उनकी भाव-धारा, विचारधारा से हिन्दी ने एक नया मोड़ लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा और साहित्य को, तद्गत अराजकता के युग से उद्धार कर एक, निश्चित मार्ग शैली और व्यवस्था दी, अतः महावीर प्रसाद द्विवेदी जी खड़ी बोली हिन्दी के अपने युग के सर्वप्रधान शैलीकार और भाषा और साहित्य के व्यवस्थापक माने जाते हैं और आगे भी माने जायेंगे।

*

"द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचन्द जी आदि के उपन्यास साहित्य में फूला फला। ......मनुष्य में सत् के प्रति जो पक्षपात रहता है, वह जब असली साहित्य रचना का नियंत्रण करने लगता है, तब साहित्य में आदर्शवाद का युग आता है......द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो समाज में एक सात्विक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास वैभव का निषेध, ये सब द्विवेदी युग के आदर्श हैं। इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी पूर्णता का अवलंब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परन्तु अपनी सत्यवृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य होगा। वह आदर्श धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करता है और हमारे मस्तिष्क की सत्यान्वेषिणी शक्ति का समाधान करके आत्मतृप्ति की व्यवस्था करता है।"

—डा० श्यामसुन्दर दास

प्रो० शालिग्राम उपाध्याय

भाषा की अनस्थिरता और आचार्य द्विवेदी

बीसवीं शती के प्रथम दशक तक खड़ी बोली के शब्द-समूह और व्याकरण में पर्याप्त अस्थैर्य था। कुछ लोग अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से करते थे। लाला हरदयाल, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित आदि कुछ लोग इसके कट्टर विरोधी और संस्कृत शब्दों के प्रबल पक्षपाती थे। पं० सुधाकर द्विवेदी और मन्नन द्विवेदी आदि कुछ विद्वान् इन दोनों प्रकार के शब्दों से हिन्दी की कोख भरने को ठीक नहीं मानते थे। ये लोग बोलचाल की भाषा के समर्थक थे—स्थानीय शब्दों के प्रयोक्ता थे। इस प्रकार तीन प्रमुख दल हो गए थे। फारसी-अरबी के बहुल प्रयोक्ता, संस्कृत के पक्षधर और ठेठ या स्थानीय शब्दों के उद्धारक।

आचार्य शुक्ल ने गद्य साहित्य के द्वितीय उत्थान में व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की 'अनस्थिरता' पर जिस कोप दृष्टि की चर्चा की है वह पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्री बालमुकुन्द गुप्त, बाबू गोपालराम गहमरी और पं० गोविन्द नारायण मिश्र आदि के भाषा-विषयक विवाद को व्यक्त करता है। यह कोप दृष्टि भी अच्छी ही रही। इसीसे शुक्ल जी ने पं० द्विवेदी जी को व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई का प्रवर्तक बताया और घोषित किया कि हिन्दी साहित्य पं० द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा।

रेलवे की नौकरी छोड़कर हिन्दी सेवा में दत्तचित्त सारस्वतेय प्रभविष्णु आचार्य हिन्दी-शब्द-समूह में विलक्षण ग़दर देख चिन्तित हो जाता है। न शब्द-भंडार के स्रोत का कोई ठिकाना, न व्याकरण का कोई सर्वमान्य या बहुमान्य रूप विधान उसे दिखाई पड़ता है। हिन्दी के व्याकरण का अभाव उसे बहुत खटकता है (यद्यपि छोटे-छोटे व्याकरण विद्यमान थे)। जब भाषा के लिए कोई नियम ही नहीं रहेगा तो सभ्य या उच्च-साहित्य का निर्माण कैसे होगा? "एक तो हिन्दी भाषा में साहित्य का एक प्रकार से अभाव ही है, दूसरे उसकी अनस्थिरता उसको बरबाद कर रही है। जिस अखबार को उठाइए, जिस पुस्तक को उठाइए, सबकी वाक्य-रचना में आपको भेद मिलेगा। व्याकरण का नियम निश्चित न होने से सब अपने-अपने नियम को ठीक समझते हैं। इसकी तरफ लोगों का बहुत कम

उपनिषद् के बाद इस रहस्यवादी चिंताधारा ने वेदांत, योग, भक्ति-वाद इत्यादि का रूप धारण कर लिया, परन्तु मूलाधार एक ही रहा। सच तो यह है कि यह साधना भारतवर्ष की सामान्य साधना के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और कबीर ने उसे परंपरा से ही प्राप्त किया, शास्त्रज्ञान से नहीं।

परन्तु प्रत्येक साधक को अपनी साधना को नई पृष्ठभूमि देनी होती है। कबीर के काव्य के अध्ययन से हमें उनकी रहस्यवादी विचार-धारा की पृष्ठभूमि भी मिल जाती है। कबीर माया और काल की भीषणता से आक्रांत हैं। यह सारा संसार माया के चक्कर में पड़ा है और इस फंद से निकलना बड़ा कठिन है। कबीर कहते हैं—

जल महि मीन माइआ के बेधे। दीप पतंग माइआ के छेदे॥
काम माइआ कुंचर कउ बिआपै। भुइअंगन भ्रिग माइआ महि खापै॥
माइआ ऐसी मोहनी भाई। जेते जीअ तेते डहकाई॥
पंखी म्रिग माइआ महि राते। साकर माखी अधिक संतापे॥
तुरे उसट माइआ महि भेला। सिध चउरासीह माइआ महि खेला॥
छिअ जती माइआ के बंदा। नवै नाथ सूरज अरु चंदा॥
तपे रखीसर माइआ महि सूता। माइआ महि काल अरु पंच दूता॥

माया की कल्पना स्वयं रहस्यवादी कल्पना है। सारा संसार माया के स्वर्ण-पाश में बँधा है। काल भी माया का ही अंग है। जीवन की नश्वरता मनुष्य की सारी साधना पर पानी फेर देती है। कबीर का कहना है :

जोगी जती तपी संनियासी बहु तीरथ भ्रमंना।
लुंजित मुंजित मोंन जटाधर अंति तऊ मरनां॥
तातै सेवीअले रामनाँ।
रसना राम नाम हितु जाकै कहा करै जमना॥

१—'मेरी बनाई वा *अनुबादित* वा संग्रह की हुई पुस्तकों को श्री बाबूराम दीन सिंह 'खड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापैं।'

—*बकरी बिलाप* की पीठ पर वाली नोटिस (२३ सितम्बर १८८२)

—हरिश्चन्द्र

संशोधन—···अनुवादित···पुस्तकों को छापने का श्रीबाबू···कि उन्हें या उनको छापैं।

२—'धरती पर अनेक देश हैं, और उनमें मनुष्य बसते हैं। परन्तु सब देश के लोगों की एक सी बोली नहीं है।' —बालबोध। (राजा शिव प्रसाद)

संशो०— '···सब देशों के······'

३—'बिजली कुछ बादलों ही में नहीं रहती। *थोड़ी बहुत* सब जगह और अक्सर चीजों में रहा करती है। यहाँ तक *कि हमारे* और तुम्हारे बदन में भी है। और कलों के जोर *से भी* निकल सकती है।'—विद्यांकुर, २३ वीं आवृत्ति।

(राजा शिवप्रसाद)

संशो०— '···थोड़ी बहुत बिजली···कि वह हमारे और तुम्हारे···भी वह निकल सकती है।'

४—'औरंगजेब ने तख्त पर बैठकर अपना लक़ब आलमगीर रक्खा। मुल्तान के पास *तक दाराशिकोह* का पीछा किया। लेकिन जब सुना कि दाराशिकोह मुल्तान से सिन्ध की तरफ भाग गया और शुजा बंगाल में आता है, *फौरन* इलाहाबाद की तरफ मुड़ा।'

—इतिहास तिमिरनाशक (राजा शिवप्रसाद)

संशो०— '····पास तक उसने दाराशिकोह···जब उसने सुना···फौरन वह इलाहाबाद····'

५—'यंत्रालयाध्यक्ष महाशय की इस पर ऐसी कृपा हुई कि आज एक वर्ष में छाप कर अब आप लोगों के हस्तगत होने के *योग्य किया* है।'

कादम्बरी (गदाधर सिंह)

संशो०—'···कि आपने (या उन्होंने) आज···के योग्य इसे किया है।'

६—'यह [······][1] नहीं कि *आप जिस* भाषा को स्वप्न में भी *नहीं देखा* उसमें दफ्तर हो। ······फिर आप अंग्रेजी अख़बारों को, जो आपको सरासर गालियाँ देते हैं और नित्य बासी मुँह आपके राज्य का *सत्यानाश चाहते हैं,* उन्हें तो खरीदते हैं······अंग्रेजी अख़बार तो खास इसी वजह से लिये जाते हैं कि *वह* रियासत के ख़िलाफ़ न लिखैं और उर्दू अमलावालों के लिए लेते हैं।''

—भारतेन्दु ३-७ (श्री राधाचरण गोस्वामी)

१—कोष्ठक में एक अत्यन्त ग्राम्य शब्द है। 'कोई भी संपादक किसी सभ्य-जन के सामने वैसा शब्द मुँह से न निकालेगा।' —द्विवेदी जी की टिप्पणी।

संशो० '···आपने ··· नहीं देखा ··· चाहते हैं तो खरीदते हैं। ··· वे रियासत ···· ।'

७—"*यह एक* पुस्तक नागरी में है। ··· जिनको *ये दोनों पुस्तक* लेनी हों···शाहजहाँ पुर से मँगालें। ···तृतीय भाग में निषेधकों *के आपत्तियों* और कल्पनाओं के विधिपूर्वक उत्तर हैं।"—काशीनाथ खत्री, सिरसा।

संशो० "यह पुस्तक ··· दोनों पुस्तकें··· निषेधकों की आपत्तियों और कल्पनाओं ··· ।"

चूकि द्विवेदी जी अंगरेजी, संस्कृत, बँगला, मराठी, हिन्दी आदि कई भाषाओं के विशेषज्ञ थे, अतः उन्होंने उन भाषाओं के निर्दोष उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने मुहाविरे वाले प्रयोगों को उचित बताया है पर साथ ही साथ यह भी लिखा है कि "सब कहीं मुहाविरे के बल पर असंयत भाषा लिखना मानों व्याकरण को तिलाञ्जलि देना और भाषा की अनस्थिरता को बढ़ाना है।

उर्दू वालों के प्रभाव से तत्कालीन बढ़ते हुए नये प्रयोगों की भी उन्होंने आलोचना की है। इस प्रकरण में हिन्दी वाच्य विधान भी समझाने लगे हैं।[1] यहाँ अधोलिखित उनके द्वारा अखबार से लिए गये चार उद्धरण अवलोकनीय हैं—

१—"लाचार फौज की सहायता से गिरिजा घेर लिया और उसको पकड़ कर कैदखाने में पहुँचाया गया।"

---

१ "संस्कृत भाषा में वाच्य चार प्रकार के होते हैं—कर्तृवाच्य, कर्म्मवाच्य भाववाच्य और कर्म्मकर्तृवाच्य। कर्तृवाच्य उसे कहते हैं जिसके कर्त्ता में प्रथमा और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है और क्रिया के लिंग और वचन कर्त्ता के अनुकूल होते हैं। यथा, लड़का पुस्तक पढ़ता है; मैं चन्द्रमा देखता हूँ; वे कागज काटते हैं।

कर्म्मवाच्य उसे कहते हैं जिसमें कर्त्ता तृतीया विभक्त्यन्त और कर्म्म प्रथमा विभक्त्यन्त होता है और क्रिया के लिंग और वचन कर्म के अनुकूल होते हैं। यथा, मुझसे झूठ बात नहीं कही गई; उनसे प्रश्न का उत्तर न दिया गया, उससे सब काम न हो सके।

भाव वाच्य उसे कहते हैं जिसमें कर्त्ता तृतीया विभक्तियुक्त होता है। उसमें क्रिया को कर्म्म की अपेक्षा नहीं रहती और वह हमेशा पुंल्लिङ्ग, एकवचन, होती है। यथा—मुझसे बैठा नहीं जाता, तुमसे चला नहीं गया; उनसे बोल नहीं आया।

कर्म्मकर्तृवाच्य में कर्म्म ही कर्त्ता हो जाता है। अर्थात् कर्ता कर्म्मवत् व्यापार करता है। उसमें प्रथमा विभक्ति होती है और क्रिया के लिंग और वचन कर्त्ता के अनुकूल होते हैं। यथा—भोजन बनाया गया; वह पहुँचाया गया; वह भेजी गई; वे बेइज्जत किये गये।"—वाग्विलास (पृ० १००-१०१)

यह संकल्पात्मक दुःख और उल्लास कबीर के काव्य की अन्यतम चीज़ है जो एकदम हमारे प्राणों को स्पर्श करती है। जिन्हें केवल 'दो-दो-चार' का व्यावहारिक ज्ञान है, जिन्होंने इस जीवन में कभी परोक्ष का स्पर्श नहीं जाना उनके लिए यह दुःख और उल्लास रहस्य-सृष्टि है, परन्तु कबीर जैसे साधक के लिए तो यह सत्य से भी अधिक सत्य, स्थूल से भी अधिक स्थूल है। भला इतने आत्मविश्वास के साथ अपने क्षुद्र व्यक्तित्व को विराट में मिला देने की बात कौन कहेगा—

उदक समुंद सलिल की साखिआ नदी-तरंग समावहिंगे।
सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिंगे॥
बहुरि हम काहे आवहिंगे।
आवन जाना हुकमु तिसै का हुकमै बूझि समावहिंगे॥

परन्तु कबीर का विश्वास तो डिगना ही नहीं जानता।

इस उच्च अध्यात्म-भाव को भीतर से ही विकसित करना होगा। कबीर इसे जानते हैं। उपनिषदों के ऋषि, योगी और सूफ़ी सब यही बात कहते हैं। कबीर भी कहते हैं:

सरीर सरोवर भीतरे आछै कमल अनूप।
परम जोति पुरषोतमो जाकै रेख न रूप॥
रे मन हरि भजु भ्रमु तजहुँ जगजीवन राम।
आवत कछु न दीसई नह दीसै जात॥
जह उपजै बिनसै नहीं जैसे पुरिवन पात॥

कहीं योगियों की प्राणायाम की साधना का रूपक बाँधते हैं:

तरुवर एकु अनन्त डार साखा पुहुप पत्र रस भरीआ।
इह अंम्रित की बाड़ी है रे तिनि हरि पूरै करीआ॥

आत्मदेव का स्थापन करना ही न्याय युक्त और फलप्रद है ! "चन्द्रकान्ता और सन्तति" में यद्यपि इस बात का पता नहीं लगेगा कि कब और कहाँ भाषा का परिवर्तन हो गया परन्तु उसके आरम्भ और अन्त में ठीक वैसा ही परिवर्तन पावेंगे जैसा बालक और वृद्ध में। एकदम से बहुत से शब्दों का प्रचार करते तो कभी सम्भव न था कि उतने संस्कृत के शब्द हम उन कुपढ़ ग्रामीण लोगों को याद करा देते जिनके निकट काला अक्षर भैंस के बराबर था। हमारे इस कर्त्तव्य का आश्चर्य मय फल देखकर वे लोग भी बोधगम्य उर्दू के शब्दों को अपनी विशुद्ध हिन्दी में लाने लगे हैं जो आरम्भ में इसीलिये हम पर कटाक्षपात करते थे। इस प्रकार प्राकृतिक प्रभाव के साथ साहित्य सेवियों की सरस्वती का प्रभाव बदलता देखकर समय के बदलने का अनुमान करना कुछ अनुचित नहीं है। जो हो भाषा के विषय में हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वर्णों में हो क्योंकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिंचाव उन्हीं मूल भाषाओं की ओर होता है जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है।'

राजा शिवप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री के विचारों में बहुत कुछ साम्य है। किन्तु व्यावहारिक रूप में देवकीनन्दन खत्री ने अरबी-फ़ारसी के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जो सूबा हिन्दुस्तान की जनता में प्रचलित थे। हिन्दुस्तानी स्कूल के सच्चे प्रतिनिधि वे ही हैं, राजा शिवप्रसाद नहीं। देवकीनन्दन खत्री की भाषा से तो सभी परिचित हैं। मुंशी देवीप्रसाद के 'हिन्दूपति महाराणा उदयसिंह जी' (१८९३) से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती है :

'संवत् ६१० में सलेमशाह के मरने पर राठौड़ पृथ्वीराज ने जोधपुर से जाकर फिर अजमेर के किले को घेरा किलेदार ने हिन्दूपति को किला देना करके चीतौड़ से बुलाया महाराणा बहुत सी फौज लेकर गये और पृथ्वीराज को हटाकर अजमेर में अमल कर लिया और पठानों को ज़िन्दा और सलामत निकाल कर नागौर भी जा दबाया इस बात से पृथ्वीराज को बड़ी शर्मिंदगी हुई और राव मालदेव जी के पास जो मेड़ता फ़तह करने को आते थे पहुँच कर बहुत कोशिश उनको अजमेर के ऊपर लाने की की। मगर रावजी मेड़ते को फतह करना अजमेर से जियादा जरूरी समझ कर पृथ्वीराज को भी अपने साथ ले गये मगर वहाँ हार हुई और पृथ्वीराज काम आया।'[1]

अरबी-फ़ारसी-मिश्रित भाषा का अधिक प्रचार न हो सका। साहित्यिकों को भाषा का यह रूप बहुत खटका और उसकी कड़ी आलोचना की गई। आलोच्य

---

[1] पृ० ८६ ९०

आचार से भाषा भी सात्विकोन्मुख हुई। उन्होंने अंग्रेजी आदि दूसरी भाषा के शब्दों में संस्कृत व्याकरण के अनुसार परसवर्ण, षत्व-णत्व के विधान को अनुचित बताया। 'अन् जुमन की, जगह 'अञ्जुमन' 'पोस्ट मास्टर' की जगह पोष्ट माष्टर, 'गवर्नमेन्ट' की जगह गवर्नमेण्ट को उन्होंने ठीक नहीं बताया।

आचार्य द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक क्रान्तिकारी निबन्ध के निकलते ही इनकी प्रशंसा में उनके यहाँ अनेक पत्र पहुँचे। इसी पद्धति पर दो चार और भी लेख लिखने का आग्रह किया गया। पं० गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। बाबू काशी प्रसाद जायसवाल ने इसे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखक के लेख के अनुरूप बताया। पं० पद्मसिंह शर्मा को तो इस लेख ने ऐसा मोहित कर लिया कि उन्होंने इसे बार-बार पढ़ा। इसके प्रतिकूल उन्हें कुछ सूझता ही नहीं था। उसकी प्रत्येक बात उनको अपनी मालूम हुई और उन्होंने द्विवेदी जी के पास गालिब का एक शेर लिख भेजा।

''देखना तकरीर की लज्जत की जो उसने कहा।
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।''

पं० श्रीधर पाठक भी उस लेख के अधिकांश भाग से सहमत थे। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो उससे असहमत थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू गोपालराम गहमरी आदि ऐसे ही व्यक्ति थे। यद्यपि द्विवेदी जी ने व्याकरण विरुद्ध उद्धरण देने से पहले पर्याप्त (शतबार) क्षमा प्रार्थना की थी, किन्तु इसे श्रद्धा पर प्रहार समझा गया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जैसे श्रद्धेय व्यक्तियों की रचनाओं में दोष निकालना बहुतों ने अनुचित समझा। भारत मित्र के सम्पादक श्री बालमुकुन्द गुप्त ने दश उच्छ्वासों में द्विवेदीजी द्वारा बताई गई त्रुटियों का परिहार किया और स्वयं द्विवेदीजी के लेख का खंडन किया। खण्डन क्या किया, उनके लेख को ही उड़ा देने की भरपूर चेष्टा की। प्रत्येक सप्ताह उस लेख की कुछ न कुछ त्रुटियाँ वे अवश्य दिखलाते। गुप्तजी वाला लेख भी महत्त्वपूर्ण है जो बाद में 'गुप्त निबन्धावली' में संगृहीत हुआ। उन्होंने द्विवेदीजी द्वारा प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द के साधुत्व में सन्देह प्रकट किया। प्रति सप्ताह द्विवेदी जी से उसका साधुत्व पूछते। ऐसे लोगों के भी अनेक आक्षेप पूर्ण पत्र द्विवेदीजी के पास आए थे, जिनकी चर्चा फरवरी १९०६ की 'सरस्वती' में उन्होंने की है। उस अंक में द्विवेदीजी ने 'गुप्तजी' और 'गहमरीजी' को उनके प्रश्नों का उत्तर दिया है। प्रश्नोत्तर की भाषा और चुटकियाँ देखने ही योग्य हैं।

सुना, म० म० श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी 'अनस्थिरता' की अशुद्धि के विषय में 'ब्रह्मचारी' में कुछ लिखा था पर उनका लेख देखने को नहीं मिला। द्विवेदी जी ने 'अथ शब्दानुशासनम्' को पाणिनि का अधिकार सूत्र कहा था। कुछ लोगों ने अपने पत्रों द्वारा बताया कि यह पाणिनि का सूत्र नहीं पतञ्जली का एक

वाक्य है। किन्तु द्विवेदीजी ने 'अल्पाक्षरत्वे सति बह्वर्थ वाचक त्वं सूत्रत्वम्' इस सूत्र के लक्षण द्वारा और 'स्त्रिया मया वाग्मिषु' वाला नैषध का उद्धरण देकर इसे सूत्र ही बताया। साथ ही १७६२ ई० की छपी श्री भीम सेन शर्मा की 'अष्टाध्यायी में इसे सूत्र रूप में प्राप्त होने का उल्लेख किया। इसके अविकार सूत्र होने में भाष्यकार का प्रमाण दिया।

'अनस्थिरता' की शुद्धि के विषय में द्विवेदी जी ने नागपुर के माधव राव सप्रे की साक्षी में उनके साथी संस्कृत चन्द्रिका के सम्पादक श्री अप्पा शास्त्री विद्यावागीश से भी पूछा था। द्विवेदी जी ने जिस अर्थ में 'अनस्थिरता' का प्रयोग किया था, इसे उन्होंने भी स्वीकार किया और उन्होंने तो यह भी बताया कि जिस व्याकरण में 'मालिक', 'मौलाना' और 'पाकेट' 'ब्लाकेट' आदि शब्दों को शुद्ध साबित करने की शक्ति है, उसके लिए 'अनस्थिरता' को शुद्ध साबित करना कौन बड़ी बात है। पूर्व-पक्षियों का कहना था—न+स्थिर=अस्थिर होगा अनस्थिर नहीं, उसमें (अनस्थिर में) भी 'ता' प्रत्यय का जुटना तो और भी कठिन है।

द्विवेदी जी ने इसे—१ ''अनमिल आखर अरथ न जापू।'' २—'हित अनहित पशुपच्छिहु जाना।' ३—'अनदेखी अनसुनी बनाय, कुकथा कहै सभा में आय। ४—'कहि गिरिधर कविराय घरै आवै अनगैरी।' ५—'अनहोनी होनी करै होनी होन न देय।'' इत्यादि उद्धरणों के द्वारा 'अनमिल,' 'अनहित,' 'अनरीति' 'अनमोल' 'अनगैरी,' 'अनदेखी, अनसुनी की तरह हिन्दी का शब्द बताया। उन्होंने लिखा—'अस्थिरता' की जगह 'अनस्थिरता' लिखना अनुचित नहीं। अस्थिरता शब्द केवल स्थिरता के प्रतिकूल अर्थ का बोधक है। जो स्थिर नहीं वह अस्थिर है। परन्तु जिसमें अतिशय अस्थिरता है, जिसमें अस्थिरता की मात्रा अत्यन्त अधिक है, उसके लिए 'अनस्थिरता' ही का प्रयोग हम अच्छा समझते हैं।[१] उन्होंने यह भी बताया कि यदि इसे संस्कृत व्याकरण के अनुसार बनाना चाहें तो भी यह बन जायगा। ''न विद्यतेअस्थिरं यस्मात् तत् अनस्थिरं तस्य भाव: अनस्थिरता''[२]। विरोधी पक्ष 'अनरीति,' 'अनहोनी' आदि में भी अब 'ता' प्रत्यय लगाने की चर्चा करने लगा।

द्विवेदी जी ने अपने उत्तर में सुनाया कि 'गुप्त' के स्थान पर 'गुप्ता' शब्द संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि सब भाषाओं के व्याकरणों से सही है, पर 'अनस्थिरता' नहीं! नायिका का नाम अब तक 'गुप्ता' सुना गया था अब नायक भी पैदा हो गए।...'ये महात्मा संस्कृत के सैकड़ों शब्द तोड़ मरोड़ कर हिन्दी बना देंगे; 'चञ्चलता, 'सुन्दरता,' 'सुकुमारता' आदि के आगे खुशी से एक 'ई' बढ़ा देंगे; पर हमारे समालोचक अनस्थिर के आगे 'ता' नहीं होने देंगे।'...''हम कहते हैं, अगर 'चञ्चलता' में 'ई' लगे तो तत्समान लिंग धारी गिनती, विनती और आपकी 'नेक-

१—वाग्विलास (पृ० ११६-११७) २—वही (पृ०८४)

जाति या माता जाति का भेद बताया गया है। उक्त वाक्य-खण्डों में गुणवाचक शब्दों का प्रयोग करने से भी प्रयोजन सिद्ध हो जाता। यदि हम 'पैतृक-मातृक पुत्र' कहते तो हमारी समझ में इनका अर्थ साफ हो जाता और सम्बन्ध कारक के स्थान पर हम गुण या विशेषतावाचक शब्द काम मे लाते। व्युत्पत्ति विज्ञान के अनुसार यह भी प्रमाणित किया जा सकता है कि सम्बन्ध कारक का प्रत्यय अधिकाश स्थलों पर उन मूलों को बतानेवाले प्रत्ययों के समान ही है जिनके द्वारा पदार्थवाचक शब्दों से गुणवाचक शब्द बनाये जाते हैं।[1]

१ तिब्बती भाषा में इस विषय पर नियम यह है कि 'पदार्थवाचक शब्दों से गुण-वाचक शब्दों में रूपान्तर करने के लिए संज्ञा के अन्त में संबंध कारक की विभक्ति जोड़ दी जाती है और संबंध कारक कर्ताकारक से बनाया जाता है तथा इसे बनाने के लिए इसमें गुणवाचक का चिह्न जोड़ दिया जाता है।' अब उदाहरण लीजिए। shing (शिंग) का अर्थ तिब्बती भाषा में 'लकड़ी' है; shing gi (शिंग गी) का अर्थ हो गया 'लकड़ी या काष्ठमय'; सेर का अर्थ उक्त भाषा में 'सोना' है और ser-gyi (सेर गिइ) का अर्थ हो गया 'सोने का या स्वर्णमय'; 'मि' का अर्थ इस भाषा में 'मनुष्य' है और *mi-yi* (मियि) का अर्थ हो गया 'मनुष्य का या मानवीय।' गारो भाषा में भी जिसमें संबंधकारक की विभक्ति का रूप 'नि' है, हम देखते हैं कि *mande-ni-jak* (मान्दे-नि-जक) का अर्थ 'मनुष्य का हाथ' है। इसे हम 'मान-वीय हाथ' भी कह सकते हैं; *ambal-ni kethali* (अम्बल-नि-केथालि) का अर्थ 'काष्ठमय चाकू', अर्थात् 'काठ का चाकू' है। हिन्दुस्तानी भाषा में संबंधकारक रूप इतने अधिक स्पष्ट रूप में गुणवाचक विशेषण हैं कि उसकी विभक्ति जिस शब्द का लिंग बताती है उसी लिंग में रख दी जाती है। अब यह देखना चाहिए कि संस्कृत और ग्रीक भाषा में यह परिवर्तन कैसे होता है? संस्कृत में 'त्य' प्रत्यय जोड़कर संज्ञा से गुणवाचक विशेषण बनाया जाता है (*Turanian Languages* 'तूरानी भाषाएं' नामक पुस्तक पृष्ठ ४१ और उसके बाद के पृष्ठ; *Essay on Bengali* बंगला भाषा पर निबंध' नामक पुस्तक पृष्ठ ३३३)। एक उदाहरण लीजिए— दक्षिण (South) शब्द का गुणवाचक विशेषण शब्द दक्षिणात्य···होता है। यह त्य प्रत्यय साफ ही एक दिशासूचक सर्वनाम है, जैसे कि संस्कृत में स्यस्, स्या, त्यद् (यह या वह) हैं। त्य सर्वनाम का एक मूल है और इसलिए इस

संकोचवश प्रकाशित हुआ है। उस पत्र में एक वाक्य था—'जैसा उपयोगी द्विवेदी जी का लेख है वैसा ही आत्माराम का भी है।' इस पर पं० मिश्र जी लिखते हैं—'यह कैसे हो सकता है?'...'आत्माराम' और द्विवेदी जी के इस झगड़े में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य यह बात है कि 'आत्माराम' सिर काट कर बालों की रक्षा करने का प्रयासी और यथार्थ में व्याकरण की जड़ काटने वाला है। परन्तु द्विवेदी जी की कहीं-कहीं कुछ भूलें भी हैं; तथापि व्याकरण को सर्वाङ्ग सम्पन्न बनाने के मूल सिद्धान्त पर सुदृढ़ हैं।' मिश्र जी ने द्विवेदी जी की जिन भूलों की चर्चा की है उनमें प्रमुख है वाच्य-विवेचन। पं० मिश्र जी का विचार इस विषय में पं० द्विवेदी जी की अपेक्षा सुलझा है अतः उसे अविकल रूप में दे देना यहाँ आवश्यक समझता हूँ—

"द्विवेदी जी ने नवंबर की सरस्वती के 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में संस्कृत के 'कर्तृवाच्य', 'कर्म्मवाच्य', और 'कर्म्मकर्तृवाच्य' के विवरण लिखे हैं और विज्ञों का हिन्दी व्याकरणों की उस विषय की त्रुटि पर ध्यान आकर्षण करने की चेष्टा कर परम उपकार ही किया है। परन्तु 'कर्म्मवाच्य' के विषय में नियम लिखकर जो उदाहरण दिखाये हैं उनसे और कर्म्म कर्तृवाच्य के उदाहरणों से यथार्थ में विशेष अन्तर नहीं दिखता है। 'मुझसे झूठ बात नहीं कही गई।' वा 'उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया गया' आदि उदाहरणों को कर्म्मवाच्य का उदाहरण मान लेने पर 'मैंने बात सुनी'; 'उसने पोथी पढ़ी'; 'साहूकार ने रुपये दिये आदि को किस वाच्य का प्रयोग कहिएगा? संस्कृत 'मया कृतमेतत् कर्म्म' का यथार्थ अनुवाद 'मैंने यह काम किया' ही है 'मुझसे यह काम किया गया' ठीक नहीं। इस विषय में प्रायशः हिन्दी के व्याकरणों में विशेष अनर्थ किया हुआ दिखता है। यहाँ तक कि 'कर्म्मवाच्य' 'कर्तृवाच्य' आदि नाम न देकर 'कर्म्मप्रधान' 'कर्तृप्रधान' आदि नाम यद्यपि दिये हैं तथापि इस विषय की जटिलता नहीं सुलझी। 'भाषा भास्कर' के ९७ पृष्ठ में कर्तृप्रधान वाक्य के उदाहरण इस भाँति दिये हैं—'बढ़ई ने बड़ी सी नाव बनाई है।' अवश्य बनाई है, इस क्रिया का कर्त्ता 'बढ़ई ने' है; परन्तु कर्म्मवाच्य के कारण क्रिया के लिंग वचन इसमें कर्म्म के अनुसार ही है। जिस वाक्य में क्रिया के लिंग वचन कर्तृपद के अनुरूप न होकर कर्म्मपदानुसार होते हैं उसे कर्तृप्रधान वाक्य कहना मेरी समझ में तो सर्वथा अनुचित है। कर्तृप्रधानवाच्य वह कहला सकता है, कि जिसमें क्रिया के लिंग वचन कर्त्ता के अनुसार ही आते हैं। 'बढ़ई लकड़ी को काटता है' यह अवश्य कर्तृप्रधान वाच्य कहाने योग्य है। क्योंकि 'काटता है' क्रिया कर्त्ता 'बढ़ई' के अनुसार ही सदा रहेगी, चाहे 'पेड़ को काटता है', लिखें, चाहे जड़ को; परन्तु जिस वाक्य की क्रिया कर्म्म के अनुसार हो जाती है, कर्त्ता के अनुसार नहीं, उसे कर्म्मवाच्य कहना ही समीचीन दिखता है। "मैंने जाना है।" आदि 'कर्म्मवाच्य'

'कर्तृवाच्य' वा 'कर्म्म कर्तृवाच्य' के अन्तर्गत कदापि नहीं आ सकते। अतएव इनको 'भाववाच्य' कहना ही उचित दिखता है। परन्तु 'सरस्वती' प्रदर्शित 'भाव-वाच्य' का रूप दूसरे ही प्रकार का है। इन विषयों की अबतक उत्तम रीति से मीमांसा नहीं हुई है। बिना इनकी यथार्थ मीमांसा के व्याकरण की अङ्गहीनता कैसे पूरी होगी ? विशेषज्ञों का ध्यान इनके विचार में अवश्य शीघ्र ही आकर्षित होना उचित है। सूक्ष्म विचार के बिना इन संदिग्ध विचारणीय व्याकरण विषयिणी शंकाओं का समाधान होकर, व्याकरण के अकाट्य नियमों का सिद्ध होना असम्भव ही समझिये।" (आत्माराम की टें टें पृ० ४५-४६)

४

यह, वह=ये, वे : मुझे स्मरण है कि एक बार किसी कवि-मित्र की किसी कविता में 'यह' या 'वह' सर्वनाम के साथ बहुवचन की क्रिया प्रयुक्त थी, मैं वहाँ 'ये' या 'वे'—'यह' का बहुवचन रूप कराना चाहता था पर उन्होंने प्राप्त काव्य प्रमाण के आधार पर उसको (यह को) उचित ही बताया। तात्पर्य यह कि आज भी 'वह' का बहुवचन में प्रयोग करने वाले अनेक व्यक्ति मिलेंगे। 'वह' के साथ क्रिया बहुवचन की। कवि ही नहीं आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी जैसे समालोचक भी ऐसे प्रयोक्ताओं में हैं। एक बार पं० विनयमोहन शर्मा ने भी 'धर्मयुग' या 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में कहीं इसकी चर्चा की थी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'यह', 'वह' एकवचन—'ये', 'वे' बहुवचन के लिए प्रस्तावित किया था। उन्होंने यह भी लिखा था कि यदि अधिक लोग 'यह' 'वह' को बहुवचन पसंद करें तो उन्हें बहुवचन भी माना जाय। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'वह' और 'वे' के अतिरिक्त 'वो' का भी प्रस्ताव किया, जिस पर पं० गोविन्दनारायण मिश्र का कटु व्यंग्य प्रसिद्ध है। उन्होंने 'वह' का एकवचन और 'वे' का बहुवचन में होना प्रमाणित किया है, इसके लिए पं० मिश्रजी ने अनेक उद्धरण दिये हैं।

नवम्बर १९०५ की 'सरस्वती' में द्विवेदी जी का लेख निकला और उन्होंने देखा कि ११ दिसम्बर १९०५ के 'भारत जीवन' में, २९ दिसम्बर १९०५ के 'हिन्दोस्थान' में, १२ जनवरी १९०६ के 'वेंकटेश्वर समाचार' में अब बहुवचन के लिए 'ये', 'वे' का प्रयोग अधिकता से होने लगा। उन्होंने फरवरी १९०६ की 'सरस्वती' में गुप्त जी के 'भारतमित्र' वाले प्रश्नों का और 'जासूस' सम्पादक गहमरी जी के व्याकरण-विचार दोनों का तदनुरूप भाषा में उत्तर दिया। गहमरीजी के लिए तो उन्होंने अन्त में लिखा—"मातृभाषे! धन्यासि इदृशं विद्वद्रत्नं संस्कृत-प्राकृत-शब्द-समास-तद्धित-पारावारपारगामिनं प्राप्य कृतार्थतां याहि।"

पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने भी गहमरी जी की खबर ली। गहमरी जी को समझाया कि 'को' अधिकरण कारक का चिह्न नहीं है। इससे द्विवेदी जी बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए और उन्होंने पं० मिश्र के पास अपनी एतद्विषयक अनुकूल

सम्मति भेजी। अपने १९०६ वाले लेख में द्विवेदी जी ने अनस्थिरता विषयक और भी नमूने दिये। आप लिखते हैं—"एक लेखक लिखता है 'जिनने', 'उनने' 'इनने' दूसरा 'जिन्होंने' 'उन्होंने' 'इन्होंने'। एक लिखता है—'वह ही', दूसरा लिखता है—'वही', 'वोही'। एक लिखता है—'वे जायँ', दूसरा लिखता है—'वे जायें।' जो लेखक एक जगह पर लिखता है—'वह काम इस तरह हो', वह जरा दूर आगे चलकर लिखता है—'वह काम इस तरह होवे'। इस 'अनस्थिरता' का कहीं ठिकाना है? यदि इस तरह के प्रयोग सर्वसम्मति से उभयमुखी मान लिए जायँ तो कुछ बात ही नहीं; अन्यथा, इनमें से एक प्रकार छोड़ देना चाहिए।' इस प्रकार अनस्थिरता के प्रमाण में दश-बारह वाक्य उन्होंने और भी जोड़ दिये।

गुप्त जी के आक्षेपों का द्विवेदी जी द्वारा उत्तर

द्विवेदी जी का एक वाक्य था—'यदि यही दशा बनी रही तो आज से सौ वर्ष बाद के लोग आजकल की भाषा के बहुत से वाक्यों को न समझ सकेंगे।' श्रीगुप्त जी ने इसका संशोधन किया था जिसमें 'बनी रही' की जगह 'बनी रहे' किया था और 'वाक्यों को' वाक्य से को निकाल दिया था। उन्होंने द्विवेदी जी में 'को' की बीमारी भी दिखाई या बताई थी।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने द्विवेदी जी के वाक्यों को शुद्ध बताया और स्वयं द्विवेदी जी ने 'इस देश को देखने आये हैं' आदि प्रयोगों के उद्धरण के द्वारा अपने प्रयोग को शुद्ध बताया। उपर्युद्धृत काशीनाथ वाले वाक्य में 'दोनों पुस्तक' जिसका द्विवेदी जी का संशोधन था 'दोनों पुस्तकें' गुप्त जी ने 'उस समय ऐसा ही प्रयोग होता था' मानकर उसे गलत नहीं स्वीकार किया था। द्विवेदी जी ने दो के लिए ही नहीं, तीन के लिए भी काशीनाथ के समय ही नहीं, अपने समय भी एक वचन के प्रयोग उद्धृत किये।

'तीन देवी की मूर्तियों द्वारा तीनों देश समझाये गए हैं।' और बताया कि यहाँ एक ही देवी की तीन मूर्तियों से मतलब नहीं, तीनों देवियाँ अलग-अलग हैं। इस प्रकार आज भी वैसा त्रुटिपूर्ण प्रयोग होता है जैसा नहीं होना चाहिए।

द्विवेदी जी के उद्धरणों के सम्बन्ध में गुप्त जी का विचार था कि वे नोटिसों में त्रुटियां दिखाते हैं। कुछ लोग भारतेन्दु बाबू जैसे श्रद्धेय की त्रुटियाँ निकालना उचित नहीं मान रहे थे। इस पर द्विवेदी जी ने भारतेन्दु की १८८८ ई० की छपी 'मुद्राराक्षस' से अनेक लिंग और वचन सम्बन्धी त्रुटियाँ दिखाईं। (निश्चय ही इसमें द्विवेदीजी की अन्य भावना नहीं थी) भाषा की अनस्थिरता दिखाना उनका प्रयोजन था। एक ही लेखक किसी शब्द का कहीं एकवचन कहीं बहुवचन में कहीं पुंलिंग और कहीं स्त्रीलिंग में क्यों प्रयोग करे? और उन्होंने यह भी लिखा कि वाल्मीकि के 'सखिना वानरेन्द्रेण'; कालिदास के 'पातयां प्रथममास' भारवि के 'गाण्डीवी……आजघ्ने'; माघ के 'आविश्चक्षुषोऽभवत्' की समीक्षा की जा सकती

है, वह क्षम्य है, पर बाबू हरिश्चन्द्र की हिन्दी की नहीं !

५

द्विवेदी जी के 'सरस्वती' वाले इस लेख से हिन्दी क्षेत्र में उनकी महत्ता और भी बढ़ी। उन्होंने अक्टूबर १९०९ में म० म० सुधाकर द्विवेदी द्वारा लिखित 'राम कहानी' की भी जम कर समीक्षा की। 'राम कहानी' पुस्तक के नामकरण, कहानी कहने के ढंग में तो दोष दिखाये ही, भाषा में भी पर्याप्त त्रुटियाँ दिखाईं। उसमें अनेक प्रकार के दोषों की चर्चा है। यथा–चरित्र बिगाड़ने वाली बातें, बे-सिर-पैर की बातें, अशुद्ध वाक्य, लिङ्ग सम्बन्धी भूलें, वचन सम्बन्धी भूलें, लेखक की उच्छृङ्खलता तथा फुटकर दोष।

भाषा और व्याकरण सम्बन्धी दोषों के कुछ नमूने–

'ने' प्रयोग सम्बन्धी—१–'*राजा* खुश होकर रानी से वर माँगने को *कहा*।

२—'मैं कुरेध (क्रोध) से बायें हाथ की हथेली पर धरती *ले लिया*।'

द्विवेदीजी ने लिखा है कि इस कहानी में सैकड़ों व्याकरण विरुद्ध वाक्य भरे हैं। यथा—

लिङ्ग—ऐसी नगा, तीखी तीर, बेसरकी मोती, रूप की डर, भरत के सलाह।

वचन—'आज कल सब *देश के* लोगों की यही राय है।

'दो नीलम के सुडौल *नग को*।'

द्विवेदी जी ने नवम्बर १९२४ में स्वामी मधुसूदन सरस्वती द्वारा रचित 'अद्वैत सिद्धि' की श्री रामेश्वर दत्त शर्मा द्वारा की गई 'सरला भाषा टीका' की भी समीक्षा की है। संस्कृत का विद्वान् 'अवैध' की जगह 'अबैध', 'संवाद' की जगह 'सम्वाद' लिखे, वाक्य में कोई गठन न रखे, सरला टीका करे और मूल से भी कठिन बना दे। शिष्टता का भी ठिकाना नहीं ! श्री शर्मा ने लिखा था—"जहाँ जहाँ तुलसीदास ने रावण वगैरा को एकदम नीचे उतार देने की चेष्टा की है, वह तुलसीदास की अपनी क्षुद्रता है।" इस पर द्विवेदी जी ने उनकी शिष्टता, कर्त्तव्य मर्मज्ञता, सत्यपरता को धन्यवाद दिया है और उनकी ललाम लेखनी की बलैया लेने की इच्छा प्रकट की।

हिन्दी विभक्तियों या कारक चिह्नों को सटाकर या हटाकर लिखा जाय, यह एक पुराना झगड़ा है। सर्वनाम में सटाकर और अन्यत्र हटाकर लिखा जाय यह भी एक पक्ष है। स्मरणीय है कि द्विवेदी जी 'हटाऊ' या 'बिलगाऊ' पक्ष के थे और पं० गोविन्दनारायण मिश्र 'सटाऊ'। पं० मिश्र का इस विषय में 'विभक्ति-विचार' और उसके १७ वर्ष बाद लिखा गया उसका परिशिष्ट, ये दोनों आज भी अपना उसी प्रकार का महत्त्व रखते हैं। श्री देउस्कर ने द्विवेदी जी से प्रयाग के बाद अल्पविराम तब 'से' अलग लिखने का कारण पूछा या जिसे कटु समझा गया था और पं० मिश्र को उसके उत्तर में सटाऊ पक्ष के अनुकूल लिखना पड़ा था।

यह झगड़ा भी पठनीय और मननीय है पर इसकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है ।

हम देखते हैं कि भाषा की किस प्रकार की अनस्थिरता में द्विवेदी जी को भाषा और व्याकरण का मार्ग बनाना पड़ा था । जिस प्रकार के दोषों को दूर करने की चर्चा द्विवेदी जी ने की है, ऐसे सैकड़ों दोष उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में भरे पड़े हैं । जिनकी चर्चा डा० उदयभानु सिंह ने अपने प्रबन्ध में बेकन विचार रत्नावली, भामिनी विलास आदि से देकर की है । उन्होंने द्विवेदी जी की भाषा में अनेक प्रकार के दोषों की चर्चा की है । किन्तु द्विवेदी जी ने भी सत्यदेव परिव्राजक, पं० रामचन्द्र शुक्ल, गुलेरी जी, सरदार पूर्ण सिंह, कामता प्रसाद गुरु आदि की भाषा का जो संशोधन किया उसका भी उल्लेख उन्होंने किया है ।

सर्वप्रमुख बात है कि द्विवेदी जी हिन्दी भाषा की व्यापकता के लिए उसमें एकरूपता चाहते थे—उसकी अनस्थिरता को दूर करना चाहते थे । उसे उन्होंने अपनी कठोर लेखनी द्वारा संपन्न किया ।

शब्दों के व्यवहार के सम्बन्ध में उनके मध्यम मार्ग को स्वीकार किया गया । उसकी प्रशंसा की गई । "जैसा कि अनस्थिरता वाले विवाद से प्रकट भी हुआ, द्विवेदी जी हिन्दी की एक नई चलन अवश्य चाहते थे, यद्यपि उस चलन में भी एक व्यवस्था थी । संस्कृत से साधारण व्यावहारिक सम्बन्ध भी उन्हें इष्ट था । संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिन्दी 'मृदुता' के पक्षपाती थे; परन्तु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छंदता माँगी जाती तो वे उसे अस्वीकार कर देते । श्रेष्ठ (?) श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम, और सर्वश्रेष्ठ आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया । 'नोकदार नाक' के बदले उन्हें 'नोकवती नासा' नहीं रुच सकती थी । संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिन्दी में अपना लिया गया हो, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं ; परन्तु इसके आगे वे प्रायः नहीं बढ़ते ।

संस्कार की वे रक्षा चाहते थे अतः ग्रामीण एवं देशीय शब्दों का प्रयोग भरसक नहीं करते थे तथापि शुद्ध संस्कृत के वाक्य विन्यास के साथ-साथ सलीस उर्दू की मुहाविरेबाजी दिखा देने का भी उन्हें पहले शौक था । यह उनकी आरम्भ और मध्यकाल की गद्यशैली की बात है । पद्य में और अपने प्रौढ़काल के गद्य में द्विवेदी जी की यही टकसाली हिन्दी—न संस्कृत न उर्दू—की पद रचना चलती रही ।"

—द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, भूमिका (पृ० ८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा की अनस्थिरता मिटाने में द्विवेदी जी का प्रमुख हाथ रहा है । वे अपने समय के एक ही आचार्य थे । द्विवेदी जी ने श्रीहर्ष का जो उद्धरण भारतेन्दु बाबू के लिए दिया है, वह उन पर भी घटित होता है ।

"क्रियेत् चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानाम पदं बहुस्यात् ॥"

(नैपध० ३।२३)

श्री रंजन सूरिदेव

गद्यशैली के महान् नायक : द्विवेदीजी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से नेदिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले पुण्यश्लोक आचार्य शिवपूजन सहाय ने कहा था:—

"आचार्य द्विवेदीजी ने हिन्दी-गद्य को जो नया रूप और गौरव दिया है, वह जब तक हिन्दी भाषा जीवित है, तब तक चिरस्थाई रहेगा। इस लेखक ने हरिश्चन्द्र, प्रताप (श्री प्रतापनारायण मिश्र), भट्ट (पं० बालकृष्ण भट्ट), और व्यास (पं० अम्बिका दत्त व्यास) के गद्य लेखों को एक बार नहीं, अनेक बार श्रद्धा और सम्मान के साथ पढ़ा है, उनकी कृतियाँ हिन्दी के साहित्यरत्नों में बहुमूल्य हैं ; लेकिन उनके समय के हिन्दी-गद्य को लीजिए और आजकल के गद्य से उसकी तुलना कीजिए। आपको सहज ही में इस बात का पता लग जायगा कि तब और अब के गद्य में जमीन और आसमान का फर्क है। उस समय उसका शैशव काल था। उसमें अब प्रौढ़ावस्था की परिपक्वता आ गई है। इस समय हर प्रकार के भावों और विचारों को सरलता के साथ व्यक्त करने की उसमें जो शक्ति है, वह पिछले समय के गद्य में न थी। तब हिन्दी-गद्य ठीक जेठ की गंगाजी के समान था। उसके उथले जल पर हलके विचारों की छोटी-छोटी नौकाओं को कुशल साहित्यिक मल्लाह बहुत सम्भालकर खेते थे। द्विवेदीजी की बदौलत, अब उसी गद्य धारा में गहराई आ गई और उसका विस्तार भी अब बहुत बढ़ गया हैं, जिस पर गम्भीर भावों और गहन विषयों के बड़े-बड़े जलपोत सुगमता के साथ पार हो जाते हैं। अथक परिश्रम से उन्होंने हिन्दी-गद्य के धुंधले हीरे को लेकर अपनी प्रतिभा की खराद पर बार-बार चढ़ाया और तब तक उसे चढ़ाते ही चले गये, जब तक उसके अनन्त पहलों से अभूतपूर्व आभा न जगमगाने लगी। उन्होंने हिन्दी-गद्य को परिष्कृत, परिमार्जित और संस्कृत बना दिया। उसकी शैली में अराजकता के स्थान में एक नियमित सत्ता उन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हो गई। भावी इतिहास लेखक सुव्यवस्थित गद्य की चिरस्थायी शैली का सबसे बड़ा और प्रतिष्ठत नायक द्विवेदी जी को ही स्वीकार करेगा"।

[शिवपूजन रचनावली, खंड ४, पृ० १६८-६९]

आचार्य शिवजी की द्विवेदीजी के विषय में उक्त मान्यता सोलहों आने सत्य है, इस बात पर मैं बल देना नहीं चाहूँगा, मैं तो यही कहूँगा कि आचार्य शिवजी ने द्विवेदी जी की हिन्दी-देन को जिस रूपक में बाँध कर रखा है, उसकी तीव्रता हर हिन्दीज्ञ को उन्मेषित करेगी। साथही, यह भी मालूम होगा कि द्विवेदीजी ने हिन्दी-गद्य-गंगा के अवतरण में भगीरथ का काम किया था। सच पूछिये, तो वे परिष्कृत गद्य शैली के महान नायक थे।

इस भाग्यवती भारत-भूमि पर उस हिन्दी के भगीरथ के मंगलमय अवतरण की एक शती, गत १५ मई (१९६४) को पूरी हो गई। संक्रान्ति-काल में जन्म लेने वाले कलाकारों में एक विशिष्ट ओजस्विता और अनन्य तेजस्विता रहती है। यद्यपि उनकी जीवन-धारा को अनेक शिलाखण्डों और कुशकण्टकाकीर्ण कगारों से रगड़ खाना पड़ता है, तथापि वह अपने लक्ष्य की ओर अप्रतिहत भाव से गतिशील रहती है। ऐसी स्थिति में जाने-अनजाने कितने मरुस्थल सिंचन पाकर उर्वर हो उठते हैं, कितनी रेती-परती शस्य श्यामला हो उठती है, इसका लेखा-जोखा नहीं रहता। सामूहिक उपकार का परिमापन है भी नहीं। इसी 'एकोऽहं बहुस्याम्' की मूल भावना से भावित संक्रान्तिकालीन कलाकार युग का निर्माण करने में सक्षम होते हैं और उन्हें जन-जन के मन में युगनिर्माता या युगप्रवर्त्तक होकर प्रतिष्ठित होने का समादर प्राप्त होता है।

द्विवेदी युग के प्रवर्त्तन का कुछ ऐसा ही संघर्षमय इतिहास है। द्विवेदीजी भी संक्रान्ति काल के कलाकार थे। ब्रज-काव्य की धारा निरस्तित्व हो रही थी और खड़ी बोली शनैः-शनैः देश की साहित्यिक भाषा के रूप में विकास और विस्तार प्राप्त कर रही थी। तब भी साहित्य सेवियों में यह धारणा बद्धमूल थी कि गद्य के लिए खड़ी बोली का उपयोग सम्भव है; किन्तु पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही होनी चाहिए। क्योंकि, ब्रजभाषा में जो लालित्य और लोच है, वह खड़ी बोली को कदापि उपलब्ध नहीं। लेकिन द्विवेदी जी ने साहित्यिक ब्रह्मा बनकर अपनी सर्जनशील सुदृढ़ लेखनी की शक्ति से खड़ी बोली में, गद्य एवं पद्य दोनों में उच्च कोटिक साहित्य का सर्जन कर यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ कर दी :—

"अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथैतत्परिवर्त्तते ॥"

आचार्य द्विवेदी ने खड़ी बोली में न केवल प्रचुर साहित्य का ही निर्माण किया अपितु अनेक उच्च साहित्यकारों की भी सर्जना की। द्विवेदी जी ने ही स्व० श्री श्रीधरपाठक, स्व० श्री हरिऔध, श्री मैथिलीशरण गुप्त आदि शीर्ष कवि-मनीषियों को ब्रज की संकीर्ण रथ्या से खींचकर खड़ी बोली के प्रशस्त राज-पथ पर ला खड़ा किया। सम्प्रति, खड़ीबोली के गद्य में जो साहित्यिक सज्जा एवं व्याकरण सम्मत भाषा की प्रांजलता दीखती है, उसके प्रथम उन्नायक आचार्य

माधव जल की पियास न जाइ ।
जल महि अगनि उठी अधिकाइ ॥
तूँ जलनिधि हउ जल का मीनु ।
जल महि रहउ जलहि बिनु खीनु ॥
(राग गउड़ी, २)

और जब उस अमृत की शीतल धारा उसे मिल जाती है, तब उसका हृदय कृतज्ञता से भर जाता है। वह कह उठता है :

अब मोहि जलत राम जलु पाइआ ।
राम उदकि तनु जलत बुझाइआ ॥
(वही, १)

या राम के पौराणिक नाम का आश्रय लेकर प्रतीक रूप में अपने हृदय के आनन्द का प्रकाशन करता है :

गाउ गाउ री दुलहनी मंगलचारा ।
मेरे ग्रिह आए राजा राम भतारा ॥
नाभि कमल महि बेदी रचिले ब्रह्मा गिआन उचारा ।
राम राउ सो दूलहु पाइओ अस बड़ भाग हमारा ॥
सुर नर मुनि जन कउतक आए कोटि तैतीसउ जाना ।
कहि कबीर मोहि बिआहि चले हैं परख एक भगवाना ॥
(रागु आसा, २८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैतवाद की साधना कबीर की साधना का महत्वपूर्ण पक्ष है। यह साधना जहाँ एक ओर 'भाउ-भगति' को छूती है, वहाँ दूसरी ओर 'रहस्यवाद' को। 'भाउ-भगति' में फिर भी थोड़ी-बहुत द्वैतभाव की छटा दिखलाई देती है, परन्तु बौद्धिक और

मना नहीं मैं करती तुमको, पर इस दुखिया की भी याद—
कभी-कभी कर लिया कीजिए, मेरी इतनी ही फरियाद !"

स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी जी हिन्दी का व्यापक प्रचार और प्रसार चाहते थे। उनको इस बात का बहुत ही क्लेश था कि हिन्दी भाषी हिन्दी की बृद्धि-समृद्धि के लिए कोई उपाय तो करते ही नहीं, उल्टे हिन्दी की अधनता का ढोल पीटते हैं। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी यह भी चाहते थे कि संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू, अँगरेजी आदि भाषाओं की समृद्धि की समक्षता में हिन्दी कभी पश्चात्पद न रहे, साथ ही उसे प्रान्तीयता तथा वर्ग-भावना से विहीन आदर-भावना अहर्निश प्राप्त हो। द्विवेदी जी सतत आस्थालु थे कि हिन्दी के प्रभाव से ही भारत को परमोज्ज्वल ज्ञान मिलेगा और हिन्दी जिस दिन गाँव-गाँव और घर-घर में छा जायगी, उस दिन उसके दुश्मनों पर निश्चय ही आँच आ जायगी और उसे दैन्य-दंदान से सदातन मुक्ति मिल जायगी।

आचार्य द्विवेदी सही अर्थ में आचार्य थे। वे केवल मतप्रवर्त्तक या उपदेशक होने के नाते ही आचार्य नहीं थे, वरन् उनमें मनुप्रोक्त आचार्यत्व के समस्त लक्षण समाहित थे :—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥"

निस्सन्देह द्विवेदी जी हिन्दी के कल्पज्ञ और रहस्यविद् आचार्य थे। कल्प का स्थूलार्थ विधि है। हिन्दी के गद्य और पद्य की रूपरेखा कैसी होनी चाहिए, इसकी विधि के वे जानकार थे और यही कारण है कि हिन्दी गद्य-पद्य को सुष्ठु आकृति ग्रहण कराने या निश्चित जातित्व प्रदान करने के निमित्त उन्होंने अपने आदर्श आचरण में कभी कंजूसी नहीं की और न अपने प्रयास में कभी अलसता आने दी। यही निश्छल हिन्दी-सेवा उनके आचार्यत्व का व्यावहारिक पर्याय है। सचमुच, उनके लिए आचार्य उपाधि व्यवहार-सिद्ध तो थी ही, स्वार्जित भी थी। वे अपने भाग्य या पौरुष को दैवाधीन नहीं, स्वाधीन मानते थे।

भारतेन्दु ने भारती की जिस वीणा का निर्माण करके अपने अमर स्पर्शों से उसमें बहुविध स्वर-सन्धान किया था, उस वीणा में प्रथम स्वर्ण-झंकार भरने वाले द्विवेदी जी ही थे और इस प्रकार उनकी कृपा से देश की पूरी वाणी को ही आकार मिल गया, जिसमें उस सरस्वती के वर पुत्र के लिए हमारी प्रार्थना मुखरित हुई :—

"हिन्दी-नभ के हे दिनमणि नव कनक किरणधर !
दी तुमने साहित्य - चेतना नूतन भास्वर।
आज तुम्हारी जन्मशती के शुभ अवसर पर ;
श्रद्धा - सुमन समर्पित, वाणी के मंगल वर !

*

* सखि सुकृती दसरथ भले, जाके सुत हैं चारि।
पुनि विदेह पूरे सुकृत, जाकी सिया कुमारि ॥
जाकी सिया कुमारि भयो संघट यह जातैं।
हम सुकृतन की रासि लखीं सुकृतन की बातैं ॥
सुकृतन की बातैं लखीं, दसरथ ब्याहन सुत चले।
माँड़व तरे विनोद लखि, सखि सुकृती दसरथ भले ॥१३५॥

ब्याह घरी विधि लिखि दई, बरषि सुमन सुर गाइ।
† राम विवाह उछाह बड़, देखन चले बजाइ ॥
देखन चले बजाइ सतानँद जनक बुलाये।
दसरथ सहित बरात जनक मन्दिर चलि आये ॥
मन्दिर चलि पाँउड़ परे जय जय जय बानी भई।
करि उत्साह समाज सुभ, ब्याह घरी विधि लिखि दई ॥१३६॥

---

* "रामु सीय सोभा अवधि, सुकृत अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिँ अस, मिलि नर नारि समाज ॥" (रा० च० मा०)
"जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरि देही ॥" (" ")

(१३५) संघट = सम्बन्ध। रासि = खानि। लखीं = देखीं। विनोद = आनन्द।

† "प्रेम पुलक तन हृदय उछाहू। चले बिलोकन राम बिबाहू ॥" (रा० च० मा०)

(१३६) पाँउड़ = वे वस्त्र जो मार्ग में इसलिए बिछा दिये जाते हैं कि अतिथि उनके ऊपर पैर रखते हुए घर तक आवें।

के पूर्व निबन्ध के स्वरूप और उनके पूर्व भारतेन्दु-युग की निबन्ध परम्परा का अल्प विवेचन अत्यन्त आवश्यक है, कारण भारतेन्दु युग की निबन्ध परम्परा का विकसित एवं प्रौढ़ स्वरूप हमे द्विवेदी जी एवं उनके युग के निबन्धकारों में उपलब्ध होता है।

निबन्ध साहित्य यद्यपि आधुनिक युग की देन है फिर भी प्राचीन भारतीय वाङ्मय एवं पाश्चात्य साहित्य में इसकी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ विविध रूपों में प्रस्तुत की गई हैं। संस्कृत साहित्य में निबन्ध की परिभाषा—"निबध्नातीति-निबन्धः" कह कर दी गई है—अर्थात् 'जो बांधता है वही निबन्ध है।' इस प्रकार निबन्ध में कसाव और बन्धन को महत्ता दी गई।

पाश्चात्य साहित्य में अनेक विद्वानों ने निबन्ध की परिभाषा अपने-अपने ढंग से दी है किन्तु वहाँ भी सर्वमान्य एवं शुद्ध परिभाषा का अभाव है। फ्रेंच भाषा के प्रसिद्ध निबन्धकार 'मॉन्टेन' के अनुसार—'निबन्ध आत्म प्रकाशन का प्रयास मात्र है' वास्तव में यह शब्द 'एसे' (Essay) का पर्याय है जिसका मूल अर्थ होता है—'विषय निरूपण का प्रयास' मॉन्टेन के 'एसे' में उसकी आत्माभिव्यक्ति, स्वच्छन्दता और वैयक्तिकता की प्रधानता है। इन्हीं विशेषताओं को उसने निबन्ध कला का सौन्दर्य और प्राण माना है। अंग्रेजी साहित्य में निबन्ध का जन्मदाता बेकन माना जाता है। वह निबन्ध को 'विकीर्ण चिन्तन' के रूप में स्वीकार करता है।[1] बेकन ने निबन्ध के लघु स्वरूप एवं उसकी बौद्धिकता पर बल दिया है। प्रसिद्ध विचारक जाँनसन के मतानुसार—'निबन्ध मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन मात्र है, उसमें क्रमबद्धता और शृङ्खला नहीं होती।[2] उसके विचार से निबन्ध में परिपक्वता एवं गठन का अभाव रहता है। प्रसिद्ध निबन्धकार जे० बी० प्रीस्टले ने निबन्ध की एक विचित्र परिभाषा दी है। वह कहता है—'निबन्ध वह साहित्यिक रचना है जिसे एक निबन्धकार ने रचा हो।' इस तरह निबन्ध की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं जिनमें पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है, एकमात्र स्वरूप की लघुता को ही सभी ने स्वीकार किया है।

हिन्दी साहित्य के अनेक मर्मज्ञ विद्वानों ने भी निबन्ध की परिभाषा दी है। प्रसिद्ध आलोचक एवं निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निबन्ध को गद्य की कसौटी' माना है। वे निबन्धों में ही भाषा की पूर्ण शक्ति का निखार और विकास मानते हैं। हिन्दी साहित्य के सफल निबन्धकार बाबू गुलाब राय ने लिखा है —'निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के

---

1. An essay is the loose sally of mind. —Bacon

2. An essay is the sally of the mind, an irregular undigested piece, not a regular and orderly composition. —Dr. Johnson.

भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया है।'[1] इस प्रकार अनेक विद्वानों ने निबन्ध को पारिभाषित करने का प्रयास किया है किन्तु कोई भी एक परिभाषा अपने में यथेष्ट नहीं है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के विचार में भी काफी अन्तर है। भारतीय विद्वान निबन्ध में शृंखला और कसाव अपेक्षित मानते हैं तो पाश्चात्य विचारकों के अनुसार असम्बद्धता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता एवं आत्माभिव्यञ्जना का प्रयास। दृष्टिकोण की इस भिन्नता का मूल कारण है विषय को परखने के वस्तु एवं व्यक्ति परक विचार। जो भी हो निबन्ध की परिभाषा देने के प्रयास में एक लाभ अवश्य हुआ—उसकी मूल भूत विशेषताएँ सामने आईं और निबन्ध कला का क्रमशः विकास हुआ।

हिन्दी साहित्य में निबन्ध का उद्‌भव और विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके युग के निबन्धकारों की साधना का फल है। समाज और राष्ट्र के ये सजग प्रहरी जीवन के व्यापक क्षेत्र से साहित्य की सामग्री संग्रहित करते रहे और अपनी प्रतिभा एवं भाषा-शैली के योग से उसे जन-मानस तक पहुँचाने का प्रयास करते रहे। भारतेन्दु एवं उनके युग के निबन्ध समग्र राष्ट्रीय, जातीय, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना के प्रतिबिम्ब हैं। भारतेन्दु के निबन्ध युग की समस्याओं के जीवन्त चित्रण हैं। विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से इनके निबन्धों में मौलिकता और विविधता द्रष्टव्य हैं, साथ ही उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक उनमें मिलती है। भारतेन्दु के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त एवं माधव प्रसाद मिश्र इस युग के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। इन निबन्धकारों की भाषा-शैली विषय के अनुरूप है। इनके निबन्धों के विषय प्रायः वे ही हैं जो भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के। यत्र-तत्र विश्लेषणात्मकता का पुट मिलता है। व्यंग्य-विनोद तो प्रायः सब लेखकों में न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता हैं। गम्भीर एवं विचार पूर्ण विषय का प्रतिपादन भी अत्यन्त विनोद पूर्ण व्यंग्यात्मक शैली में किया गया है। यद्यपि विषय की दृष्टि से भारतेन्दु युग के निबन्धों में वैविध्य है किन्तु साहित्यिकता और विवेचन की जितनी अपेक्षा निबन्ध साहित्य से की जाती है उसका अभाव है। इस अभाव की पूर्ति हुई है द्विवेदी-युग में।

युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक महत्व पूर्ण घटना है। यद्यपि इनके पूर्व हिन्दी-गद्य साहित्य का पर्याप्त विकास हो चुका था किन्तु उसमें भाषागत दोष बहुत थे। अपनी असाधारण शक्ति और प्रतिभा के सहारे द्विवेदी जी ने भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध किया और उसके कोश को बढ़ाया। भाषा के

१:—सिद्धान्त और अध्ययन —बाबू गुलाब राय

अवस्थित स्वरूप को व्यवस्था दी और अन्य विधाओं के साथ ही उसे निबन्ध साहित्य के उपयुक्त बनाया। आचार्य द्विवेदी के जितने साहित्यिक स्वरूप हमारे समक्ष हैं उनमें उनका निबन्धकार-स्वरूप अपनी विशिष्टता से युक्त है। भारतेन्दु युग के निबन्ध क्षेत्र को आचार्य द्विवेदी ने व्यापकता प्रदान की। विषय एवं शैली की दृष्टि से निबन्धों में प्रौढ़ता आई।

'सरस्वती' सम्पादक के रूप में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उसके माध्यम से हिन्दी भाषा और साहित्य की अनन्य-सेवा की। यद्यपि वे एक बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे किन्तु निबन्धकार एवं आलोचक रूप में उनकी प्रसिद्धि विशेष है। उन्होंने भारतेन्दु युग के निबन्धों को विस्तार दिया। विषय की विविधता, दृष्टि की सूक्ष्मता, बौद्धिकता एवं सुसंबद्धता उनके निबन्धों की विशेषताएँ हैं। द्विवेदी जी के निबन्धकार रूप के निर्माण में उनके आलोचक, सुधारक, आचार्य और सम्पादक स्वरूप का पूर्ण हाथ है। निबन्धों में साहित्यिकता के साथ ही, ज्ञान-वृद्धि, सुसंस्कार जागृति, नैतिक सुधार आदि उद्देश्य निहित हैं। उनके निबन्धकार-स्वरूप के विस्तृत एवं गहन अध्ययन के लिए उनके निबन्धों का कोटि-निर्धारण अत्यन्त आवश्यक है।

निबन्धों का वर्गीकरण विद्वानों ने अनेक आधारों पर किया है किन्तु तीन प्रमुख आधार माने जा सकते हैं—(क) विषय (ख) शैली और (ग) स्वरूप। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए ये ही तीन आधार पर्याप्त हैं।

विषय की दृष्टि से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में विविधता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इस वर्ग के अन्तर्गत आनेवाले प्रमुख निबन्ध-प्रकार हैं—साहित्यिक, चरित प्रधान, वैज्ञानिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, पुरातत्व विषयक, और धर्म तथा अध्यात्म विषयक निबन्ध। आचार्य द्विवेदी के साहित्यिक निबन्ध युग की पृष्ठभूमि में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों को भी पुस्तक समीक्षा, टिप्पणी, शास्त्रीय विवेचन और कवि-लेखक परिचय आदि अनेक कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। हिन्दी नवरत्न, उर्दू शतक आदि निबन्ध पुस्तक समीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र, बाबू अरविन्द घोष, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि परिचयात्मक निबन्ध हैं। साहित्यिक निबन्धों में प्रमुख निबन्ध हैं—साहित्य की महत्ता, कवि और कविता; नायिका भेद, नाट्य शास्त्र आदि। ये निबन्ध समय-समय पर सरस्वती में प्रकाशित हुए हैं और पुन: रसज्ञ-रंजन, साहित्य सीकर आदि निबन्ध संग्रहों में प्रकाशित किए गये हैं। आचार्य द्विवेदी के साहित्यिक निबन्ध उनके गहन अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के फल हैं। इस कोटि के अधिकांश लेखों की शैली समीक्षात्मक और विवेचनात्मक है।

दूसरा वर्ग है चरित प्रधान निबन्धों का। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जीवन चरित को साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया और उसकी महत्ता को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक एवं साहित्यिक क्षेत्र के महापुरुषों के जीवन को आधार बना कर लिखे गए ये निबन्ध हमारी जाति एवं संस्कृति की धरोहर हैं। महात्मा बुद्ध, श्री शंकराचार्य, भीष्म पितामह, आ० शीलभद्र, महाकवि होमर, मिर्जा गालिब, महारानी दुर्गावती, सवाई जयसिंह, महाराजा ट्रावनकोर आदि निबन्ध इस श्रेणी में आते हैं। इन निबन्धों में विविधता के साथ ही प्राचीन भारतीय संस्कृति और विदेशों के महापुरुषों के जीवन की झाँकी मिलती है। इन निबन्धों के पीछे लेखक का उद्देश्य है चरित निर्माण, ज्ञानवृद्धि और धार्मिक एवं सांस्कृतिक भावना का जन-जीवन में प्रसार।

वैज्ञानिक अनुसंधानों और विज्ञान सम्बन्धी अन्य विषयों पर भी आचार्य द्विवेदी ने अपनी लेखनी चलाई है। ये निबन्ध विषय प्रधान निबन्धों के तृतीय वर्ग में रखे जा सकते हैं। मंगल ग्रह तक तार, रंगीन छाया चित्र, कुछ आधुनिक आविष्कार आदि निबन्ध इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इन निबन्धों में कलात्मक सूक्ष्मता का अभाव है, साथ ही शुष्कता और एक रसता भी पाई जाती है। ये निबन्ध मूलतः ज्ञान वृद्धि के उद्देश्य से लिखे गए हैं। आचार्य द्विवेदी के भौगोलिक निबन्धों को चौथे वर्ग में रखते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में स्थल, नगर; जाति एवं प्रदेश के वर्णन मुख्य हैं, साथ ही साथ ग्रहों एवं नक्षत्रों के विषय में भी आचार्य जी ने पर्याप्त लिखा है। सौर जगत की उत्पत्ति, व्योम विहरण, और उत्तरी ध्रुव की यात्रा आदि निबन्ध भूगोल सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान प्रदान करते हैं। कुछ निबन्ध उद्योग-धन्धों और शिल्पों पर भी लिखे गए हैं। ये सब निबन्ध लेखक की ज्ञान-गरिमा और विस्तृत अध्ययन के परिचायक हैं।

आचार्य द्विवेदी के विषय प्रधान निबंधों के पाँचवें वर्ग में आते हैं—ऐतिहासिक तथा पुरातत्व विषयक निबन्ध। भारतीय शिल्प शास्त्र, आर्यों की जन्मभूमि, सोमनाथ के मन्दिर की प्राचीनता, भारत के पुराने खंडहर, विक्रमादित्य और उनके संवत् के विषय में नई कल्पना आदि निबन्ध इस श्रेणी के प्रमुख निबन्ध हैं। इस तरह के निबन्धों के दो संकलन प्रकाशित हुए हैं। प्रथम है 'प्राचीन चिह्न' और द्वितीय संकलन है 'पुरावृत्त'। ये निबन्ध आचार्य द्विवेदी के परम्परा और इतिहास-प्रेम के परिचायक हैं। लेखक ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत और उसके खंडहरों में झांकने का अथक प्रयास किया है। शैली और भाषा की दृष्टि से भी ये निबन्ध अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं।

धर्म एवं अध्यात्म सम्बन्धी निबन्ध छठे वर्ग में आते हैं। ये निबन्ध लेखक के आध्यात्मिक चिन्तन, भक्तिभावना और जिज्ञासा-बृति के पोषक हैं। वैदिक देवता, सृष्टिविचार, परमात्मा की परिभाषा आदि निबन्ध इस श्रेणी में आते हैं। इन

निबन्धों में आत्मा, ज्ञान और परमात्मा सम्बन्धी तथ्यों पर विचार-विमर्श प्रस्तुत किया गया है। निरीश्वरवाद आदि विषयों पर भी लेखक ने अपनी लेखनी चलाई है।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा और व्याकरण सम्बन्धी विषयों पर भी पर्याप्त लिखा है। ये निबन्ध एक विशेष कोटि के हैं। कारण, इनका सम्बन्ध मूलतः भाषा के सौष्ठव, शुद्धि, संस्करण एवं परिमार्जन आदि से है। ये निबन्ध खड़ी बोली गद्य को व्यवस्थित और शास्त्र सम्मत स्वरूप प्रदान करने के ध्येय से लिखे गए हैं। भाषा और व्याकरण, शब्दार्थ विचार, अक्षर विज्ञान आदि निबन्ध इस विशेष श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

समग्ररूप में आचार्य द्विवेदी के ये विषय प्रधान निबन्ध हिन्दी साहित्य के अनमोल रत्न हैं। 'ज्ञान राशि का संचित कोष' साहित्य है—इस कथन को पूर्ण सत्य प्रमाणित करते हैं। सूक्ष्म निरीक्षण, व्यापक अनुभव, विस्तृत अध्ययन और चिन्तन के आधार पर लिखे गये ये निबन्ध साहित्य की अमर निधि हैं। व्यष्टि एवं समष्टि दोनों ही के लिये ये निबन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों का अध्ययन हम शैली की दृष्टि से भी कर सकते हैं। इनके निबन्धों को शैली की दृष्टि से प्रधानतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-वर्णनात्मक शैली, भावात्मक शैली और चिन्तन प्रधान या विवेचनात्मक शैली, वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत भौगोलिक, ऐतिहासिक, यात्रा सम्बन्धी, चरित प्रधान एवं ऋतुओं और पर्व-त्योहारों पर लिखे गए निबन्धों को रख सकते हैं। इस शैली के निबन्ध ज्ञान वृद्धि में विशेष सहायक हैं। ये जीवनोपयोगी भी हैं। दूसरी शैली है भावात्मक। दंडदेव का आत्मनिवेदन, नल का दुष्कर दूत कर्म, गोपियों की भगवद्भक्ति आदि निबन्ध इस कोटि में आते हैं। इन निबन्धों में भावना की प्रधानता है, विचार प्रतिपादन गौण है। लेखक ने हृदय के धरातल पर विषय का वर्णन किया है। ये निबन्ध लेखक के व्यक्तित्व की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इस श्रेणी के निबन्धों का इस युग में अभाव प्रतीत होता है फिर भी जितने भी निबन्ध इस शैली में लिखे गए वे सफल और उपयुक्त सिद्ध हुए।

शैली की दृष्टि से आचार्य द्विवेदी के अनेक निबन्ध चिन्तन और विवेचन की प्रधानता से युक्त हैं। चिन्तन प्रधान शैली के निबन्धों का महत्व विशेष है। कारण इस शैली के निबन्ध पूर्ववर्ती युग में अत्यल्प लिखे गए। आचार्य द्विवेदी ने साहित्य एवं साहित्येतर विषयों का गम्भीर अध्ययन, चिन्तन और मनन कर विवेचनात्मक शैली में उन्हें निबन्धों में प्रस्तुत किया है। इस शैली के निबन्ध मूलतः मनोविज्ञान, साहित्य और अध्यात्म सम्बन्धी विषयों पर लिखे गए हैं। रसज्ञ रंजन, साहित्य सीकर, समालोचना समुच्चय, आध्यात्मिकी, विचार-विमर्श,

* राम निछावरि को गनै, मुकता मनिगन खानि।
मंडप धनु पूरो भयो, जनु जुवारि जव धान॥
जनु जुवारि जव धान जनक मन्दिर ते आवै।
मुनि बसिष्ठ के वचन नेग कहि ताहि दिवावै॥
नेग साधि आहुति दई, ब्याह भयौ सब कोउ भनै।
देव भूप रानी जनक, राम निछावरि को गनै॥१४७॥

जेहि विधि राम विवाह भौ, सो कहि सकत न सेस।
सम्पति सोभा सुख सुभग, मंगल मोद सुवेस॥
मंगल मोद सुवेस साजु सुभ सकल समाजे।
कहि कहि थकहिं गनेस व्यास जिन श्रुति पथ साजे॥
श्रुति पथ साजे ते चकित, मोद विनोद उछाह भौ।
तुलसिदास सो किमि कहै जेहि विधि राम विवाह भौ॥१४८॥

---

* "निरखि निछावरि करहिँ बसन मनि छिनु छिनु॥" (जानकीमङ्गल, १६५)

(१४७) जुवारि = ज्वार (जुण्डी), जव और धान जैसे साधारण धान्य की भाँति धन का ढेर लग गया। नेग = नियम। साधि = चुकाकर, पूरा करके। अत्युक्ति अलङ्कार।

† "ब्याह उछाह राम-सीता को सुकृत सकेलि बिरंचि रच्यो री।" (गीतावली)

(१४८) जिस उत्सव के साथ श्रीरामचन्द्रजी का विवाह हुआ उसका वर्णन १००० मुखवाले शेषनागजी भी नहीं कर सकते फिर (बेचारे) तुलसीदास भला कैसे कहैं। वेदों का मार्ग बतानेवाले व्यास और गणेशजी ऐसे बुद्धिमान् भी उस आनन्द को कहते कहते थक जाते हैं और फिर कहने लगते हैं।

जिस प्रकार द्विवेदी जी के निबन्धों में भाषागत वैविध्य द्रष्टव्य है उसी तरह विविध शैलियों का प्रयोग भी। द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों में जिन शैलियों का प्रयोग किया है उनमें प्रमुख हैं—वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, भावात्मक, विवेचनात्मक, संलापात्मक और वक्तृत्तात्मक। द्विवेदी जी के निबन्धों में किसी एक निश्चित शैली का विकास उपलब्ध नहीं होता। उनके युग के अनेक निबन्धकारों ने द्विवेदी जी द्वारा प्रयुक्त शैलियों में से एकाधिक को अपनाकर अपनी गद्य शैली का निर्माण किया है। उनके इतिहास, भूगोल, विज्ञान सम्बन्धी निबन्धों में वर्णनात्मक शैली का प्रयोग है और भावप्रधान विषयों पर लिखे गए निबन्धों में भावात्मक शैली का। व्यंग्यात्मक शैली का युग उन कृतियों में मिलता है जहाँ द्विवेदी जी ने हिन्दी के लेखकों एवं संस्थाओं के काले कारनामों पर प्रकाश डाला है। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'कौटिल्य कुठार', 'भाषा और व्याकरण' आदि निबन्धों में द्विवेदी जी की शैली पूर्ण व्यंग्यात्मक है। व्याख्यान या संलाप सम्बन्धी लेखों में वक्तृतात्मक शैली का पुट मिलता है। उनके साहित्यिक निबन्धों में विवेचनात्मक शैली उपलब्ध होती है। इन विविध शैलियों में द्विवेदी जी का भाषा-वैविध्य भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। विचारात्मक शैली की भाषा अधिक गुम्फित और प्रांजल है किन्तु अभिव्यक्ति अत्यन्त स्पष्ट और सुष्टु है। भावात्मक शैली के निबन्धों की भाषा जटिलता, कटुता और असमबद्धता से रहित है। गंभीर, मधुर एवं कोमलकान्त पदावलियों का प्रयोग कर द्विवेदी जी ने अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्रांकन किया है। समग्र रूप में द्विवेदी जी के निबन्ध भाषा-शैली की दृष्टि से अत्यन्त सफल और सौष्ठवपूर्ण हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों पर दृष्टिपात कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य की इस महत्व पूर्ण विधा को समृद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया है। उनके आलोचक, सम्पादक, अनुवादक आदि स्वरूपों का दिग्दर्शन निबन्धकार रूप में हो जाता है। सुधार सम्बन्धी सारे प्रयास और उनकी पूर्णता का श्रेय निबन्धकार द्विवेदी जी को ही है। उनके निबन्धों में विषय प्रधान (objective) और विषयी प्रधान (subjective) दोनों रूपों का सामन्जस्य है। श्रेष्ठ निबन्ध के लिए जिस गठन, सुसम्बद्धता, श्रृङ्खला एवं अनुभव तथा विचार की प्रौढ़ता की अपेक्षा की जाती है वे सब गुण द्विवेदी जी के निबन्धों में हैं। उनके निबन्धकार रूप की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं तो लिखा ही, अनेकानेक निबन्धकारों को प्रेरणा प्रदान की—उनका मार्ग-प्रशस्त किया, जिन्होंने अपनी कृतियों से हिन्दी साहित्य के इस स्वरूप को समृद्ध बनाया।

शिवनारायण खन्ना

आलोचक द्विवेदी

वह रचना जो किसी साहित्यिक कृति के अर्थ और भाव को भलीभाँति समझने तथा ग्रहण करने में पाठक या श्रोता की सहायता करे, आलोचना है। आलोचना साहित्यिक गुण-दोषों का भली प्रकार विवेचन करती है।

आलोचक के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने अपने विचार 'कालिदास और उनकी कविता' में इस प्रकार स्पष्ट किए हैं—

"कवि या ग्रन्थकार जिस मतलब से ग्रन्थ रचना करता है उससे सर्वसाधारण को परिचित कराने वाले आलोचक की बड़ी जरूरत रहती है। ऐसे आलोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है। और कवियों के गूढ़ाशय मामूली आदमियों की समझ में आ जाते हैं।...इसी से साहित्य में उसका काम इतने आदर की दृष्टि से देखा जाता है-इसीसे साहित्य की उन्नति के लिए उसकी इतनी आवश्यकता है।"

द्विवेदी जी निर्भय प्रकृति के व्यक्ति थे। वे जो सत्य समझते, निडर हो जनसाधारण के समक्ष रखते। आलोचना करते समय वे शत्रु या मित्र का भेद भाव भूल जाते थे। वे भलीभाँति समझते थे कि आलोचना रचनाकार की नहीं वरन् रचना की है। आलोचना के क्षेत्र में दलबन्दी उन्हें तनिक भी पसन्द न थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'सरस्वती' में लिखा था—

"मित्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्षा-द्वेष अथवा शत्रुभाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है।"

तत्कालिन साहित्य क्षेत्र में सत्य और तीव्र आलोचना करना सरल न था। पर द्विवेदी जी डरने वाले न थे। उनके मत से आलोचक को न्यायाधीश के समान निष्पक्ष होना चाहिए। उनके यह विचार अप्रैल १९११ की 'सरस्वती' में द्रष्टव्य हैं—

"समालोचक की उपमा न्यायाधीश से दी जा सकती है। जैसे न्यायाधीश राग-द्वेष और पूर्व संस्कारों से दूर रहकर न्याय का काम करता है, सच्चा समा-

हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी । राम तोर भ्राता बड़ पापी ॥
गौर सरीर स्याम मन माहीं । कालकूट मुख पयमुख नाहीं ॥
सहज टेढ़ अनुहरै न तोही । नीचु मीचु सम देख न मोही ॥
दो०—लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोधु पाप कर मूल ।
जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं[1] बिस्व प्रतिकूल ॥२७७॥
मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया । परिहरि कोप करिअ अब दाया ॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने । बैठिअ होइहिं पाय पिराने ॥
जौं अति प्रिय तौ करिअ उपाई । जोरिअ कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥
बोलत लखनहि जनकु डेराहीं । मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥
थर थर काँपहिं पुर नर नारी । छोट कुमारु खोट अति[2] भारी ॥
भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी । रिस तनु जरै होइ बल हानी ॥
बोले रामहि देइ निहोरा । बचौं बिचारि बंधु लघु तोरा ॥
मन मलीन तनु सुंदर कैसें । बिष रस भरा कनक घटु जैसें ॥
दो०—सुनि लछिमनु बिहसे बहुरि नयन तरेरे राम ।
गुर समीप गवने सकुचि[3] परिहरि बानी बाम ॥२७८॥
अति बिनीत मृदु सीतल बानी । बोले रामु जोरि जुग पानी ॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना । बालक बचनु करिअ नहिं काना ॥
बररै बालकु एकु सुभाऊ । इन्हहि न बिदुष बिदूषहिं काऊ ॥
तेहिं नाहीं कछु काज बिगारा । अपराधी मैं नाथ तुम्हारा ॥
कृपा कोपु बधु बंधु[4] गोसाईं । मो पर करिअ दास की नाईं ॥
कहिअ बेगि जेहिं बिधि रिस जाई । मुनिनायक सोइ करौं[5] उपाई ॥
कह मुनि राम जाइ रिस कैसें । अजहुँ अनुज तव चितव अनैसें ॥

१—प्र० : करहि । [द्वि० : होहिं] । [तृ० : परहिं] । च० : प्र० [(८) : जेन्है] ।
२—प्र० : अति । द्वि०, तृ०, च० : प्र० [(६अ) : बड] ।
३—प्र० : सकुचि] । [द्वि० : बहुरि] । तृ०, च० : प्र० ।
४—[प्र० : बधें] । द्वि० : बंधु । तृ०, च० : द्वि० [(६अ) : बधे] ।
५—प्र० : करौं । [द्वि० : करिअ] । च० : प्र० [(८) : करहु] ।

लेखक और पाठक दोनों ही नए थे; अतएव आवश्यकता थी मार्ग प्रदर्शन की । द्विवेदी जी ने इस कमी को पूर्ण करने में कोई कसर न उठा रखी । परिणाम स्वरूप उनकी अधिकतर रचनाएँ पत्रिकाओं के लिए लेख के रूप में ही लिखी गईं; उनकी सत्य आलोचनाओं की कटुता के कारण उन्हें उपेक्षा, अनादर और निन्दा का भाजन बनना पड़ा । पर वे अडिग रहे और अपनी साधना के बल से साहित्य-युग का मानचित्र ही बदल दिया । तत्कालीन हिंदी आलोचक के लिए हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, उर्दू आदि विविध साहित्य का ज्ञान होना बहुत बड़ी बात थी । इतना ही नहीं वे सम्पादक होने के साथ साथ भाषा सुधारक भी थे ।

द्विवेदीजी ने आलोचना का प्रारम्भ अनूदित ग्रंथों से किया । प्रारम्भिक प्रयास तथा भाषांतर होने के कारण उसमें आलोचक का सच्चा रूप नहीं मिलता । इन आलोचनाओं में द्विवेदी जी ने विषय, स्थल, पात्र और शैली के साथ साथ यह भी देखा कि कवि का भाव पूर्णत: स्पष्ट हुआ है, अनुवाद पूरा पूरा हुआ है और भाषा अनुवादक के अभीष्ट अर्थ को स्पष्ट करने वाली है । इन सभी उद्देश्यों पर एक साथ दृष्टि रखना द्विवेदीजी के ही लिए सम्भव था ।

द्विवेदीजी की "कुमार सम्भव भाषा" समालोचना १८९६ के आरम्भ में "काशी पत्रिका" में प्रकाशित हुई । आलोचना का अन्तिम अंश "हिन्दोस्थान" में छपा । लाला सीताराम बी० ए० ने कुमार सम्भव का हिन्दी में भाषांतर किया था । उपरोक्त समालोचना इस भाषांतर की तीखी आलोचना है । समालोचना में द्विवेदीजी कहते हैं —"पद्यरूप में कुछ लिख देना ही काव्य नहीं कहा जा सकता" (पृष्ठ-६) । दोष दिखलाने के उद्देश्य से की गई यह आलोचना दोषमूलक आलोचना कही जायगी ।

"ऋतु संहार भाषा" की समालोचना नवम्बर १८९७ से मई १८९८ तक "वेंकटेश्वर-समाचार" में प्रकाशित हुई । कुछ समय पश्चात् "मेघदूत भाषा" और "रघुवंश भाषा" की समालोचनाएँ लिखी गईं । लाला सीताराम के कुमारसंभव भाषा, मेघदूत भाषा और रघुवंश भाषा की तीखी आलोचनाएँ १९०१ में "हिंदी कालिदास की समालोचना" शीर्षक से प्रकाशित हुई । हिंदी में किसी एक रचनाकार पर लिखी सम्भवत: यह पहली पुस्तक है । लाला सीताराम के अनुवादों ने महाकवि कालिदास की काव्य प्रतिभा और काव्य सौन्दर्य का लोप ही कर दिया था । आलोचक ने कालिदास का काव्य सौन्दर्य तथा कविता की उत्कृष्टता और अनुवाद की असफलता दिखाई है । स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने संस्कृत काव्यों का गम्भीरता से मनन किया । आलोचनाओं में आलोचक का पांडित्य तथा संस्कृत ज्ञान स्पष्ट झलकता है । यह दोषमूलक आलोचनाएँ संस्कृत प्रणाली पर हैं ।

द्विवेदीजी द्वारा लिखित आलोचना की पहली पुस्तक "हिंदी शिक्षावली" तृतीय भाग की समालोचना है । मूल रूप में "हिंदी शिक्षावली" इण्डियन प्रेस,

देखि कुठारु बान धनु धारी । भै लरकहि रिस बीरु बिचारी ॥
नामु जान पै तुम्हहि न चीन्हा । बंस सुभायँ उतर तेहिं दीन्हा ॥
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं । पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥
छमहु चूक अनजानत केरी । चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी ॥
हमहिं तुम्हहिं सरबरि कस नाथा । कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा ॥
राम मात्र लघु नाम हमारा । परसु सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥
देव एकु गुनु धनुष हमारें । नव गुन परम पुनीत तुम्हारें ॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे । छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥
दो०—बार बार मुनि बिप्रबर कहा राम सन राम ।
बोले भृगुपति सरुष हसि तहूँ बंधु सम बाम ॥२८२॥
निपटहिं द्विज करि जानहि मोही । मैं जस बिप्र सुनावौं तोही ॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू । कोपु मोर अति घोर कृसानू ॥
समिधि सेन चतुरंग सुहाई । महा महीप भये पसु आई ॥
मैं येहिं परसु काटि बलि दीन्हे । समर जग्य जग[1] कोटिन्ह कीन्हे ॥
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें । बोलसि निदरि बिप्र कें भोरें ॥
भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा । अहमिति मनहु जीति जगु ठाढ़ा ॥
राम कहा मुनि कहहु बिचारी । रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी ॥
छुवतहिं टूट पिनाकु पुराना । मै केहि हेतु करौं अभिमाना ॥
दो०—जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भयबस नावहिं माथ ॥२८३॥
देव दनुज भूपति भट नाना । समबल अधिक होउ बलवाना ॥
जौं रन हमहि प्रचारै कोऊ । लरहिं सुखेन कालु किन होऊ ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना[2] । कुल कलंकु तेहि पाँवर आना[3] ॥

१—प्र० : जग । द्वि०, तृ०, च० : प्र० [(६अ) : जप] ।
२—प्र०: डेराना । द्वि० : सकाना । तृ०, च० : द्वि० ।
३—प्र० : आना । द्वि० : प्र० । [तृ०, च० : जाना] ।

"नाट्य-कला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो, और चाहे जिसने उसे बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है और दर्शकों का नेत्र व्यापार भी व्यर्थ है।" अतएव द्विवेदीजी के मत से नाटक मनोरंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी होना चाहिए।

संस्कृत नाट्य शास्त्र की परम्परा के सम्बंध में द्विवेदी जी के विचार उदार हैं—"देश, काल और अवस्था के अनुसार लिखे गए सभी नाटक, जिनसे मनोरंजन और उपदेश मिले, प्रशंसनीय हैं। वे चाहे हमारे प्राचीन आचार्यों के सारे नियमों के अनुकूल बने हों, चाहे न बने हो उनसे लाभ अवश्य ही होगा।"

हिंदी नाट्य साहित्य के उदयकाल में "नाट्य साहित्य" का उद्देश्य नाटककारों, पाठकों और दर्शकों को नाट्यकला का परिचय तथा ज्ञान कराना था। साहित्य शास्त्र से सम्बन्ध रखने के कारण प्रबन्ध की शैली विवेचनात्मक है।

"विक्रमांक देव चरित चर्चा" संस्कृत कवि विल्हण के 'विक्रमांक देव चरितम्' की परिचयात्मक आलोचना है। इसकी रचना 'नैषध चरित चर्चा' के अनुरूप ही हुई है।

'कालिदास की निरंकुशता' द्विवेदीजी ने 'साहित्य मर्मज्ञों के मनोरंजनार्थ लिखी थी।' यह आलोचना भी दोष मूलक आलोचना के अन्तर्गत आती है। अभिव्यंजना शैली व्यंग्यात्मक होने के साथ-साथ हास्यमिश्रित भी है। वस्तुतः 'कालिदास की निरंकुशता' कालिदास की समीक्षा का एकांगी चित्र है। इस रचना के सम्बन्ध में आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में अपना मत निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

"द्विवेदीजी की तीसरी पुस्तक 'कालिदास की निरंकुशता' में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किये गये हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिन्दी वालों के या संस्कृतवालों के फायदे के लिए लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता।" पर इस मत के पूर्व ही द्विवेदीजी ने आलोचकों को आगाह कर दिया है—'जिनके विचार हमारे ही ऐसे हैं उन्हीं का मनोरंजन हम इस लेख में करना चाहते हैं।···इसे आप केवल वाग्विलास समझिये। यह केवल आपका मनोरंजन करने के लिए है।' पर केवल मनोरंजन के लिए ऐसी रचना कहाँ तक उचित कही जा सकती है? निसन्देह मनोरंजन प्रधान होते हुए भी प्रबन्ध में ज्ञान वर्धन की भावना है।

'कालिदास की निरंकुशता' के विचार संस्कृत टीकाकारों पर आधारित होते हुए भी उपस्थापन शैली द्विवेदीजी की अपनी है। अपने कथन के समर्थन के लिए द्विवेदीजी ने प्राचीन और अर्वाचीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों के विचार

प्रस्तुत किये हैं। यह दोष दर्शन प्रणाली हिन्दी संसार के लिए पूर्णतः नवीन थी। 'कालिदास की निरंकुशता' से प्रभावित हो इसी खण्डनात्मक आलोचना पद्धति पर जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'निरंकुशता-निदर्शन' की रचना की। चतुर्वेदी जी ने द्विवेदीजी की आलोचना का सविस्तार खण्डन करने का प्रयास किया है। प्रमाण पुष्ट तर्कसम्मत तथा सारगर्भित न होने के कारण 'निदर्शन' का अधिक आदर न हो सका।

'रसज्ञ रंजन' आचार्य पद्धति पर लिखे गए आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। वस्तुतः इन आलोचनात्मक लेखों में सिद्धान्त समीक्षा है। 'रसज्ञ रंजन' में हिन्दी के अभावों की ओर इंगित किया गया है। उदाहरणार्थ कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता, नायिका भेद, कविता, कवि बनने के सापेक्ष साधन, हंस सन्देश, हंस का दुस्तर दूत कार्य आदि उपयोगी लेख हैं। रंजन के प्रथम पाँच लेख रसज्ञ कवि तथा अन्तिम चार रसज्ञ काव्य प्रेमियों के मनोरंजनार्थ रचे गए हैं। राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' की प्रेरणा और रचना का श्रेय 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' को ही है।

'रसज्ञ रंजन' में द्विवेदीजी ने लिखा है—'दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि के प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुके हैं। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और छन्द भी लिखा करें।' द्विवेदीजी के मत से—'आजकल के बोलचाल की हिन्दी कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छन्दों में अधिक खुलती है, अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिए।' आलोचक का निष्कर्ष है—'कुछ कवियों को एक ही प्रकार का छन्द सध जाता है, उसे ही वे अच्छा लिख सकते हैं उनको दूसरे छन्द लिखने का प्रयत्न भी न करना चाहिए।'

अनुप्रास प्रयोग के सम्बन्ध में द्विवेदीजी का मत है—'पादान्त में अनुप्रास हीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिए।'

कविता की भाषा के सम्बन्ध में भी 'रसज्ञ रंजन' में द्विवेदीजी ने अपने विचार प्रकट किए हैं—'गद्य और पद्य की भाषा पृथक पृथक न होनी चाहिए।..... यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि वे क्रम क्रम से गद्य की भाषा में कविता करना आरम्भ करें।'

नायिका भेद प्रबन्ध में द्विवेदीजी ने नायिका भेद वर्णन के गुण-दोषों पर विचार कर तत्कालीन समाज के लिए नायिका भेद अनुपयोगी तथा हानिकर बतलाया है। "इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि न पहुँचेगी, उल्टा लाभ होगा। इनके न होने से समाज का कल्याण है। इनके न होने ही से नव-वयस्क युवाजनों का कल्याण है। इनके न होने से ही इनके बनाने और बेचने

वालों का कल्याण है ।" इतने दृढ़ स्वर से नायिका भेद की सच्ची आलोचना करना दृढ़ आलोचक के ही लिए सम्भव है । स्पष्ट है कि आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का सिद्धान्त अपनाया है ।

द्विवेदीजी की सभी आलोचनाओं में सिद्धान्त निरूपण है । उन्होंने संस्कृत आचार्यों की परम्परा में सिद्धान्तों को साध्य और लक्ष्य रचनाओं को साधन न मानकर लक्ष्य रचनाओं को ही साध्य और सिद्धान्तों को साधन माना है । आलोचना करते समय अपने कथन के समर्थन में अन्य आचार्यों के या अपते सिद्धान्तों को उपस्थित किया है । कालिदास के ग्रन्थों की आलोचना करते समय उन्होंने लिखा है—"जिस साहित्य में समालोचना नहीं वह विटपहीन महीरुह के समान है । उसे देखकर नेत्रानन्द नहीं होता । उसके पाठ और परिशीलन से हृदय शीतल नहीं होता । वह नीरस मालूम होता है ।"

१९०५ और १९१८ के बीच लिखे कालिदास सम्बन्धी लेख 'कालिदास और उनकी कविता' में संकलित हैं । अधिकांश लेख १९११-१२ के हैं । द्विवेदीजी को इन लेखों की प्रेरणा सम्भवतः पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से मिली होगी । हिन्दी में कालिदास पर सम्भवतः यह पहली पुस्तक है । पुस्तक के निवेदन में स्वयं द्विवेदीजी ने कहा है कि उस समय हिन्दी में कालिदास पर कोई पुस्तक न थी ।

कालिदास और उनकी कविता पर विचार करने से पूर्व उस युग के पाठकों को देखना आवश्यक होगा । उस युग के पाठक दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते थे—प्रथम तो सामान्य पाठक कालिदास का नाम मात्र जानते थे—अन्य साहित्य सम्बन्धी कोई जानकारी न थी, द्वितीय वर्ग में वे पंडित थे जो 'कौमुदी के कीड़े' या लकीर के फकीर कहे जा सकते थे । वे कालिदास की आलोचना तनिक भी न सह सकते थे; उनके लिए कालिदास का प्रत्येक शब्द कसौटी पर खरा था । समालोचनाओं तथा आलोचकों की दशा भी अच्छी न थी । अतएव द्विवेदी ने इस क्षेत्र में अज्ञान का निरोध तथा ज्ञान का प्रचार करना अपना कर्त्तव्य समझा ।

'कालिदास और उनकी कविता' का प्रारम्भ दृढ़ तथा गवेषणात्मक आलोचना से हुआ है । प्राच्य तथा पश्चिमी विद्वानों के मत, उनकी स्थापना तथा परीक्षा के साथ साथ द्विवेदीजी ने अपने मत की स्थापना की है । प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक पक्ष का अन्वेषण भी किया गया है । प्रारम्भ से अन्त तक सूक्ष्म अध्ययन तथा गम्भीर चिन्तन है ।

द्विवेदीजी ने प्राचीन तथा तत्कालीन विशेषताओं तथा प्रवृत्तियों की तुलना करते हुए कालिदास के काव्य में तत्कालीन समाज का मूल्यांकन "कालिदास की दिखाई हुई प्राचीन भारत की एक झलक" में किया है । "कालिदास के मेघदूत का रहस्य" कालिदास के अतिरिक्त आलोचक की सहृदयता तथा कवि हृदय का भी रहस्य है । प्रेमी हृदय का विश्लेषण द्विवेदी जी ने अपने प्रेमी हृदय के स्नेह

से किया है। प्रेम-संसार का पूर्ण ज्ञान होने के कारण आलोचक द्विवेदी ने प्रेम की सुन्दर व्याख्या तथा स्थापना की है। आलोचक के हृदय में प्रेम की सच्ची अनुभूति है। प्रेमी हृदय का यह स्वर सात्विकता, निर्मलता और भोलेपन से सीधे सरल शब्दों में प्रकट हुआ है।

"कालिदास के समय का भारत" तथा "कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थल" निबन्ध भावात्मक ही नहीं विचारोत्तेजक भी हैं। यह आलोचनाएं संस्कृत शब्द बहुल तथा वक्तृतात्मक शैली में लिखी गई हैं। ओज, प्रवाह तथा रुचि बनाए रखने के लिए शैली कहीं कहीं संलापात्मक तथा चित्रात्मक भी हो गई है। "कालिदास और उनकी कविता" आलोच्य पुस्तक संस्कृत की आचार्य पद्धति तथा अंग्रेजी की निर्णयात्मक शैली का समन्वय है। "कालिदास के ग्रंथों की समालोचना" निबन्ध की दोनों शैलियों के समन्वय का स्पष्ट उदाहरण है।

समय समय पर द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के लिए कवियों और विद्वानों के जीवन चरित्र लिखे। 'सरस्वती' से अवकाश लेने पर आपने इनका संग्रह किया। यह संग्रह "सुकवि संकीर्तन" तथा "कोविद कीर्तन" शीर्षक से १९२२ तथा १९२७ में प्रकाशित हुए। साहित्यकारों की यह जीवनियां व्याख्यात्मक आलोचना के अन्तर्गत आती हैं। द्विवेदीजी ने साहित्यिकों की आलोचना के साथ उनकी कृतियों की आलोचना भी की है। संस्कृत आलोचना में ऐसा प्रचलन नहीं था।

वेंकटेश्वर प्रेस की पुस्तकें, गायक वाड़ की प्राच्य पुस्तक माला आदि लेख भी व्याख्यात्मक आलोचनाएं ही हैं।

संस्कृत साहित्य में किसी कृति की व्याख्या में कृतिकार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। आलोचकों का उद्देश्य अर्थ की व्याख्या ही होता था, पर द्विवेदीजी ने दोनों ओर पर्याप्त ध्यान दिया। चरितचर्चा, चरितचित्रण, वनिता विलास, सुकवि संकीर्तन तथा प्राचीन पंडित और कवि जीवन चरित्रों के ही संग्रह हैं।

"आलोचनांजलि" १९०१ और १९१७ के बीच लिखे आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। प्रत्येक लेख पृथक और अपने में स्वतन्त्र है। आलोचक ने अपने मत की स्थापना के लिए स्थान स्थान पर सन्दर्भों और सिद्धान्तों को उपस्थित किया है। समालोचक, उनके गुण तथा उनकी आवश्यकता पर द्विवेदीजी ने विचार किया है।

निवेदन से स्पष्ट है—"इनमें से अधिकांश लेखों में संस्कृत—साहित्य के कई प्राचीन और प्रतिष्ठित ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। दो—एक लेख इसमें ऐसे भी हैं जो हिन्दी तथा मराठी भाषाओं के आधुनिक साहित्य से सम्बन्ध रखते हैं; परन्तु जिन ग्रंथों या पुस्तकों की आलोचना उनमें है उनका भी आधार प्राचीन साहित्य ही है। दोषोद्भावना के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का मत है—"उनमें से

प्रत्येक लेख में अन्यान्य बातों ने अतिरिक्त भिन्न-भिन्न देश और काल के विद्वानों की दोषोद्भावना विषयक सम्मतियां भी उद्धृत की गई हैं और यह सिद्ध किया गया है कि पूर्ववर्ती कवियों और पंडितों की पुस्तकों की खण्डनात्मक किंवा दोष-दर्शन समालोचनाएं करने की परिपाटी बहुत पुरानी है। अतएव आधुनिक लेखकों में से यदि कोई लेखक शिष्ट शब्दों में, वैसी ही आलोचना लिखने की चेष्टा करे तो उसका वह उद्योग निन्द्य नहीं हो सकता।" इतना ही नहीं द्विवेदीजी कहते हैं—"प्राचीनों की समालोचना सनातन से होती आई है और अब भी होती है। तत्व विवेचन की दृष्टि से लिखी गई ऐसी समालोचनाओं से साहित्य को हानि नहीं पहुँच सकती, उनसे तो उसे लाभ ही पहुँचने की सम्भावना अधिक रहती है।"

आलोचनांजलि में प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना, महाकवि भास के नाटक, रामायण का प्रभाव, गीता रहस्य विवेचन तथा अश्वघोष-कृत सौन्दरानन्द काव्य का आलोचनात्मक विवेचन है।

"साहित्य-सीकर" में हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्य संबंधी विचार भी हैं। "सीकर" के निवेदन में द्विवेदी जी ने लिखा है —"सौभाग्य से आगे किसी समय यदि हिंदी साहित्य के इतिहास लिखने का उपक्रम हुआ तो इतिहास लेखक को, साहित्य की सामयिक अवस्था की तुलना करने में, इस पुस्तक से थोड़ी-बहुत सहायता अवश्य ही मिलेगी।" वे साहित्य के इतिहास की आवश्यकता तथा महत्व को भलीभांति समझते थे। "साहित्य सीकर" में वेद, प्राकृत भाषा, संस्कृत भाषा का महत्व, योरप के विद्वानों के संस्कृत-लेख और देवनागरी लिपि, शब्दार्थ विचार, सम्पादकीय योग्यता आदि विषयों पर विचार किया गया है।

'विचार विमर्श' अन्य आलोचनात्मक लेखों का संग्रह है। विमर्श के लेख सामयिक तथा पुस्तक परिचय की सीमाओं में सीमित हैं; उदाहरण स्वरूप आधुनिक कविता, पुरानी समालोचना का एक नमूना, हिन्दी के समाचार पत्र, बोल चाल की हिन्दी में कविता, सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्तव्य तथा भारत-भारती का प्रकाशन आदि निबन्ध हैं। उन्होंने विवाद ग्रस्त विषयों पर अपना मत देकर पाठकों से विचार करने का अनुरोध किया है "भारत-भारती का प्रकाशन" के अन्त में वे कहते हैं—

"आशा है पाठक इसे लेकर एकबार इसे साद्यन्त पढ़ेंगे और पढ़ चुकने पर—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी।
मिलकर विचारेंगे हृदय से ये समस्याएं सभी॥"

विदेशी शब्दों को भी द्विवेदीजी ने सरल-सुबोध ढंग से स्पष्ट किया है—

'कुशल पूर्वक ५० वर्ष बीत जाने के उपलक्ष में जो उत्सव किया जाता है, उसे अंग्रेजा में जुबली कहते हैं। महारानी विक्टोरिया को जब राज्य करते ५०

वर्ष हो गए थे, तब इस देश में जुबली का महोत्सव हुआ था।'

व्यंग्य शैली में अतिशय तीखापन लाने के लिए विशेषणातिरेक और विरोध की सहायता भी ली है—'हाँ महाराज ! आप विद्वान, आप आचार्य, आप प्रधान पंडित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आपका व्याकरण तोषप्रद नहीं।'

'साहित्यालाप' (१९२९) में देवनागरी लिपि की उत्पत्ति और विकास, हिन्दी भाषा और उसका साहित्य, उसकी तत्कालीन अवस्था, कवि सम्मेलन तथा तत्कालीन छायावादी कवि और कविता आदि विषयों की आलोचना है। द्विवेदी जी के शब्दों में इस संग्रह में दो एक लेखों को छोड़कर अन्य सभी लेख हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी आदि भाषाओं के विचार के साथ साहित्य का भी विचार किया गया है।'

'विचार विपर्य्यय' लेख में अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग तथा प्रभाव पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। 'पराया माल भला हो या बुरा, घर आ जायगा तो कभी न कभी काम ही देगा। कुछ दाम तो देने पड़ते ही नहीं जो कबूल करते, खरीदते या चुराते वक्त अच्छे या बुरे की जांच करने बैठें। औरों का चाहे जो मत हो, अपने राम तो जांच पड़ताल के मुतलक़ क़ायल नहीं। मुफ्त में मिलता हो तो औरों के कूड़े-करकट से भी हम अपना घर पाट दें। कभी हमारे नाती-पोते खेती करेंगे तो वही कूड़ा-करकट खाद का काम देगा।'

उपर्युक्त लेख में समालोचना के सम्बन्ध में भी द्विवेदी जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं—'लीपापोती हमें जरा भी पसन्द नहीं। हमें तो खरी समालोचनाएं ही पसन्द हैं।'''''वे समालोचनाएँ ही क्या, जिनको पढ़कर समालोचित ग्रंथ के लेख की प्रेरणा से गोरखों की पलटने, गढ़वालियों की बटालियनें और सिक्खों की सेनायें समालोचक पर सहसा टूट न पड़े।'—(अगस्त १९२५)

द्विवेदीजी ने सरकारी विभागों की रिपोर्ट पर भी आलोचनाएँ लिखीं हैं। ये आलोचनाएँ ज्ञान, विद्वता, मननशीलता तथा कुशाग्र बुद्धि का परिचय देती हैं। कहीं कहीं सच्ची देश-भक्ति की भावना के कारण वे तिलमिला उठते हैं। ऐसे स्थलों की भाषा बड़ी जोरदार तथा सीधे आक्षेप करने वाली है। 'बड़े ही अफसोस की बात है कि इस सूबे में जिले की हाकिमी करके और हजारों दिहातियों की दुर्दशा का चित्र आँखों देखकर भी ए०डी० साहब कचहरी जाना और रेल में सफर करना दीन-दुखिया किसानों के लिए आमोद-प्रमोद और मनोरंजन में दाखिल समझते हैं।'''भेड़ बकरियों की तरह रेल के डिब्बों में भर जाना, धक्के खाना और पाँच-पाँच रुपये की दीवानी की नालिश के लिए खेती, किसानी का काम छोड़कर महीनों कचहरियों में मारे मारे फिरना भी यदि मनोरंजन और चित्र दर्शन में शामिल समझा जा सकता है तो चौबीस घन्टे में एकबार रूखी सूखी मकई की रोटी से पेट भर लेना शायद मोहन भोग का मजा लूटने में भी दाखिल समझा जायगा।'

द्विवेदीजी के सम्पूर्ण आलोचना साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक शैलियों में आलोचना की है। इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि द्विवेदीजी की कुछ आलोचनाएँ कटु हो गई हैं; पर इनके मूल में द्वेष न होकर हिन्दी सुधार की भावना ही है।

द्विवेदी-युग के पूर्व हिन्दी काव्य शृङ्गार रस से ओत-प्रोत था। साधारण जन कविता के अर्थ तथा महत्त्व को न समझते थे। भाषा का भी विवाद चल रहा था। व्याकरण के नियम अस्तव्यस्त थे। लेखक, सम्पादक, आलोचक अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन थे। द्विवेदीजी ने परिस्थितियों और आवश्यकताओं को देख इन कमियों की ओर पूरा पूरा ध्यान दिया तथा आवश्यकतानुसार आलोचनाएँ कीं और इस प्रकार वे सचमुच आचार्य हो गए।

हिन्दी की उतनी लोक-प्रिय सेवा और किसी महारथी ने नहीं की जितनी कि इस महापुरुष के द्वारा हुई है। हिन्दी का इतिहास इस व्यक्ति विशेष से इतनी घनिष्टता के साथ सम्बद्ध है कि अकेले द्विवेदी जी के साथ वर्तमान हिन्दी का विकास, उसी तरह लिपटा हुआ है, जिस तरह किसी बड़े वृक्ष के साथ लताएँ लिपटी हुई होती हैं।

—श्री रमाशंकर अवस्थी

प्रो० निर्मल तालवार

द्विवेदीजी के व्यंग-चित्र

कला सौन्दर्य की साधना है और चित्रकला रंग और रेखा के माध्यम से रस को रूप देने की, सौन्दर्य की साधना है। किन्तु कला को यदि केवल सौन्दर्य की साधना न करके युग को एक आदर्श, एक नैतिक दृष्टिकोण भी देना हो, युग-धर्म के प्रति जन-समूह को जाग्रत करना हो, सुप्त राष्ट्र को जागरण का सन्देश सुनाना हो तो कला के लिए निमित्तवाहिनी और प्रयोजनवती होना आवश्यक है। पराधीन और विपन्न राष्ट्र की कला अनिवार्य रूप से प्रयोजनवती होकर ही राष्ट्र का कल्याण कर सकती है। कलाकार कला की इस मांगलिक शक्ति से यदि अपरिचित नहीं है तो निश्चित रूप से वह आवश्यकतानुसार कला के विविध रूपों का प्रयोग करेगा। श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने युग के सबसे समर्थ कलाकार थे। उन्होंने वाणी के माध्यम से कला की साधना करके गद्य और पद्य की विविध शैलियों द्वारा युग-धर्म की ओर जन साधारण को आकृष्ट किया। वे केवल शैलीकार ही नहीं युगनिर्माता भी थे। उन्होंने साहित्य निर्माण ही नहीं किया वरन् ऐसा साहित्य दिया जिसके द्वारा जन-मन एक आदर्श को पा सके। वे साहित्य स्रष्टा थे, साहित्यकारों के मार्ग दर्शक भी। साहित्य उनके लिए आदर्श था। युग का जन-समूह कला के अपेक्षा-कृत स्थूल रूप, चित्रकला, को सम्भवत: काव्य से अधिक समझ सकता था। आज भी मानव चित्र को देखकर उसका अर्थ खोजने का प्रयत्न करता है। उसकी मूक वाणी को स्वर देना चाहता है। आज भी प्राय: प्रत्येक प्रसिद्ध हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला एवं अन्य भाषाओं के दैनिक, साप्ताहिक मासिक आदि पत्रों में किसी कोने में एक चित्र बना रहता है और सुशिक्षित जन समूह उसे देखने को उत्सुक रहता है। ये चित्र प्राय: व्यंग-चित्र होते हैं। इनका प्रयोजन यथार्थ की ओर से उदासीन मानव को सचेत करना है। व्यंग-चित्र निश्चित रूप से सप्रयोजन होते हैं। प्रयोजनवती-कला का यह एक प्रधान रूप है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी व्यंग-चित्रों की उपादेयता से सुपरिचित थे। उन्होंने ऐसे चित्रों के माध्यम से जिन विचारों को प्रस्तुत किया है भले ही आज वे अनावश्यक प्रतीत हों किन्तु आज से ६४ वर्ष पूर्व उनकी उपयोगिता असन्दिग्ध थी।

निश्चय ही वे चित्र सहस्त्रों को प्रबुद्ध करने में समर्थ हुए होंगे, सहस्त्रों का उन्होंने पथ-प्रदर्शन किया होगा। द्विवेदीजी को 'सरस्वती' जैसी समर्थ पत्रिका का माध्यम प्राप्त था, जिसके द्वारा वे युग को नया पथ दिखा सके, हिन्दी के जन समूह को जाग्रत और कर्मशील बना सके। उसी पत्रिका में व्यंग चित्रों का सदुपयोग भी उन्होंने किया।

द्विवेदीजी व्यंग-चित्रों की शक्ति से भलीभांति परिचित थे और उस शक्ति का उपयोग करना चाहते थे, अत: अपने विचारों और भावों को, अपनी कल्पना और भावना को उन्होंने चित्रकार को समझाया, तथा चित्रों को तैयार करवाया। सरस्वती के इन व्यंग-चित्रों में जहां लिखा मिलता है "पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा कल्पित" वहीं चित्र के किसी कोने में चित्रकार का नाम भी अंकित मिलता है। कहीं यह नाम H. Bose है कहीं G.N·M.। बहुत सम्भव है 'सरस्वती के स्टाफ में इस नाम के चित्रकार रहे हों। इन व्यंग-चित्रों की योजना आचार्य द्विवेदी किस प्रकार कलाकारों को लिखकर भेजते थे, उसे सरस्वती की हस्त-लिखित प्रतियों में देखा जा सकता है। ये प्रतियाँ नागरी-प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित हैं। डा० उदय भानु सिंह ने अपने प्रबन्ध 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग', में दो चित्रों की योजना की रूप-रेखा इन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पृष्ठ १७८-१८० पर उधृत की है। द्विवेदीजी किस ढंग से चित्रकार को समझाते थे, इन रूप-रेखाओं से सहज ही उसे समझा जा सकता है। सरस्वती के इन चित्रों के माध्यम से साहित्य की अवस्था समझाने का और उसके अभावों को दूर करने का प्रयास स्पष्ट है।

'सरस्वती' के सम्पादक बनने से पूर्व ही द्विवेदीजी ने पत्रिका में व्यंगचित्र प्रकाशित करवाना प्रारम्भ कर दिया था। १६०१ में भी, (संख्या १०, पृष्ठ ३५७) 'चित्र गुप्त की रिपोर्ट' चित्र प्रकाशित हुआ है। उस समय 'सरस्वती' का सम्पादन श्री श्यामसुन्दर दास कर रहे थे। बहुत सम्भव है कि चित्र उन्होंने बनवाये हों। पृष्ठ ३५७ और ३५८ पर दो चित्र हैं। ये दोनों चित्र साधारण और स्पष्ट हैं। पंहले चित्र में एक सज्जन खड़े हुए, किताब पर कुछ लिख रहे हैं, और पास में डाकिया खड़ा है। दूसरे चित्र में अपने चारों ओर कागज फैलाए चित्रगुप्त बैठे हैं ; पास ही अरुणक कुछ कागज लेने के लिए हाथ फैला रहा है। मगर इन चित्रों के नीचे का वक्तव्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी का लिखा हुआ है। पूरा कथोपकथन सम्वाद रूप में है।

"चित्रगुप्त की रिपोर्ट"

चिठ्ठीरसां—आपके नाम एक वी० पी० भी है।

बाबू साहब—वी० पी ! मेरे नाम !! नामुमकिन !!!

चि०—यह लीजिए।

बाबू०—(खूब देख भाल कर) यह मेरे लिए नहीं।

चि०—नाम तो इस पर आप ही का है। हिन्दी में है, सो भी छपा हुआ है। (पढ़ता है)

बाबू०—नहीं, नहीं ! जहाँ से यह किताब आई है वहाँ यह नाम कोई नहीं जानता।

चि०—क्या आपके कई नाम हैं ?

बाबू०—बड़ा गुस्ताख़ है।

चि०—कुसूर माफ हो, इसी नाम पर आए हुए अखबार वगैरह मैं रोज ही आपको दे जाया करता हूँ।

बाबू०—अरे मूर्ख ! मेरे नाम के अगाड़ी और पिछाड़ी जो कुछ होना चाहिए वह इस पर नहीं हैं। मेरा नाम बाक़ायदे नहीं लिखा।

चि०—अच्छा आप इस पर लिख दीजिए कि अगाड़ी पिछाड़ी के न होने से आप लेने से इनकार करते हैं।

बाबू०—फिर गुस्ताख़ी ! मैं तुम्हारी शिकायत करूँगा। (यह कह कर खड़े ही खड़े, पेंसिल से पैकेट पर 'इनकार किया' लिख कर बाबू साहब ने उसे चिट्ठीरसां को वापस किया)।

चिट्ठीरसां—(चलता हुआ)

बाबू०—हूँ : वी० पी ! अभी *दो वर्ष भी पूरे नहीं हुए !!* मेरी प्रतिष्ठा में चोट लगने का भी ख़याल नहीं !!!

चित्रगुप्त—(पार्षद की ओर देखकर) अरुणक ! यह सम्वाद जो मैंने अभी दर्ज रजिस्टर किया, उसकी यह नकल तब तक प्रयाग को 'सरस्वती' में छपने के लिए तुम फौरन दे आओ।

अरुणक—जो आज्ञा, महाराज ! (जाता है)

उक्त सम्वाद मनोरंजक तो है ही पर अनेक सुझाओं से पूर्ण भी है। प्रसंग से ज्ञान पड़ता है कि दो वर्ष का चन्दा 'सरस्वती' का पूरा होने से पूर्व ही सरस्वती के लेखक की प्रतिष्ठा पर भी ध्यान नहीं दिया गया और पत्रिका की वी० पी० भेज दी गई और वह भी पंडित अथवा 'श्री' तथा 'वंशनाम' के बिना ही पता लिख कर। वी० पी० लौटाने के साथ ही साथ सरस्वती सम्पादक के पास सम्वाद रूप में द्विवेदीजी का यह पत्र भी पहुँचा। द्विवेदीजी की यह पत्र-शैली सचमुच अनूठी है। सरस्वती के तात्कालिक सम्पादक ने चित्रों के सहित "चित्रगुप्त की रिपोर्ट" को पत्रिका में प्रकाशित कर सम्भवतः अपनी भूल स्वीकार करने व उनके अप्रत्यक्ष सुझावों को मानने के साथ साथ अपनी उदारता का भी परिचय दिया है।

नारद आये अवधपुर, राम चरित हित जाहि ।
प्रेम नेम जाके अवधि, राम रूप उर माहिं ॥
राम रूप मन माहिं राम देखत उठि धाये ।
पूजित विविध प्रकार जोरि कर प्रभु सिर नाये ॥
प्रभु सिर नाये बूझियो, मुनि प्रगटी विधि हृदय जुर ।
कहत विरंचि सँदेस सब, नारद आये अवधपुर ॥५॥

राम वचन सुनि मुनि गये, पाइ वचन बिस्वास ।
राम प्रगट माया करी, सबके हृदय प्रकास ॥
सबके हृदय प्रकास गुरुहिं नृप जाइ सुनायौ ।
* राम तिलक कर देहु नाथ सबके मन भायौ ॥
सब के मन भायौ सुखद, मुनि बसिष्ठ आनँद भये ।
तिलक साज साजी मुदित, राम भवन सुनि मुनि गये ॥६॥

---

(५) हित=प्रेम। नेम (नियम)=अमर कोष के अनुसार बाह्य वस्तुसाध्य नित्य कर्मों को नियम कहते हैं, जैसे—शौच, सन्तोष, तप, वेद-पठन और ईश्वर का ध्यान। उर=हृदय। बूझियो=पूछा। विधि=विरञ्चि ; ब्रह्मा। जुर=बुखार, पीड़ा।

इस स्थल पर नारदजी के आने और रामचन्द्रजी से ब्रह्मा के सन्देश कहने का प्रसङ्ग मानस में नहीं है।

* "नाथ राम करिये जुवराजू। कहिय कृपा करि करिय समाजू॥" (रा० च० मा०)
"राम होहिं जुवराज जियत मेरे यह लालच मन माहीं॥"
(गीतावली, अ० का० १)

(६) पाइ वचन बिस्वास=विश्वास-युक्त वचन सुनकर (नारदजी चले गये)। मुदित=प्रसन्न होकर।

सुमन बरिसि सुर हनहिं निसाना। नाक नटी नाचहिं करि गाना॥
सतानंदु अरु बिप्र सचिव गन। मागध सूत बिदुष बंदीजन॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयेसु माँगि फिरे अगवाना॥
प्रथम बरात लगन तें आई। ता तें पुर प्रमोदु अधिकाई॥
ब्रह्मानंदु लोग सब लहहीं। बढ़हुँ दिवस निसि बिधि सन कहहीं॥

दो०—रामु सीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नर नारि समाज॥३०९॥

जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरें देही॥
इन्ह सम काहुँ न सिव अवराधे। काहुँ न इन समान फल लाधे॥
इन्ह सम कोउ न भएउ जग माहीं। है नहि कतहूँ होनेउ नाहीं॥
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भए जग जनमि जनकपुर बासी॥
जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥
पुनि देखब रघुबीर बिआहू। लेब भली बिधि लोचन लाहू॥
कहहिं परसपर कोकिल बयनीं। येहि बिबाह बड़ लाभु सुनयनी॥
बड़ें भाग बिधि बात बनाई। नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई॥

दो०—बारहिं बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय।
लेन आइहहिं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय॥३१०॥

बिबिध भाँति होइहि पहुनाई। प्रिय न काहि अस सासुर माई॥
तब तब राम लखनहि निहारी। होइहहिं सब पुरलोग सुखारी॥
सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसइ भूप संग दुइ ढोटा॥
स्याम गौर सब अंग सुहाए। ते सब कहहिं देखि जे आए॥
कहा एक मै आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥
भरतु राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारीं॥
लखनु सत्रुसूदनु एक रूपा। नख सिख तें सब अंग अनूपा॥
मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥

देखि देव सोचत भये, अवधि राम की राज।
दुष्ट कष्ट को नासिहै, निहचै भयेउ अकाज॥
निहचै भयौ अकाज सुमिरि सारदा बुलाई।
राम बिपिन कहँ जाइँ मातु सो करहु उपाई॥
* राम विपिन कहँ जाहिं जब, करु उपाइ बुधिबल नये।
चरन गहे पालन करै, देखि देव सोचत भये॥९॥

धृक धृक देवन कहि चली, आगे हेतु विचारि।
अवधि गई रानी जहाँ, देखी सुमति सम्हारि॥
देखी सुमति सम्हारि तहाँ परवेस न पायो।
† कंठ मन्थरा बैठि तासु चित हित भरमायो॥
हित भरमायौ तेहिं सबै, प्रिया केकई की अली।
पुर दुखदाइनि सी भई, धृक धृक देवन कहि चली॥१०॥

---

* "बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिँ बन राजु तजि, होइ सकल सुर काजु॥" (रा० च० मा०, १२)

(९) अवधि राम की राज=यदि अयोध्या में राम का राज्य हो जायगा। दुष्ट कष्ट=राक्षसों द्वारा दिये हुए दुःख। को=कौन।

टिप्पणी :—भयेउ और भयौ तथा जाइँ और जाहिँ में पुनरुक्ति दोष बचाने के लिए रूपान्तर कर दिया है।

† "नाम मंथरा मंद मति, चेरी केकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥" (रा० च० मा०, अ० का० १३)

(१०) हेतु=कारण। परवेस=(प्रवेश) पैठ। भरमायो=सन्देह में डाल दिया। हित भरमायो तेहिं सबै=सबकी शुभाकांक्षा को अथवा सारी भलाई को सन्देह में डाल दिया। प्रिया=प्यारी। अली=सखी।

चित्रों का विवरण और विश्लेषण—

१ कविता कुटुम्ब पर विपत्ति—

कविता कुटुम्ब

व्यङ्ग	अक्षर मैत्री	अर्थ	अलंकार	सरसता
(राजसी वेश में एक पुरुष)	(चिन्ता विकल एक नारी)	(पंडितजी अर्थ समझाते हुए)	(राजसी वेश-भूषा में पुरुष)	(उदास मुद्रा में, सिर झुकाये युवती)
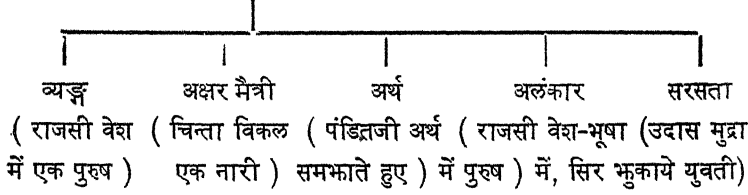
इन सबकी आँखें विपत्ति को देख रही हैं। सब उदास और भयभीत हैं। इस कुटुम्ब के बायीं ओर भयंकर मुद्रा में, पहलवान के वेश में एक गदाधारी पुरुष का चित्र है। चित्र के नीचे लिखा है—"अनेक उपाधिधारी समस्या पूरक कवि"—। और इस सम्पूर्ण चित्र के नीचे एक दोहा लिखा है—

हौं जो भयङ्कर गदा यह हस्त धारे।
ताको चलाय मुख चूर करौं तिहारे!

कविता के अनिवार्य तत्त्व व्यङ्ग, अक्षर-मैत्री, अर्थ, अलंकार और सरसता हैं। समस्यापूर्ति में इन तत्त्वों की उपेक्षा होती है। साथ ही उस युग में समस्यापूर्ति का अत्यधिक प्रचार था। कविता की उपेक्षा और समस्या-पूर्ति का प्रचलन था। "समस्या-पूर्तियों की कई पत्रिकाएँ निकल पड़ी थीं, जिनमें एक 'रसिक-वाटिका' के सिवा, जो राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के तत्त्वावधान में कानपुर से निकलती थी, सभी निकम्मी पूर्त्तियों से भरी जाती थीं।' (द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ५२२) अनेक उपाधिधारी कवि महोदय भी काव्यसाधना न करके समस्या-पूर्ति में लीन थे। अतः आचार्य इस समस्यापूर्ति रूपी विपत्ति को कविता के पथ से हटाने का आदेश दे रहे हैं।

२ साहित्य सभा
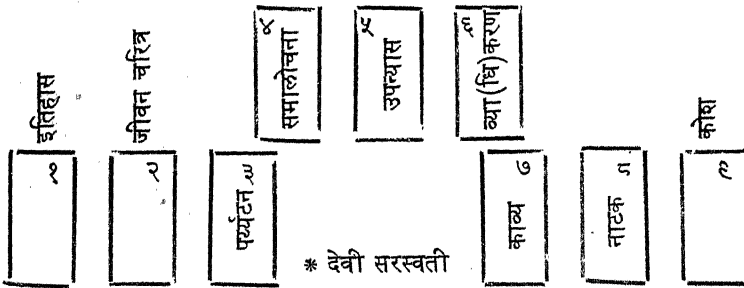
साहित्य-सभा जुटी है। जीवनचरित, इतिहास और कोश के स्थान रिक्त हैं।

मोहि भामिनी दुख भयो, समुझि एक उतपात।
सब पुर को नीको लगै, तुम्है भरत को घात॥
तुम्है भरत को घात बात नृपरानि बिचारी।
काल्ह राम नृप होइँ भई सोभा पुर भारी॥
भारी बिपति बिचारि कै, हृदय मोर दुख जरत यौ।
भरत बिदेस नरेस पर, मोहिं भामिनी दुख भयौ॥१३॥

बिपति बीज अंकुर भयौ, बयौ कौसिला रानि।
पावस नृप उर देखि सुभ, आयसु सुन्दर पानि॥
आयसु सुन्दर पानि अवधि थल सुत बल पाई।
गुर पुरजन भे बारि तुम्हैं नित कीन उपाई॥
कीन उपाइ सहाइ सब, भरत तेज तप सो गयौ।
चारि दिवस गत देखियौ, बिपति बीज अंकुर भयौ॥१४॥

---

(१३) उतपात = ऊधम। तुम्है भरत को घात = तुम्हारे और भरत के साथ चाल खेली गई है। नृपरानि = कौशल्या। यौ = यह। नरेस पर = राजा दूसरे के हाथ में हो गये हैं।

(१४) तुम्हैं नित = तुम्हारे लिए। कौशल्या ने विपत्ति का बीज बोया है, चार दिन बाद देख लेना उसमें अङ्कुर भी निकल आवेगा। शुभ वर्षाऋतु देखकर राजा ने हृदय से पानी बरसने की (राजतिलक के साज सजाने की) आज्ञा दे दी है। अयोध्या जैसे स्थान में अपने पुत्र (रामचन्द्र) का बल पाकर और गुरु तथा अयोध्यावासियों की सहायता से (ये लोग विपत्तिरूपी बीज को नित्य सींचते हैं।) तुम्हें कष्ट देने का उपाय किया गया है। इस कार्य में सबने भरसक सहायता की है और भरत का तेज और तप क्षीण हो गया है।

भी दरबारी है, जनता से दूर अथवा गुण्डेपन का प्रतिबिम्ब ! साहित्य को जन-साधारण से दूर रख कर उसका महत्व ही क्या ? नाटक—भारतेन्दु काल में जिस विधा ने अपना विशेष स्थान बना लिया था, १९०३ में आते आते वह भी मरणा-सन्न कंकाल-सा बन गया । न उसमें सौन्दर्य है, न जीवन ! ऐसे अस्वस्थ, व्याधि-ग्रस्त, अप्राकृत साहित्य को देख सरस्वती यदि रोती है तो स्वाभाविक ही है ।

यह चित्र वास्तव में बहुत महत्व पूर्ण है । साहित्य के स्वरूप को मूर्त रूप में सम्पादक ने उपस्थित कर सहस्त्रों लेखकों और साहित्य निर्माताओं को स्वस्थ, सुरुचि-पूर्ण, व्याधिमुक्त, शुद्ध साहित्य रचना की प्रेरणा दी है ।

३—नायिका-भेद के कवि और उनके पुरस्कर्त्ता—

राजा और कवि सब अंधे हैं । राजा नेता है, कवि उसके अनुकरणकर्त्ता हैं । सामने कुआं है—अंधों की पंक्ति उसी ओर बढ़ रही है । स्पष्ट संकेत है कि पुरस्-कर्ता राजा और कवि सब कुएं में गिरेंगे । 'नायिका भेद' के नशे ने उन्हें व्यर्थ और अन्धा बना दिया है । वे चतुर्दिक वातावरण से तो अनभिज्ञ हैं ही, पर अपने भावी भाग्य से भी भिज्ञ नहीं । अत: ऐसे 'नायिका-भेद' के काव्य और उसपर पुरस्कार देनेवाले, कवियों को डुबाने वाले राजा को, छोड़ने का स्पष्ट संकेत है । चित्र के नीचे लिखा है—महाराजा नायिकेश्वर प्रसाद सिंह वर्म्मा "आइए कवीश्वरजी चले आइए ! पुरस्कार मिलने में अब देर नहीं !!"

४—कलासर्वज्ञ सम्पादक—

ऊँचे मंच पर मोटा और नाटा व्यक्ति (सम्पादक) दायें हाथ में झंडा लेकर खड़ा है और बायें हाथ से मानों लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहा है । झंडे पर लिखा है :—"हमारे यंत्रालय की ऐसी अद्‌भुत पुस्तकें त्रिलोक में नहीं !

"हमारे यहां की छड़ियां वज्र से भी नहीं टूटतीं !!
हमारी दवाइयों से मुर्दे भी जी उठते हैं !!!

सम्पादक का कर्तव्य कितना कठोर है, उस पर ध्यान न देकर जो विविध विज्ञापनों के मत्थे अपनी बहुज्ञता घोषित करके सम्पादक बनते हैं, यह ऐसे ही तथाकथित सम्पादकों पर व्यंग है । सम्पादक गहन अध्ययन और विविध विषयों के अध्ययन से ही अपने पद को सुरक्षित रख सकता है; न कि विज्ञापन के द्वारा ! सम्पादक का दायित्व झंडा लेकर चिल्लाने से पूर्ण नहीं हो सकता ।

५—भाषा का सत्कार—

एक वृक्ष के नीचे मातृभाषा (नारी रूप में) खड़ी है । दूसरी ओर उसके सामने अंग्रेजी वेश भूषा में एक भारतीय पुरुष नारी-रूपा—अंग्रेजी भाषा का हाथ पकड़े हुए है । चित्र के नीचे लिखा है—

अंग्रेजी-भाषा—"डियर, डियर, देखो यह कौन आती है ?

श्रीयुत पंडित विद्या निधान पाण्डेय, यम० ए०, डी० यस० सी०, यल०,

मन प्रतीति रानी भई, लई सीख उर मानि।
जो कछु मन रघुपति चहैं, सोई सत्य उर आनि॥
सोई सत्य उर आनि कोप कै भवन सिधाई।
दुर्गति करि तन दसा मनहु जमपुर ते आई॥
दसा मनहु नृप मरन की धरनि कुलक्षन की मई।
देवि कुरीति सुप्रीति सिख मन प्रीति रानी भई॥१७॥

* का न करै यह कर्म बल, केहि जग जम नहिं लीन।
पवन मझायौ काहि नहिं, को दुख दुखी न दीन॥
को दुख दुखी न दीन मोह मद केहि नहिं बाँध्यौ।
ब्रह्मा सुर नहिं जर्यौ कामसर काहि न साध्यौ॥
काहि न साध्यौ क्रोध दल केहि न छल्यौ तरुनी तरल।
चित चिंता व्यालिनि जथा का न करै यह कर्म बल॥१८॥

---

(१७) दुर्गति = बुरी दशा। धरनि कुलच्छन की मई = पृथ्वी अपशकुनों से भर गई।

"सुनत नगर आनंद बधावन, कैकेयी बिलखानी।
तुलसीदास देव माया बस कठिन कुटिलता ठानी॥"
(गीतावली, अयोध्याकाण्ड, १)

* "कर्म प्रधान विश्व रचि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥" (रा० च० मा०)

को न क्रोध निरदहेउ काम वश केहि नहिँ कीन्हों।
को जु मोह दृढ़ फन्द बाँध त्रासन करि दीन्हों॥
केहि के हिय नहिँ लाग कठिन अति नारि-नयन-शर।
लोचन जुत नहिँ अन्ध भयो श्री पाय कवन नर॥
सुर नाक लोक महिमण्डलहु को जु मोह कीन्हों जय न।
कह तुलसिदास सो उबर जेहि राख राम राजिवनयन॥ (कवितावली)
श्रीमद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता वधिर न काहि।
मृगनयनी के नयन-सर, को अस लाग न जाहि॥ (रा० च० मा०)

(१८) मझायौ = पार किया। साध्यौ = साधत किया। तरल = द्रव, चंचल। व्यालिनि = नागिन।

उस काल में पाठ्य पुस्तकों की जो दुर्दशा हो रही थी, हिन्दी के अध्येताओं से अपरिचित नहीं है। जहाँ ऐसे ग्रन्थकर्ता होंगे वहां हिन्दी का अपकार ही हो सकता है। हिन्दी के हित की चिन्ता द्विवेदी जी को हर क्षेत्र में रहती थी। पाठ्य-पुस्तकें भी उनकी दृष्टि से बच नहीं पाईं। हिन्दी पर कहीं भी अत्याचार हो, आचार्य जी के लिए असहनीय था।

९—चातकी की चरम लीला—

काशी, गंगातट। एक ऊँचे स्थान पर एक 'राजपूत' खड़ा है, वहीं से एक नारी (चातकी) नीचे, गंगा के अथाह जल में दोनों हाथ ऊपर उठाये कूद रही है, घाट पर एक ओर एक भक्त, दूसरी ओर एक भक्तिन ध्यान मग्न है। जलधारा में एक मल्लाह नाव चलाते हुए रुक कर चातकी को देख रहा है और नाव में एक राज-पुरुष बैठा है।

यह चित्र द्विवेदीजी के अन्य सभी चित्रों की अपेक्षा अधिक सांकेतिक और गूढ़ार्थी है। निश्चय ही 'साहित्य-समाचार' की ही एक समस्या की यह अभिव्यक्ति है। 'चातकी' कविता की प्रतीक है। राजपूत—वीरगाथाकाल, भक्त-भक्तिन—भक्तिकाल और नौका बिहार—रीति काल की अभिव्यक्ति प्रतीत होते हैं। सन् १९०३ में इन तीनों युगों का अन्त काव्य-जगत से हो गया था। कविता अनाश्रिता-सी आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत है। कविता का युग बीत-सा गया था। उसका गंगा की जलधारा में लीन होने का प्रयास चरम-लीला का द्योतक है।

सन् १९०३ का अंतिम व्यंग-चित्र द्विवेदीजी द्वारा कल्पित नहीं है, वह बाबू काशी प्रसाद की सूझ है। चित्र का शीर्षक है। "उपन्यासकार और उसकी कृति" कृति चतुर्मुखी है। चित्र के नीचे संवाद लिखा है—

उपन्यासकार—बेटी, तुम्हें कौन अधिक चाहते हैं ?

चांदी की नली से फूंकती हुई कृति—(चौथे मुख से)—आँख के अंधे और गांठ के पूरे।" यह चित्र भी मानों संकेत कर रहा है कि शिक्षित वर्ग को बौद्धिक तृप्ति के लिए जिन विविध विधाओं की आवश्यकता है, उनका विकास होना चाहिए।

१९०२-०३ में सरस्वती ने इन व्यंग-चित्रों के द्वारा काव्य की विपत्ति को बताया, सम्पादक, समालोचक, उपन्यासकार के कर्तव्य को समझाया, साहित्य की कौन सी शैलियाँ और साहित्य के कौन से विषय अछूते पड़े हैं उस ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। जन-साधारण के सामने स्थूल-रूप में साहित्य की स्थिति बताकर उनको प्रबुद्ध किया। इन चित्रों ने निश्चय ही अपने युग में एक ऐसी पृष्ठ-भूमि बना दी थी कि इसके बाद साहित्य का विकास, समृद्ध, स्वस्थ-रूप संभव हो सका। पाठक और लेखक दोनों ही स्वस्थ-साहित्य की कामना करने लगे। बहुत कम समय में द्विवेदीजी ने इस पृष्ठभूमि को तैयार कर दिया, इसके बाद इन व्यंग-चित्रों की आवश्यकता नहीं रही और १९०४ से ये व्यंग-चित्र अनावश्यक से

देखि जाय रानी विकल, भूमि सैन तन दीन।
पट पुरान सूखे अधर, नैन अरुन रँग पीन॥
नैन अरुन रँग पीन मनहु दुरदसा अनैसी।
बिपति नारि के रूप कुमति जस प्रगटति तैसी॥
प्रगटति वचन न वदन महँ, कुमति साज धरि छल कुथल।
भूप सभय पैठे भवन, देखि जाय रानी विकल॥२१॥

क्रोध कौन कारन कियौ, गजगामिनि वर• नारि।
जोइ माँगसि सोइ देउँ तोहिं, कामादिक फल चारि॥
कामादिक फल चारि तोहिं परतीति सदाई।
तेरे सुख के हेत तिलक की घरी सुधाई॥
घरी सुधाई तिलक की, अवधि लोग सुनि सुनि जियौ।
* करि प्रबोध नृप पानि गहि, क्रोध कौन कारन कियौ॥२२॥

---

(२१) पीन=रोते रोते नेत्र सूज उठे थे। अनैसी=खराब (असाधारण)। कुमति=दुर्बुद्धि। प्रगटति वचन न वदन महँ=मुख से कुछ नहीं कहती। कुथल=शोकभवन। पैठे=प्रविष्ट हुए, घुसे।

* "पुनि कह राउ सुहृद जिअ जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी॥" (रा० च० मा०)

(२२) गजगामिनि=हाथी की सी मंथर गति से चलनेवाली। कामादिक=अर्थ, धर्म, काम, (धाम) मोक्ष। परतीति=विश्वास। करि प्रबोध=समझाकर। पानि=हाथ।

श्री शिवनारायण खन्ना

द्विवेदी जी का हास्य और व्यंग्य

हास्य और व्यंग्य जीवन का आवश्यक अंग है। जीवन को स्वस्थ बनाने में शिष्ट हास्य तथा व्यंग्य का महत्व कम नहीं। हास्य मानव जाति का विशेषाधिकार है। विनोद शीलता एक सामाजिक गुण है। वस्तुत: अनीति को खोज निकालने और उसे इंगित करने का कार्य विनोद की सहायता से बड़ी खूबी से हो जाता है। डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी के मत से समाज के मैल के लिए हास्य साबुन का कार्य करता है।

हास्य या व्यंग्य की उत्पत्ति के कारण विकृति, विपरीतता, व्यंग्य दर्शन और असम्बद्ध प्रलाप आदि हैं। जीवन में आनन्द प्राप्ति के लिए हँसना आवश्यक बताया गया है।

गुलामी और दमन के युग में व्यंग्य हृदय का भाव प्रकट करने का सबसे अच्छा साधन है। व्यंग्य से लाठी टूटे बिना ही साँप मर जाता है। मानव, धर्म, समाज और साहित्य, सभी शिष्ट व्यंग्य के माध्यम से सुधारे जा सकते हैं। व्यंग्य रूपी कोड़ा मनुष्य रूपी घोड़े को सही मार्ग से बहकने नहीं देता।

द्विवेदी जी साहित्य तथा समाज की विकृतियों को व्यंग्य के सहारे हँसने-हँसाने योग्य बनाकर सामने लाये; और इंगित किया सही मार्ग। व्यंग्य साहित्य के साथ साथ द्विवेदी जी द्वारा कल्पित व्यंग्य चित्रों ने भी यही कार्य किया है। नि:सन्देह हम कह सकते हैं द्विवेदी जी ने व्यंग्य के कोड़े से हिन्दी साहित्य की विकृतियाँ दूर करने का प्रयास किया है और वे उसमें काफी सीमा तक सफल भी हुए हैं।

द्विवेदी जी की कविता में सर्वप्रथम व्यंग्य के दर्शन 'गर्दभ काव्य' में होते हैं। यह कविता २९ अगस्त, १८९८ के हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित हुई थी। कविता में गधा अपने गुणों का बखान करता है। अपनी भोज्य सामग्री के सम्बन्ध में वह कहता है—

हरी घास खुरखरी लगे अति, भूसा लगे करारा है,
दाना, भूलि पेट यदि पहुँचे, काटे अस जस आरा है।

सुनि भूपति हिय अति दल्यो, बज्र हृदय जनु लाग।
मुख सुखान लोचन सजल, प्रान विकल भय भाग॥
प्रान विकल भय भाग मूँदि राखे दोउ लोचन।
सोक दाह उर दहत कहत कछु बनत न सोचन॥
बनत न सोचन मुख वचन, मनहु प्रेत कर्मनि छल्यौ।
धुनत सीस व्याकुल सिथिल, सुनि भूपति उर अति दल्यौ॥२५॥

भये विकल नृप सुनि कहा, वचन लगे जिमि बान।
सत्यसन्धिता प्रन किये, कहेउ देन वरदान॥
कहेउ देन वरदान वचन किन कहौ सम्हारे।
* कौसिल्या सुत सुवन भरत नहिं सुवन तुम्हारे॥
भरत सुवन पठये कुथल, राम तिलक आनँद महा।
साधेउ छल तस फल लहौ, भये विकल नृप सुनि कहा॥२६॥

---

(२५) दल्यो = मसल गया, टूटकर कुम्हला गया। प्रान विकल भय भाग = पञ्च प्राण अकुलाकर भय से भागने को तत्पर हो गये। मूँदि राखे = बन्द कर रक्खे। दाह = ज्वाला। दहत = जलाती है। सोचन = चिन्ता के कारण। बनत न सोचन = विचार नहीं करते बनता।

* "भरत कि राउर पूत न होही।"

(२६) सत्यसंधिता = बात को सच्ची निभाने की शक्ति। कौसिल्या सुत सुवन = क्या राम ही तुम्हारे पुत्र हैं, भरत नहीं हैं? कुथल = केकय देश (मामा का घर)। साधेउ छल = तुमने जान-बूझकर कपट किया।

'प्लेग माहात्म्य' दिन दूनी रात चौगुनी गति से बढ़ रहा था। द्विवेदीजी ने १६ मार्च १६०० के भारत-मित्र में प्लेगराज की स्तुति की है। व्यंग्यात्मक उक्तियों से पूर्ण स्तुति निःसन्देह पठनीय है। लेखक ने प्लेगराज को बोखार के खालू, बद के दादा, सन्निपात के प्रपितामह, महामारी के मामा, विसर्प के बाबा, सिफारशी टट्टू, काल भैरव, गिलटी रोग के गवर्नर तथा रसिकों के शाहंशाह की उपाधियों से विभूषित किया है।

एक उदाहरण देखिये :

'—आप अजीब सिफारशी टट्टू हैं !—परन्तु यह रिश्वत सच्चे दिल से न देने से, आप देने वाले को अलीपुर, नैनी इत्यादि में बने हुये बिना भाड़े के बड़े-बड़े घरों की हवा खिलाते हैं। लोग कहते हैं मक्खी और बाल हजम करने वालों को ही रिश्वत हजम होती है, फिर, आप भला क्यों न हज़म कर सकें? आपने तो अनगिनत जीव और बालों से खचाखच भरे हुए अनगिनत मूंड़ खाये हैं। हे सर्व भक्षक ! मनुष्यों की अन्धी खोपड़ी आपका स्तोत्र गाने में असमर्थ है।'

उपर्युक्त पंक्तियों में रिश्वत देने-लेने वालों पर किस खूबी से विचार व्यक्त किए गये हैं। व्यंग्य स्तुति करने में द्विवेदीजी कोई कसर नहीं उठा रखते। निम्न पंक्तियाँ देखिए—

'हे प्लेग राज ! आप रसिकों के शाहंशाह हैं ! महामारी का अस्पताल आपकी राजधानी है। पुलिस और पलटन के गोरे आपके पताकाधारी नक़ीब हैं। डाक्टर आपके पार्षद हैं। सेग्रीगेशन कैम्प आपका क्रीड़ाकानन है। वहीं आप और आपके आश्रित लोग नाना प्रकार की क्रीड़ायें किया करते हैं।'

अस्पताल, पुलिस, पलटन, डाक्टर आदि सभी को प्लेग अपना सहायक और सहयोगी बनाने में सफल होता है।

१६ अक्टूबर १६०० के श्री बेंकटेश्वर समाचार में प्रकाशित 'वलीवर्द' व्यंग्यात्मक कविता है। कवि ने वृषराज की नवीन कथा इस प्रकार कही है :—

> जुतौ तुम्हीं हल में, गाड़ी में, चरसे तुम्हीं चलाते हो;
> बनजारौं के गौन हजारौं तुम्हीं पीठ पर लाते हौ।
> तिसपर, कभी कभी कौड़ी के तीन तीन बिक जाते हौ।
> बधिक बेध में पड़ जीते ही अपनी खाल खिंचाते हौ॥

बैल से लिये जाने वाले कार्य, उसके परिश्रम को देखते हुए उसका मूल्य कितना और किस प्रकार आंका जाता है; यही दशा सीधे परिश्रमी व्यक्ति की होती है। बाल्यावस्था या यौवनावस्था ही नहीं बुढ़ापा आने पर भी उसे आराम नहीं—

> बूढ़े हो जाने पर भी तुम कभी विरक्त न होते हौ,
> किसी न किसी काम में, सब दिन, जब देखो तब जाते हो !

तुमने साहब लोगों को भी, इस सद्गुण में मात किया;
इसीलिए, सबने, घर घर में, सादर तुमको वास दिया ॥

साहब लोग बेगार लेने में उस समय भी प्रख्यात थे। शरीर न चलने पर भी कार्य में निरत रहना पड़ता है, मार खानी पड़ती है :—

छिले हुए कन्धे से भी तुम छकड़े नित्य चलाते हौ,
बहुत कष्ट पाने पर मग में, गिरते हो, उठ जाते हौ ॥

ऐसे व्यक्ति ही भारत के अन्नदाता हैं,

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज ! महाराज।
बिना तुम्हारे हो जाते हम दानादाना को मुहताज।
तुम्हें खण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयी - सिरताज,
धिक उनको, उनपर हंसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज ॥

द्विवेदीजी द्वारा रचित शेख सादी की उक्ति देखिए :—

एक कामरी में रहैं दस साधू सुख पाय।
द्वै नरेस इक देश में पै नहिं सकत समाय ॥

मांसाहारियों पर 'मांसाहारी को हंटर' में व्यंग्य किया है। यह रचना १९०० की है :—

जो तू अरे ! कहत कम्पित होत गात;
लीले महा मलिन मांस मिलाय भात।
जानै नहीं निज हिताहित-युक्त बात;
है हानि जाहि मंह तोहि सुई सुहात ॥

द्विवेदीजी की संस्कृत रचनाओं में भी व्यंग्य के दर्शन होते हैं। 'कान्यकुब्ज लीलामृतम्' में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों, 'समाचार पत्र सम्पादक स्तवः' में सम्पादकों पर व्यंग्य और 'काककूजितम्' में काक के गुणों का व्यंग्यात्मक बखान है।

'विधि विडम्बना' में चतुरानन की चतुरता पर सन्देह प्रकट किया गया है। कवि व्यंग्य से कहता है :—

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े-बड़े उग आते हैं ?
घोर घमण्डी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक ?
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निशंक ॥
(सरस्वती-१९०१)

'ग्रंथकार लक्षण' में ग्रंथकारों के लक्षण गिनाए गए हैं। यह रचना अगस्त, १९०१ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। अनेक लक्षणों में से एक लक्षण है :—

भला बुरा छपवाये सिद्ध ;
धन न सही ; नाम ही प्रसिद्ध ;
नाटक, उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं ।
जिनके नाच-कूद का सार,
बंगला भाषा का भण्डार,
वे ही महा-महिम-विद्वज्जन ग्रंथकार कहलाते हैं ॥

अर्थात् ग्रंथकार के लिये येन-केन-प्रकारेण लिखना ही सिद्ध है । ऐसे ग्रन्थकार को बातें बनाना भी खूब आना चाहिए—

जिनकी जिह्वा की खर धार,
देख, चमत्कृत छुरे हजार;
किन्तु लेखनी जिनके करमें धार-हीन हो जाती है ।
लेखन-कला-कुशलता-हीन,
बातों में जो बड़े प्रवीण,
ग्रंथकार पदवी उनको ही बिनामोल मिल जाती है ।

ग्रन्थकार अँग्रेजी न आने पर भी अंग्रेजी उद्धृत करते हैं, संस्कृत न आने पर भी शास्त्र विवेचन करते हैं । यह हैं आज के ग्रंथकार ! ग्रंथकार पद के योग्य वे ही व्यक्ति समझे जाते हैं, जो अपने ग्रंथ की समीक्षा स्वयं लिखते ही नहीं वरन् छपाने का भी प्रबन्ध करते हैं—

अपनी पुस्तक की सानन्द,
स्वयं समीक्षा लिख स्वछन्द,
अन्य नाम से अख़बारों में जा शत बार छपाते हैं ।
निज मुख से जो गुण-विस्तार—
करते सदा पुकार-पुकार,
ग्रंथकार-पद-योग्य सर्वथा वे ही समझे जाते हैं ॥।

इतना ही नहीं, अपनी पुस्तक की समालोचना लिखवाने के लिए समालोचक के घर-धरना देने में भी नहीं चूकते ।

पराधीनता पर भी द्विवेदीजी ने व्यंग्य किया है । कठोर बात सुनकर कुत्ता तक भाग जाता है ; पर मनुष्य:

कोई कठोर यदि बात उसे कहे है;
कुत्ता कभी न फिर पास खड़ा रहे है ।
दुर्वाक्य-बाण सह जो न करैं विचार,
धिक्कार क्यों न उनको दशलाख बार ॥

द्विवेदीजी ने कविता का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन और प्रमोद-दान माना है । द्विवेदीजी ने ये विचार 'महिषशतक की समीक्षा' 'सरस्वती' १९०१ में प्रकट किये हैं :—

* नृप उठाय बोले वचन, नृपति लीन्ह उर लाइ।
नैन नीर-धारा धसै, वचन बोलि नहिं जाइ॥
वचन बोलि नहिं जाइ राम पूछी महतारी।
कहति कठोर कुबैन कथा करनी कटु भारी॥
कटु भारी सो हेतु सुनि तन प्रसन्न कह मृदु वचन।
लघु उपदेसत दुख महा, नृप उठाय बोलत वचन॥३३॥

राउर चरन प्रताप ते, वन मुद मंगल मोहि।
† मुनि तीरथ देवन दरस मोर परम हित होहि॥
मोर परम हित होइ जात दिन विलम न लागै।
आतुर अइहौं अवधि धरन पुनि चरन सभागै॥
‡ धरन चरन पुनि आइहौं, आयसु देइय आप ते।
कुसलषेम घर आइहौं, राउर चरन प्रताप ते॥३४॥

---

* "लिये सनेह विकल उर लाई। गै मनि मनहु फनिक फिरि पाई॥
....
सोक बिबस कछु कहै न पारा। हृदय लगावत बारहि बारा॥"
(रा० च० मा०)

(३३) उर लाइ = हृदय से लगा लिया। धसै = गिर रही है। हेतु = कारण। 'धारा धसै' में छेकानुप्रास है।

† "मुनिगन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर॥"
(रा० च० मा०, अ० का० ४२)

‡ "आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहौं बेगिहि होइ रजाई॥"

(३४) मुद (मोद) = आनन्द। विलम = देर।

कविता, कुटुम्ब पर विपत्ति, काशी का साहित्य वृक्ष, चातकी की चरम लीला, नायिका भेद के कवि और उनके पुरस्कर्ता राजा, मदरसों में प्रचलित हिन्दी और उनके ग्रन्थकर्ता, मातृभाषा का सत्कार, शूरवीर समालोचक, और साहित्य सभा व्यंग्य-चित्र द्विवेदीजी की प्रेरणा से ही बनाये गये थे। व्यंग्य चित्रों में कमियों तथा दोषों को बड़े कलात्मक ढंग से स्पष्ट कर सही मार्ग दिखलाया गया है।

तत्कालीन विद्वानों तथा पाठकों ने इन व्यंग्यचित्रों का बड़ा विरोध किया, द्विवेदीजी को इस विरोध के आगे झुकना पड़ा। उन्होंने व्यंग्य चित्र बन्द कर दिये। अन्यथा आज उनका बहुत अधिक महत्व होता।

'सरगो नरक ठिकाना नाहिं' आल्हे की तर्ज पर लिखी गई है। गाँव से नये-नये शहर आने के बहाने पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करने वालों पर व्यंग्य है—

अचकन पहिरि बूटु हम डाटा बाबू बनेन डरात डरात,
लागै न आवै जाय सभन मां, कण्ठु फूट, तब बना बलात।

और गाँव का रक्त रहने तक—

जब तक हमरे तन मां तनिको रहा गांव के रस का अंसु,
तब तक हम अखबार लिखि लिखि कीन उजागर बंसु॥

पर गांव का खून समाप्त होने पर—

जहां गांउं का खुनु खतम भा तहां फूटिगै भागि हमारि,
अविकल सासु छाड़िगै हमका दुर्गति केहितेक हन पुकारि।
कुंभी पाक नरक बसि लाखन जा जरूर जहं परे गंधाय,
गटरन के मुंई पेलि परी है मनई चलत फिरत धंसि जाय॥

मार्च १९०६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'जम्बुकी न्याय' के माध्यम से पक्षियों ने घोंसला पाने के लिए अपनी राम कहानी कही है। इस कहानी में व्यंग्य का पुट है तथा पक्षी प्रतीक रूप में आए हैं।

'शहर और गांव' में गांव शहर में कहता है—

तुम झूठे इलजाम लगाकर।
ले जाते हो फंसा-फंसा कर॥
जेवर जरी वगैरह चीजें।
तुम्हें मुबारिक रहे तमीजें॥

डाक्टर की डिग्री कितनी सस्ती है व्यंग्य प्रधान लेख 'मैं कैसे डाक्टर हो गया' में है। यह लेख १९०५ की 'सरस्वती' (पृ० १०५) में प्रकाशित हुआ था।

कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का एक कनौजिया सम्मेलन १९०५ की होली पर हुआ था। सम्मेलन में द्विवेदीजी ने मजाक के साथ-साथ ठहरौनी की निन्दा की थी—

जरा देर के लिए समझिए आप षोड़शी क्वांरी हैं,
क्षमा कीजिए असभ्यता यह, हम ग्रामीण अनारी हैं।

मान लीजिए, नेत्र आपके कानों तक बढ़ आये हैं,
पीन पयोधर देख आपके कुंजर कुंभ लजाये हैं ॥

सम्मेलन के श्रोताओं और दर्शकों को षोड़शी क्वांरी कहकर मजाक का प्रारम्भ किया है। सौन्दर्य वर्णन में नेत्र कानों तक बढ़े हुए और पयोधर कुँजर कुँभ को भी लजाने वाले होने पर 'वह कहिए इस समय आप पर कैसी बीतेगी भाई। ठहरौनी की निंद्य रीति यह होगी कितनी दुखदाई।'

उपर्युक्त पंक्तियों में कितना गहरा व्यंग्य है।

कान्यकुब्ज परिवार में जन्म लेने वाली कन्याओं की शिक्षा के सम्बन्ध में 'कान्यकुब्ज अबला विलाप' की निम्न पंक्तियां देखिए :—

कूड़ा, करकट, बर्तन, चौका, गोबर सदा उठाती हैं,
शिक्षा और कला कौशल में इतना ही सिखपाती हैं।
जो विद्या पुरुषों को सुखकर सुधा-सदृश मंगलकारी,
वही हमारे लिए विषम विष, विमल बुद्धि की बलिहारी ॥

'टेसू की टांग' (अक्टूबर, १९०६) बालोपयोगी व्यंग्य प्रधान रचना है—

ए० बी० सी० डी० ई० एफ० सीख,
अंगरेजी में भारी चीख।
देख संसकीरत का ख्वाब,
उसमें भी कुछ दिया जवाब ॥

द्विवेदीजी ने अपने निबन्धों में भी आवश्यकतानुसार व्यंग्यात्मक शैली का उपयोग किया है। निम्नलिखित पंक्तियों में कितना चुटीला व्यंग्य है—

"सात समुद्र पार कर इंग्लैंड वाले यहां आते हैं, और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहां की भाषायें सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हमलोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञानी बनते हैं। खुद कुछ नहीं करते। सिर्फ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। घर में घोर अन्धकार है, उसे तो दूर नहीं करते; विदेश में, जहां गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं।"

उपर्युक्त पंक्तियों में तीखी, चुटीली आलोचना के साथ-साथ मार्मिक व्यंग्य भी है। इसी मार्मिक चुटीलेपन के कारण कुछ लोग उन्हें उग्र स्वभाव का भी कहने लगे थे। वस्तुतः वे उग्र न होकर दूसरों को सभ्यता या कर्त्तव्य से विमुख होते देख बिना टोके अपने को रोक न पाते थे।

साहित्यिक क्षेत्र के अतिरिक्त द्विवेदीजी की शैली में व्यंग्य के साथ-साथ हास्य और विनोद का भी समावेश है। इस शैली से विनोद और मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही किसी को दुख भी नहीं पहुँचता। यह शैली शिष्ट हास्य के अन्तर्गत आती है; और इसमें रहता है मसखरेपन का पुट। उदाहरण स्वरूप:—

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयर मैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसी मैन भी कहने लगे हैं।) श्रीमान् बूचाशाह हैं। बापदादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयर मैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जांय और खुशामदियों से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से।"

'सरस्वती' सम्पादन काल में द्विवेदीजी को हास्य साहित्य की कमी खटकती रहती थी। उन्होंने इस सम्बन्ध में 'सरस्वती' में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए थे:—

"प्रहसनों और हंसी-मजाक के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता और इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों पर शासन भी कर सकता है। हिन्दी साहित्य के इस अंश की बहुत कमी है।"

निःसंदेह द्विवेदीजी का व्यंग्य सांप मरे और लाठी भी न टूटे के उद्देश्य को लेकर चला है। व्यंग का प्रयोग वे तभी करते थे जब वे देखते थे कि कोई अपनी योग्यता का अनुचित लाभ उठा रहा है या छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने अन्य विद्वानों के मत तथा उनकी टिप्पणियां उद्धृत कीं। परिणामस्वरूप उनके लेख हल्के न होकर गम्भीर प्रतीत होते हैं।

मनोरंजन साहित्य के सम्बन्ध में उनका मत है:—"मनोरंजन-मात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य से भी चरित्र-गठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। आलस्य, अनुयोग या विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है।"

उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट है कि वे स्वस्थ मनोरंजक साहित्य को ही श्रेष्ठ मानते थे। संयुक्त प्रान्त के अंग्रेजी-दां लोगों के सम्बन्ध में उन्होंने 'सरस्वती' में लिखा:—"जीती रहे उनकी अंग्रेजी। उनके कुटुम्बियों के सारे काम उसी से निकल जायेंगे।" इन पंक्तियों में व्यंग्य के अतिरिक्त खीझ भी है।

बंग-कवि-कुल-कोकिल बाबू नवीन चन्द्र सेन के परिचय लेख के अन्त में उन्होंने परमपिता परमेश्वर से अनुरोध किया है:—"ईश्वर से प्रार्थना है कि एक आध ऐसा महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रान्तों में भी पैदा करे, जहां की मुख्य भाषा हमारी हीना और क्षीण कलेवरा हिन्दी है।" उपर्युक्त परिचय लेख १६०६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था।

लखनऊ में उर्दू शार्टहैंड प्रारम्भ होने पर आपने तुरंत 'सरस्वती' में लिखा:—"उर्दू का शार्टहैंड चल निकला। पर बेचारी नागरी के शार्टहैंड का कोई पुरसां नहीं।"

द्विवेदीजी द्वारा लिखे गये पत्रों में भी व्यंग्य का पुट मिलता है।

१९०७ मार्च में लिखे एक पत्र की प्रारम्भिक पंक्तियां हैं—"क्षमा कीजियेगा, मैं आप को हिन्दी में ही पत्र लिखता हूँ। जब आप इतनी अच्छी हिन्दी जानते हैं तो हम क्यों टूटी-फूटी अंग्रेजी लिखकर उसे खराब करें। ....हमारे देश बन्धु अंग्रेजी ऐसी क्लिष्ट भाषा को लिखकर उसके साहित्य सागर को तो गंदला करते ही हैं, पर अपनी मातृ-भाषा लिखने की भी चेष्टा नहीं करते। यह दुर्भाग्य की बात है। ......"

उपर्युक्त व्यंग्य उक्ति में हिन्दी की हिमायत जोरों से की गई है। द्विवेदीजी ने समय-समय पर लिखे अपने अनेक पत्रों में व्यंग्य की चुटकियां ली हैं।

स्वभाव दृढ़ तथा गम्भीर होने पर भी द्विवेदी जी दैनिक जीवन में सरल और विनोदी थे। बड़े से बड़े विरोध को भी वे मुस्कराहट से धो देते थे। नागरी प्रचारणी सभा, के कार्यों की आलोचना करने पर एक बार पंडित केदारनाथ पाठक उनके पास पहुँचे। पाठक जी ने उनसे पूछा कि क्या विषस्य विषमौषधम् की नीति का अवलम्बन करना होगा।

द्विवेदीजी ने मुस्कराहट से उनका स्वागत करते हुए कहा—देवता! ठहर जाओ, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ। यह कहकर वे भीतर गये और एक तस्तरी में मिठाई, एक लोटा जल और एक तन्दुरुस्त लाठी लेते आये। वे बोले—सुदूर प्रवास से थके मांदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुंह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ। तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है।

द्विवेदीजी के इस व्यंग्य की सरलता ने पाठक जी को पानी पानी कर दिया।

*

द्विवेदीजी ने कठोर परिश्रम करके हिन्दी गद्य शैली में एक निश्चित शैली का स्थापन किया और नवीन शैली की कविताओं का भी प्रचार किया।

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुनु गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एकरस अहई॥

दो०—नयन बिषय मो कहुँ भएउ सो समस्त सुख मूल।
सबुइ सुलभ[1] जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥३४१॥

सबहिं भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जनु जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं[2] कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहौं एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥
बार बार माँगौं कर जोरे। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥
सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरन कामु रामु परितोषे॥
करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने॥
बिनती बहुत[3] भरत सन कीन्ही[4]। मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही[4]॥

दो०—मिले लखन रिपुसूदनहि दीन्हि असीस महीस।
भए परसपर प्रेम बस फिरि फिरि नावहिं सीस॥३४२॥

बार बार करि बिनय बड़ाई। रघुपति चले संग सब भाई॥
जनक गहे कौसिक पद जाई। चरन रेनु सिर नयनन्हि लाई॥
सुनु मुनीस बर दरसन तोरें। अगमु न कछु प्रतीति मन मोरें॥
जो सुखु सुजसु लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं॥

-प्र० : सबुइ सुनभ। द्वि०, तृ०, च० : प्र० [(६) (६अ): सबइ लाभ]।
-प्र० : करहिं। द्वि०, तृ०, च० : प्र० [(६अ): करिहिं]।
-[प्र० : बहु]। द्वि० : बहुत। तृ० : द्वि०। च० : द्वि० [(६) (६अ): बहुरि]।
-प्र० : क्रमशः कीन्ही, दीन्ही। द्वि०, तृ० : प्र०। [च० : (६) (६अ) कीन्हा, दीन्हा; (८) कीन्हे, दीन्हे]।

थे। प्रवासी, बसन्त और माडर्न रिव्यू जैसे पत्र द्विवेदी जी के सामने आदर्श रूप में रहे होंगे। सरस्वती के स्तर को ऊँचा बनाने के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। सरस्वती के पहले जितनी पत्रिकाएँ निकलती थीं, उनका न तो बाह्य-रूप ही इतना सुन्दर होता था और न आन्तरिक ही। सरस्वती के रंग-बिरंगे सुन्दर चित्र से सजे हुए बढ़िया टाइटिल पेज और अन्दर की छपाई, कागज, चित्र आदि सभी ने लोगों को मुग्ध कर लिया। सरकारी रिपोर्टों का सारांश सरस्वती में उपस्थित करना और उन पर विचार पूर्ण टिप्पणी लिखना भी द्विवेदीजी की प्रमुख विशेषता रही। सच तो यह है कि राजनीति और विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य भी अधिकांश पाठकों को सरस्वती द्वारा ही पढ़ने को मिलता था। कवियों और लेखकों के निर्माण में भी सरस्वती का बड़ा हाथ रहा है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त, सनेही जी, स्वामी सत्यदेव, रायकृष्णदास आदि सब इसी पत्रिका के ऋणी हैं। स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी भी द्विवेदी जी को गुरुवत् मानते थे। द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में नियमित रूप से सरस्वती का अंक पाठकों के हाथ में पहुँच जाता था। अंग्रेजी मासिक पत्रों के सम्पादकों में बाबू रामानन्द चटर्जी जिस तरह विख्यात हुए, उसी प्रकार हिन्दी मासिक पत्रों के क्षेत्र में द्विवेदी जी प्रसिद्ध हुए। द्विवेदी जी द्वारा संशोधित लेखों की पाण्डुलिपि बनारस के भारत-कला भवन में आज भी सुरक्षित है।

सरस्वती के प्रभाव से और भी नये-नये पत्र हिन्दी में निकलने लगे। सन् १९०७ में प्रयाग से अभ्युदय का प्रकाशन हुआ जो राष्ट्रीय दृष्टि से एक महत्व-पूर्ण पत्र था। यह बीच में अर्द्ध साप्ताहिक तथा युद्धकाल में कुछ दिनों दैनिक रूप से भी निकला था। श्री जीवनशंकर याज्ञिक के सम्पादकत्व में अर्थशास्त्र सम्बन्धी 'स्वार्थ' (१९२२) नाम का एक मासिक पत्र बनारस से निकलने लगा था। सन् १९०९ में इलाहाबाद से 'कर्मयोगी' का प्रकाशन हुआ जो राष्ट्रीय दल का प्रमुख पत्र था। सन् १९१०-११ में 'कामधेनु' और 'गुरुकुल समाचार' का प्रकाशन हुआ। पं० कृष्णकान्त मालवीय ने 'मर्यादा' (१९२०) में राजनीति को यथेष्ट स्थान दिया। यह पत्रिका बहुत दिनों तक बड़े सुन्दर ढंग से निकली। उसमें पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि विद्वान बराबर लिखा करते थे। साहित्य के अन्यान्य विद्वानों ने भी इसे खूब अपनाया। 'कामधेनु' गोरक्षा सम्बन्धी पत्र था और 'गुरुकुल समाचार' सिकन्दराबाद गुरुकुल का प्रमुख पत्र था। सरस्वती की प्रतियोगिता में काशी से 'तरंगिणी' नामक पत्रिका भी निकली। इनके अतिरिक्त 'स्त्री दर्पण', 'गृह-लक्ष्मी' आदि स्त्रियोपयोगी पत्र भी निकले। ये दोनों पत्र भी यद्यपि बहुत दिनों तक नहीं चल सके तथापि नारी समस्या की ओर उन्होंने अन्य मासिक पत्रों का ध्यान अवश्य आकृष्ट किया। बहुत से पत्र आगे चलकर इस समस्या पर विचार-विमर्श के लिए अलग 'नारी-पृष्ठ' ही सुरक्षित रखने लगे।

त

तंग—सं० पु० [देश०] तंगी। बोरा। आ० ज्ञान।

तकत—क्रि० अ० [हिं०] ताकना। देखना। निहारना। अवलोकन करना। उ० कहि हरि दास जान ठाकुर बिहारी तकत न भोर पाट। ह०। सोचना। विचारना।

तकाय—क्रि० स० [हिं० तकना का प्रे०] दिखाना।

तकावत—दे० तकाय

तकि—दे० तकत

तकुला—सं० पु०[देश०] देखने योग्य। आ० परमपद।

तट—सं० पु० [सं०] क्षेत्र। खेत। तीर किनारा। कूल।

ततबीर—सं० स्त्री० [अ०] उपाय। युक्ति। तरकीब। यत्न। उ० कोउ गई जल पैठि तरूनो और ठाढी तीर। तिनहि लई बोलाई राधा करत सुख तदबीर।—सूर।

ततु—दे० तत्तु।

तत्त—दे० तत्तु।

तत्तपल्लौ—सं० पु० [सं० तत्व+पल्लव] पल्लव रूपी तत्व। प्राकृतिक तत्व।

तत्तु—सं० पु० [सं०] पंच महाभूत (पृथ्वी, तेज, जल, वायु और आकाश) सार वस्तु। सारांश। परमात्मा। ब्रह्म। वास्तविक स्थिति। यथार्थता। वास्तविकता। असलियत। जगत का मूल कारण।

तन—सं० पु० [सं० तनु] शरीर। देह। गात। जिस्म।

तनकी—वि० [सं० तनु = अल्प] छोटी। उ० यहाँ हुती मेरी तनिक मडैया को नृप आइ छरयौ।—सूर।

तपै—क्रि० अ० [सं० तपन्] तपना। तप्त होना। संतप्त होना। उ० निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपई अवाँ इव उर अधिकाई। तु०

तमारि—सं० स्त्री० [हिं०] तंवार। सिर में चक्कर आना। घुमड। आ० अज्ञान।

तमासा—सं० पु० [फ० तमाशा] वह दृश्य जिसके देखने से मनोरंजन प्राप्त हो। अद्भुत व्यापार। अनोखी बात।

तरंग—सं० स्त्री० [सं०] पानी की वह उछाल जो हवा लगने के कारण होती है। लहर। मौज। हिलोर।

तर—क्रि० वि० [सं० तले] तले। नीचे। उ० कौने विरिछ तर भीजत होइहैं रामलषन दूनौ भाई।—गीत

तरकस बंदा—सं० पु० [फा० तरकश बंदा] तरकस बाँधने वाला।

तरन—सं० पु० [सं० तरण] बेड़ा। निस्तार। उद्धार।

तरब—क्रि० स० [सं० तरण] पार

आने के बाद उसका सम्पादन प्रारम्भ में स्वयं गणेशशंकर विद्यार्थी और पं० कृष्ण-दत्त पालीवाल ने और फिर बहुत दिनों तक पं० बालकृष्ण शर्मा ने किया। मिश्रजी के सुप्रबन्ध और उपर्युक्त विद्वानों, विशेषतः पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन, के सम्पादकत्व में प्रभा बहुत चमकी। उस समय इस पत्रिका की बराबरी करनेवाली कोई दूसरी पत्रिका न थी। उससे पहले कलकत्ते से पं० अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी ने 'नृसिंह' (१९०९) नामक राजनीति प्रधान पत्र अवश्य निकाला था, जिसमें वर्तमान राजनीति की अच्छी विचारपूर्ण सामग्री पढ़ने को मिलती थी, परन्तु वह अधिक दिन तक न चल सका और राजनीति प्रधान मासिक पत्रों में प्रभा का ही एकाधिपत्य रहा।

इस प्रकार हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में द्विवेदी-युग को ऐतिहासिक महत्व प्राप्त है।

*

आचार्य द्विवेदीजी ने पिछले पैंतीस-चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों द्वारा पूर्व और पश्चिम की पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-सम्पत्ति—अपनी कठिन कमाई—सम्पूर्ण हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में मुक्त-हस्त से वितरित की जिसके लिए हम सब उनके ऋणी हैं।

—द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ—भूमिका

प्रो० निर्मल तालवार

सम्पादक : आचार्य द्विवेदी

"ईंट, पत्थर, चूना, लोहा लक्कड़ सबका एक ढेर और उन्हीं पदार्थों से बनाया हुआ एक सुन्दर मन्दिर; इनमें अन्तर है। ईंट बनाने वाले संगतराश, लुहार, बढ़ई सबने अपनी-अपनी कला दिखा दी, पर वह ढेर-का-ढेर ही रह गया—मन्दिर न हुआ। यह काम मेमार का है।"[1] सम्पादक भी ऐसा ही एक मेमार है।

विविध विषयक सामग्री की समंजस-योजना ही सम्पादन कला की प्रमुख साधना है। "ईंट-पत्थर, लोहे-लक्कड़ और चूने-गारे के रूप में विविध-विषयक रचनाओं का ढेर लगा हुआ था। शिल्पी द्विवेदी जी ने उनके सुषमित उपस्थापन द्वारा 'सरस्वती' के भव्य मंदिर का निर्माण किया।"[2] कहानी, कविता, आलोचना पुस्तक-समीक्षा, जीवन-चरित, साहित्य-समाचार, विविध-विषय आदि को सुचारु रूप देने के साथ-साथ प्रत्येक रचना को व्याकरण सम्मत, कलात्मक और प्रभावशाली बना देना सम्पादक का ही कार्य है। वह 'इञ्जिनियर भी है और अर्किटेक्ट भी'। द्विवेदी जी दोनों थे। सम्पादक एक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति है। उसका व्यक्तित्व राजनीतिज्ञ-सा प्रभावशाली है। उसकी नीति समय की गति में परिवर्तन उपस्थित कर देती है। युग पर 'द्विवेदी' नाम की मुहर आचार्य द्विवेदी के महान व्यक्तित्व का प्रमाण है। सम्पादक एक सफल अध्यापक से महानतर है। उसकी प्रेरणा से कितने नए-लेखक और नए-कवि बन जाते हैं। द्विवेदी जी अगणित लेखकों-कवियों के निर्माता हैं। सम्पादक सर्वोपरि एक सम्पादक है। आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक थे। इसके माध्यम से उन्होंने द्विवेदी-मण्डल निर्मित किया। केवल नए लेखक ही उन्होंने नहीं बनाए-वरन् प्रसिद्ध लेखकों को भी 'सरस्वती' में लिखने के लिए तैयार किया। केवल हिन्दी प्रान्तों और भारत वर्ष से ही हिन्दी लेखकों को उन्होंने सरस्वती के प्रांगण में एकत्रित नहीं किया वरन् विदेशों में भी हिन्दी-कंठ जुटाए जो 'सरस्वती' की वन्दना के स्वर को उच्चतर कर सके।

---

(१) श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर—साहित्य संदेश; द्विवेदी अंक

(२) डा० उदयभानु सिंह—म० प्र० द्विवेदी और उनका युग; पृ० १७२

विदेशों से सरस्वती के लिए लेख भेजने वाले लेखक—

इंगलैंड से—डा० जायसवाल, सुन्दरलाल, कृष्णकुमार माथुर, संत निहालसिंह, जगद्‌बिहारी सेठ ।

फ्रान्स से—बेनीप्रसाद शुक्ल ।

अमेरिका से—सत्यदेव, भोलादत्त पाण्डे, पाण्डुरंग खानखोजे, रामकुमार खेमका ।

दक्षिणी अमेरिका से—प्रेमनारायण शर्मा, वीरसेन सिंह ।

भारत में सरस्वती के लेखक—

राधाकृष्ण दास, महेन्दुलाल गर्ग, शिवचन्द भरतिया, गौरीदत्त वाजपेयी, जनार्दन झा, पुरोहित गोपीनाथ, माधवराव सप्रे, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, नाथूराम शर्मा शंकर, शुकदेवप्रसाद तिवारी, सत्यनारायण कविरत्न, रायसाहब छोटेलाल, बेंकटेशनारायण तिवारी, लोकमणि, वागीश्वर मिश्र, लोचनप्रसाद, स्वामी सत्यदेव, नरेन्द्रनारायण सिंह, यशोदानंदन अखौरी, लाला हरदयालु, गिरधर शर्मा, लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय, आनन्दप्रसाद दूबे, कामताप्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, केशवप्रसाद मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, लक्ष्मीधर वाजपेयी, गंगानाथ झा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, बाबूराव विष्णु पराड़कर रूपनारायण पाण्डेय, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक आदि ।

नए और पुराने लेखकों के इस मण्डल का सहयोग पा सकना दूरदर्शी सम्पादक महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे व्यक्ति से ही संभव हो सका । एक साथ इतने समर्थ लेखक एक पत्रिका को सहज ही उपलब्ध नहीं होते । इसमें सरस्वती-सम्पादक की सम्पादन-कला का ही महत्व है कि उन्होंने इतने प्रतिभाशाली और विविध विषयों के विद्वान लेखकों को 'सरस्वती' की श्रीवृद्धि के लिए संगठित किया । सम्पादक की महत्ता उसकी पत्रिका के लेखकों के सहयोग से अभिव्यक्त होती है । द्विवेदी जी इस दृष्टि से अद्वितीय हैं ।

'अपने लेखकों का उन्हें पर्याप्त ज्ञान रहा है । वे जानते थे कि, किस लेखक से किस विषय पर किस तरह लेख मिल सकता है ।'

समर्थ सम्पादक एक सुधारक है । वह निर्भीक और दृढ़-व्रती है । वह समाज और साहित्य की जड़ता की आलोचना करता है और प्राण-शक्ति का पथ भी दिखलाता है । निर्भयता ही उसके सत्य का बल है । इसी सत्य से वह सद्‌मार्ग का निर्देश करने में सफल होता है । द्विवेदी जी ने जब 'सरस्वती' का सम्पादन सम्भाला,, साहित्य भटका हुआ था । अपनी मंजिल से वह परिचित नहीं था । किस विचारधारा को वह युग के सामने प्रस्तुत कर समाज को शक्ति देने में सक्षम हो सकता है, इसे वह स्वयं नहीं जानता था । द्विवेदी जी के साथ द्विवेदी-मण्डल बढ़ने लगा और द्विवेदी-मण्डल के साथ 'द्विवेदी-युग' प्रतिष्ठित हुआ । नये उन्मेष और नई शक्ति की शंखध्वनि इस युग में भास्वर हुई ।

साहित्य को मंजिल मिली, लक्ष्य मिला। वह तीव्र गति से अपने पथ पर बढ़ने लगा। सरस्वती-सम्पादक ने 'सरस्वती' के माध्यम से युग के साहित्य का आदर्श निश्चित कर दिया। केवल विचार-धारा के क्षेत्र में ही नहीं, भाषा के क्षेत्र में उन्होंने आदर्श उपस्थित किया। भाषा की अराजकता को अपने सम्पादकीय अनुशासन द्वारा मिटाया और उसे स्थिर किया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कवि थे, कहानी कार थे, निबन्धकार थे, आलोचक थे, और सर्वोपरि थे सम्पादक। सत्य तो यह है कि वे सम्पादक थे इसीलिए वे विविध-शैलियों के सफल उन्नायक बने, इसीलिए उन्होंने इतने विविध प्रकार के विषयों पर लिखा। वे सम्पादक थे इसीलिए एक लेखक-मण्डल का निर्माण कर सके, उसका संगठन कर सके, एक विचारधारा दे सके, एक अनुकरणीय आदर्श भाषा-बोध के क्षेत्र में और विषय-बोध के क्षेत्र में दे सके। सम्पादक का कार्य-दुरूह है।

सम्पादक शब्द विविधार्थी है। इसके कोषगत[१] अर्थ हैं—(१) सम्पन्न करने वाला। कोई काम पूरा करने वाला। काम अंजाम करने वाला।

(२) प्रस्तुत करने वाला। तैयार करने वाला।

(३) प्रदान करने वाला। लाभ करने वाला।

(४) किसी समाचार पत्र या पुस्तक को क्रम आदि लगाकर निकालने वाला।

हिन्दी विश्वकोश-सम्पादक श्री नगेन्द्रनाथ वसु के अनुसार सम्पादक शब्द का निर्माण सम्-पद-णिच्ण्वुल से हुआ है। शब्द के अर्थ 'हिन्दी शब्द सागर' के अनुरूप ही हैं। 'सम्पादन' उसका प्रमुख कार्य है।

Sanskrit-English Dictionary—by Sir M. Monier williams के आधार पर 'सम्पादन' के अर्थ हैं :—

Sam-Pādana—Procuring, bestowing accomplishing, carrying out the act of procuring or bestowing, bringing about, effecting, preparing.

सर मोनियर विलियम्स के कोष के आधार पर 'सम्पादन' शब्द के अर्थ के साथ-साथ उसकी प्राचीनता का भी सहज ही ज्ञान हो जाता है। महाभारत, मनुसंहिता, कथासरित सागर, सर्व दर्शन संग्रह, विक्रमदेव चरित आदि ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका महत्व भी स्पष्ट हो जाता है।

The New universal Encyclopedia—Vol. Six Page 2941 के अनुसार—

Editor—Latin-edereto, produce. One who con-

---

[१] हिन्दी शब्द सागर (चौथा भाग) सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास, पृ० ३५९०।

trols the production and contents of a news-paper, book or magazine······

'सम्पादक' शब्द वास्तव में गूढ़ार्थी है। सम्पादक—कला का निर्माता भी है, निर्माण का प्रेरक भी, और निर्मित-कला को प्रभावशाली भी बनता है। वह नियंत्रक है। पत्रिका एवं पुस्तक में प्रकाशित होने वाली सम्पूर्ण सामग्री पर उसका नियंत्रण है। समर्थ सम्पादक का यह नियंत्रण-अधिकार उसे बहुत बड़ी शक्ति प्रदान करता है। इसी अधिकार से वह अनेक कलाकारों की बिखरी हुई कृतियों का 'संयुजन करता है', 'क्रम से लगाकर' काम 'पूरा करता' है, उसे 'सम्पन्न करता' है। वह आवश्यकतानुसार उन कृतियों को 'ठीक करता है', 'सौन्दर्य प्रदान करता' है, 'शुद्ध और सही' करके 'काम अंजाम' करता है। वह प्रभाव को प्रकट करने की उन्हें क्षमता प्रदान करता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सफल और समर्थ सम्पादक थे। 'सरस्वती' का सम्पादन उन्होंने १९०३ से १९२० तक किया। और उस पत्रिका को अपने समय की 'एक मात्र श्रेष्ठ पत्रिका' सिद्ध किया। प्रत्येक लेखक और कवि इस 'सर्वश्रेष्ठ पत्रिका' के पृष्ठों पर अपना नाम अंकित हुआ देखने के लिए प्रयत्नशील रहता। यह द्विवेदीजी की श्रेष्ठ सम्पादन-कला का ही प्रमाण है कि 'सरस्वती' कवियों और लेखकों का साध्य बनी।

आचार्य द्विवेदी सम्पादक थे और 'सरस्वती' उनकी सबल माध्यम थी। नियंत्रण-अधिकार उन्हें प्राप्त था और इस अधिकार का उन्होंने पूरा उपयोग भी किया। इसी अधिकार के कारण वे भाषा को परिमार्जित कर सके; इसी के कारण विविध विषयों पर सामग्री लिखवा सके और इसी के कारण वे अन्य लेखकों की रचनाओं का संशोधन कर सके।

द्विवेदीजी का संशोधन प्रसिद्ध है। स्वयं लिखना सरल है, किन्तु संशोधन अत्यन्त कठिन है, पर आचार्यजी ने उसे भी साध लिया था। जिन्होंने उनकी संशोधित 'कापी' देखी है वे (श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर) लिखते हैं—"मैंने द्विवेदीजी की संशोधित 'कापी' देखी है। मालूम होता था कि बीच बीच में कुछ शब्दों को छोड़ कर आपने सारा मजमून फिर से लिख डाला है। एक ख्यात नाम साहित्यिक की पुस्तक का एक अध्याय आपके पास संशोधनार्थ भेजा गया था। संयोगवश उसकी कापी मेरे देखने में आ गयी थी। देखकर आश्चर्य हुआ। उसमें मूल कम और संशोधन अधिक था। आपके सम्पादन काल में 'सरस्वती' में प्रकाशित सब लेख इसी प्रकार संशोधित हुआ करते थे।" और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी श्रद्धाञ्जलि 'आचार्य-देव' में द्विवेदी जी की इस संशोधन-कला के सम्बन्ध में लिखा है। उनकी 'हेमन्त' कविता का रूप—वाह्य और अन्तर दोनों—आचार्यजी के संशोधन से बदल गया था। 'कंकाल' को 'भव्य मूर्ति' में रूपान्तरित

कर देती थी द्विवेदी जी की सम्पादन कला। 'क्रोधाष्टक' का संशोधन करने पर उन्होंने गुप्त जी को लिखा—"आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा, परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गए।"

और इसी स्नेहसिक्त डांट के साथ कविवर ने खड़ी-बोली के श्रेष्ठ कवि बनने का 'गुर' भी पा लिया। ऐसा 'गुर' असंख्य नवोदित लेखकों को सरस्वती-संपादक से प्राप्त हुआ होगा। अपनी संशोधन-नीति के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने 'जीवन-रेखा' में लिखा है—'संशोधन द्वारा लेखों की भाषा अधिक संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता, यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का।' उनके सामने था 'बहुजन-हिताय' का दृष्टिकोण !

'सरस्वती' के सम्पादन का भार उठाने पर द्विवेदी जी ने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किये।

"मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबन्दी करूँगा (२) मालिकों का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूँगा। (३) अपने हानि लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि लाभ का सदा खयाल रखूँगा। और (४) न्याय पथ से कभी न विचलित हूँगा"। ये आदर्श आचार्य द्विवेदीजी ने अपने लिए निश्चित किए और उसका पालन बराबर किया !

द्विवेदीजी अत्यन्त परिश्रमी थे। "जिस समय उनके हाथों में 'सरस्वती' के सम्पादन का भार रहा है, उन्होंने न तो दिन को दिन समझा है और न रात को रात। कार्य के गुरुत्व के कारण उन्होंने अपने अमूल्य स्वास्थ्य तक का बलिदान कर दिया। इतनी लगन आज कम सम्पादकों में मिलेगी।" पत्रिका के विलम्ब का कोई कारण भी उन्हें असह्य था। और वे बराबर प्रयत्नशील रहते थे कि पत्रिका समय पर पाठकों को मिल जाए। उन्होंने स्वयं लिखा है—"मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया। चाहे पूरा का पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहां तक किया कि कम-से-कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रखी।" ऐसी थी उनकी वक्त की पाबन्दी और कर्मनिष्ठा। १९०३ की 'सरस्वती' में १०९ रचनाओं में ७० स्वयं 'सरस्वती-सम्पादक' की लिखी हुई हैं। द्विवेदी जी ने अपने सम्पादन-काल में अनेक कल्पित नामों से लेख लिखे हैं—कमला किशोर त्रिपाठी, कल्लू अल्हइत, गजानन गणेश गर्वखंडे, भुजंगभूषण भट्टाचार्य, श्रीकंठ पाठक एम० ए०, कस्यचित् कान्यकुबजस्य, नियमनारायण शर्मा आदि उन्हीं के नाम थे। धीरे-धीरे लेखक-मण्डल प्रोत्साहित होता गया और द्विवेदी जी के लेख कम होते गए। लेख तो पहले भी उनके पास कम नहीं पहुँचते थे, पर उनके मनोनुकूल लेखों का अभाव था। और जिसे युग का निर्माण करना हो वह अपने मनोकुकूल लेखों के अतिरित सरस्वती में अन्य लेख कैसे छापता !! १९०३ के अन्त में उन्होंने

गोपी—

छैल नए नित रोकन गैल सु फैलन को पै अरैल भए हौ।
लै लकुटी हँसि नैन नचावत बैन रचावत मैन-तए हौ।
लाज अँचै बिन काज खगौ तिनहीँ सौँ पगौ जिन रंग-रए हौ।
ऐंड़ सबै निकसैगी अबै घनआनँद आनि कहा उनए हौ ॥५०॥

श्रीकृष्ण—

हैं उनए सु नए न कछू, उघटै कत ऐंड़ अमैंड़ अमानी।
बैन बड़े बड़े नैनन के बल बोलनि क्यौँ हौ इती इतरानी।
दान दिये बिन जान न पाइहै आइहै जौ चलि खोरि बिरानी।
आगे अछूती गईं सु गईं घनआनँद आज भई मनमानी ॥५१॥

गोपी—

जाय करौ उहि माय पै लाड़ बढ़ाय बढ़ाय किये इतने जिन।
भीत की दौरनि खोरनि है सठता हठ ओरनि सौँ समझै बिन।
दान न कान सुन्यौ कबहूँ कहूँ काहे को कौन दयौ सु लयौ किन।
टोड़िक ह्वै घनआनँद डाँटत काटत क्यौँ नहीँ दीनता सौँ दिन ॥५२॥

श्रीकृष्ण—

देहैगी दान जु ऐहै इतै, नहीँ, पैहै अबै सु किये को सबै फल।
बाबा दुहाई, सुहाई कहौ जिय, जानि कै मानि छुटै न किये छल।
एकहि बोल, दै जाहु चली झगरो सगरो मिटि बात परै सल।
नावँ पर्‌यौ अबला घनआनँद ऐठति ग्वैंठति भौँहैं किते बल ॥५३॥

चाड़ = लालसा, यहाँ अपेक्षा या परवाह। [४९] पति = प्रतिष्ठा। मघवा० = इंद्रमणि, नीलम। पय = पानी। मति = ममता। सविता० = यमुना। [५०] अरैल = अड़नेवाले। तए = तप्त। खगौ = छेड़ते हो। [५१] उघटै० = अर्थात् ताना क्यौँ मारती है। अमैंड़ = मर्यादा को न माननेवाली। अमानी = किसी की मान-प्रतिष्ठा न माननेवाली। खोरि० = दूसरे की गली मेँ। [५२] भीत० = अर्थात् छेंकना। टोड़िक = पेटू। [५३] बात० = अर्थात् झगड़ा

श्लोक' के द्वारा पाठक का मनोरंजन भी करते थे, विविध विषयों के द्वारा उसके ज्ञान को व्यापक बनाते और 'साहित्य-समाचार' के द्वारा उसे साहित्य की गति-विधि से परिचित कराते। 'हिन्दी-पाठकों की असंस्कृत रुचि को तृप्त करने का प्रयास न करके उन्होंने उसके परिष्कार का ही उद्योग किया।[1]

द्विवेदी जी ६ माह आगे ही सामग्री तैयार रखते थे। और प्रकाशन से पूर्व ही अंक की सामग्री यथा स्थान सजी रहती थी। "आचार्य द्विवेदी के समय की 'सरस्वती का कोई अंक निकाल देखिए, मालूम होगा कि प्रत्येक लेख, कविता और नोट का स्थान पहले निश्चित कर लिया गया था। बाद में वे उसी क्रम से मुद्रक के पास भेजे गए एक भी लेख ऐसा न मिलेगा जो बीच में डाल दिया गया सा मालूम हो। सम्पादक की यह कला बहुत ही कठिन है और एक आध को ही सिद्ध होती है। द्विवेदीजी को सिद्ध हुई थी और इसी से 'सरस्वती' का प्रत्येक अंक अपने रचयिता के व्यक्तित्व की घोषणा अपने अंग प्रत्यंग के सामंजस्य से देता है। मैंने अन्य भाषाओं के मासिकों में भी यह विशेषता बहुत कम पायी है और विशेष कर इसी के लिए मैं स्वर्गवासी पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को संपादकाचार्य मानता हूँ।'[2]

द्विवेदीजी पाठकों और लेखकों के बीच की कड़ी थे। लेखकों की कृतियाँ पाठकों के निकट 'सरस्वती' के माध्यम से वे पहुँचाते थे। पर वे निर्जीव कड़ी नहीं थे, वे उन दोनों की मध्यस्थता कर एक को ज्ञान देते थे और दूसरे को यश। इस प्रकार दोनों का कल्याण करते थे। वे उस सेतु की तरह थे जो सहज भाव से दोनों किनारों को मिला देता है और दोनों को उर्वर कर देता है।

'सरस्वती' के सम्पादन के द्वारा आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-भाषा को परिष्कृत, मंजुल और शुद्ध रूप दिया; हिन्दी साहित्य को आदर्श दिया, नीति दी; हिन्दी पाठकों को ज्ञान दिया, तथा आनन्द दिया; हिन्दी को निर्माणकारी लेखक दिए। और स्वयं भी निरंतर विविध विषयों पर लिखा। आज उनकी ८०-८१ पुस्तकों के नाम मिलते हैं। कुछ की रचना १९०३ ई० सन् सरस्वती का सम्पादन ग्रहण करने से पूर्व ही हो चुकी थी, पर अधिकांश निबन्ध, कहानियाँ, जीवन-चरित और कविताएं १९०३ के बाद की है। प्रारम्भिक कविताओं में खड़ीबोली के प्रति उनका आकर्षण नहीं प्रकट होता, वे तब ब्रजभाषा को ही सम्भवतः हिन्दी काव्य की भाषा मानते थे। पर शीघ्र ही वे खड़ीबोली की ओर आकृष्ट हुए। और 'सरस्वती' का सम्पादन ग्रहण करने पर तो उन्होंने अपनी नीति ही बना ली कि खड़ीबोली के काव्य को प्रोत्साहन देना आवश्यक है। वह जीवन के निकट है, दैनिक व्यवहार की बोलचाल की भाषा है। वह गद्य की भाषा है, अगर काव्य

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृ० १९३-९४
२ बाबू राव विष्णु पराड़कर —साहित्य संदेश; द्विवेदी अंक

को भी जीवन के निकट लाना है तो उसी भाषा का प्रयोग आवश्यक है। विविध विषयों की ओर भी उन्हें उनके सम्पादक-कर्म ने ही आकृष्ट किया। इस विविधता की उपादयेयता वे जानते थे। और उसे जानना एक जागरूक सम्पादक की परम आवश्यकता है। दूसरों से लिखवाने की कला में भी वे दक्ष थे, इसीलिए 'सरस्वती' की पूजा अनेक हाथों से हो सकी। निसंदेह सम्पादक के रूप में द्विवेदी जी आज भी अनुकरणीय हैं।

हमारी अक्षम्य उपेक्षा

पूज्य द्विवेदी जी से मैंने प्रार्थना की थी, कि वे अपना जीवन-चरित्र स्वयं ही लिख दें। उनका आत्म चरित्र हिन्दी जगत के लिये एक अद्‌भुत ग्रन्थ होता, पर जिन दिनों उनके पास मेरा यह आग्रहपूर्ण निवेदन पहुँचा, उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो चुका था। द्विवेदीजी ने अपने पत्र में लिखा था :—

"हिन्दी लेखकों की दशा अच्छी नहीं। प्रकाशक उनसे भी बदतर हैं। रद्दी कहानियाँ ये लोग दौड़-दौड़ छापते हैं। मेरे फुटकर लेखों की कोई ३२ पुस्तकें हुयीं। बाबू शिव प्रसाद जी गुप्त ने सबकी नकल करा दी। उनमें से कोई १० पुस्तकें पड़ी हुई हैं, कोई पूछता ही नहीं है। ऐसे लोगों के लिये आत्म-चरित लिखकर बेचने की इच्छा नहीं होती। हो भी तो लिखने की शक्ति नहीं।"

द्विवेदी जी निःसन्तान थे और हमलोग वर्तमान हिन्दी लेखक और कवि जो वस्तुतः उनकी मानस संतान हैं, उनके ऋण को चुकाने के लिये कुछ भी चिन्तित नहीं। हिन्दी में उनका एक भी जीवन-चरित न होना हमारे प्रमाद और शायद कृतघ्नता का भी सूचक है।

—प० बनारसीदास चतुर्वेदी

कु० सुदेश सेठी एम० ए०

द्विवेदीजी और सरस्वती

हिन्दी साहित्य की प्रगति, भाषा के भण्डार की श्रीवृद्धि तथा नये लेखकों को उत्साहित करने के हेतु जनवरी सन् १९०० ई० में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस सन् में इसका सम्पादन भार बाबू जगन्नाथ दास (रत्नाकर) बी० ए०, बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०, बाबू राधाकृष्ण दास, पंडित किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री की सम्पादक समिति ने वहन किया। इस पत्र का उद्देश्य हिन्दी साहित्य की प्रत्येक धारा को विकसित करने का था। इसी दृष्टिकोण के आधार पर पत्रिका में क्या-क्या विषय होंगे—इस पर भूमिका (सरस्वती १९००) में लिखा है। "इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवन-चरित, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कलाकौशल आदि साहित्य के यावतीय विषयों का यथावकाश समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जायगी ....।" प्रथम वर्ष सरस्वती में उपन्यास, नाटक, विज्ञान के नाम पर अल्प ही लिखा गया है। अधिकतर लेख सम्पादक समिति के लेखकों के ही उपलब्धि होते हैं। इनके अलावा बाबू केशवप्रसाद सिंह के चन्द्रलोक की यात्रा, डाक्टर नानसेन का उत्तरी भ्रमण तथा मानवीय शरीर, पिट (हीरा) कोहनूर आदि यात्रा एवं विज्ञान संबन्धी लेख उपलब्ध होते हैं। पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एम० ए० और पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए० के आलोचना और समालोचना सम्बन्धी लेख मिलते हैं।

द्वितीय वर्ष १९०१ में 'सरस्वती' के सम्पादक केवल श्यामसुन्दर दास रह जाते हैं। १९०१ और १९०२ इन दो वर्षों का सम्पादन भार इन्हीं के कर्मठ कन्धों पर रहता है। इन दो वर्षों की सरस्वती का अवलोकन करने से अवगत होता है कि जीवनचरित लिखने की ओर प्रवृत्ति अधिक रही है। इसके अतिरिक्त उपन्यास (अनुवाद), आख्यायिका, कविता, व्याकरण, समालोचना आदि पर भी कुछ लिखा गया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के आध्यात्मिक एवं साहित्यिक विषयों पर अनेक निबन्ध और उनकी अनेक कविताएं (खड़ीबोली में) प्रकाशित

हुई हैं। श्यामसुन्दर दास जी ने भी अपनी लेखनी द्वारा सरस्वती के उद्देश्य को यथाशक्ति कार्यान्वित किया है। एक कुशल सम्पादक के समान अत्यन्त सुचारु ढंग से बाबू श्यामसुन्दर ने सरस्वती के सम्पादन को सफल बनाया। उनके युग के बड़े-बड़े साहित्यकारों—आचार्य द्विवेदी, राधाकृष्ण दास, पार्वतीनन्दन लाल, किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू कार्तिक प्रसाद, श्यामबिहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र ने अपने प्रतिभापूर्ण लेखों द्वारा पाठकों को लाभ पहुँचाया।

इस समय तक गद्य और पद्य की भाषा में अन्तर रहा है। पद्य की भाषा ब्रज तथा अवधी रही है। यहाँ तक कि हिन्दी के महान् आलोचक आचार्य शुक्ल ने भी अपनी 'मनोहर छटा' कविता ब्रजभाषा में लिखी। उनकी कविता की भाषा का यह रूप है—

नीचे पर्वत थली रम्य रसिकन मन मोहत।
ऊपर निर्मल चन्द्र नवल आभायुत सोहत॥
कबहुँ दृष्टि सों दुरत छिपत मेघन के आड़े।
अन्धकार अधिकार तुरत निज आय पसारे॥

(सरस्वती १९०१ पृष्ठ ३५२)

एक ओर जहाँ ब्रजभाषा की कविता का यह रूप मिलता है वहीं दूसरी ओर गद्य-पद्य की भाषा की एकता के समर्थक आचार्य द्विवेदी जी ने कविता में भी खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग किया। उन्होंने अपनी "हे कविते" शीर्षक कविता में खड़ीबोली का तत्सम शब्द युक्त रूप पाठकों के समक्ष रखा।

सुरम्य रूपे! रस-राशि रञ्जिते, विचित्र वर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा कवीन्द्र कान्ते! कविते! अहो कहाँ?

(सरस्वती १९०१ पृ० १९८)

गद्य और पद्य की भाषा एक हो, इस पर द्विवेदी जी ने अपने "कवि कर्त्तव्य" लेख (सरस्वती १९०१ पृ० २३२) में लिखा है—'गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक न होनी चाहिए......सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।......बोलना—एक भाषा और कविता में, प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। जो लोग हिन्दी ही बोलते हैं और हिन्दी ही के गद्य साहित्य की शुश्रुषा करते हैं उनके पद्य में ब्रज की भाषा का आधिपत्य बहुत दिन नहीं रह सकता।"

द्विवेदीजी के इस कथन का प्रभाव कवियों पर आगे चल कर पड़ा। सम्भवत: इसीसे प्रभावित होकर ब्रजभाषा में कविता लिखने वाले कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'कोकिल' (सरस्वती १९०४ पृष्ठ ३३७) कविता में खड़ीबोली का यह रूप पाठकों के समक्ष रखा—

उडुगन क्षय भी हों, दीखते भी कहीं हों !
गत जब रजनी हो, पूर्व सन्ध्या बनी हो !

१९०२ के अन्त में श्यामसुन्दर दास जी ने भी सम्पादन भार सम्हालने में असमर्थता प्रकट की। उनके प्रस्ताव से १९०३ में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने सम्पादन भार ग्रहण किया। सरस्वती सम्पादन में द्विवेदी जी के अपने कई आदर्श थे। 'आत्मनिवेदन' लेख (यह लेख सरस्वती १९३३ पृष्ठ ६१९ पर प्रकाशित हुआ। यह द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगाठ पर अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रदानोत्सव के अवसर पर दिया गया भाषण है) के अन्तर्गत 'मेरे आदर्श' शीर्षक में द्विवेदी जी कहते हैं—"सरस्वती के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किए। मैंने सङ्कल्प किया कि (१) वक्त की पावन्दी करूँगा; (२) मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूँगा; (३) अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख्याल रक्खूँगा और (४) न्याय पथ से कभी न विचलित हूँगा।"

द्विवेदी जी ने अपने इन आदर्शों का पालन यथाशक्ति किया। उनके सत्रह वर्षों के दीर्घ सम्पादन काल में 'सरस्वती' का प्रकाशन एक बार भी नहीं रुका। सात वर्ष तक निर्बाध गति से द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन किया। उन्होंने कभी भी अवकाश-ग्रहण नहीं किया तथा नियमित रूप से हर महीने प्रकाशन होता रहा। केवल एक बार १९०३ में दूसरी और तीसरी संख्याएँ एक साथ निकलीं। इस दोष की आवृत्ति फिर कभी नहीं हुई। वे अपने पास ६ महीने आगे की सामग्री सदा प्रस्तुत रखते थे। इस कार्य के लिए उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ा। उन्हीं के शब्दों में—'हर महीने सरस्वती के चालीस-पचास पृष्ठों के लिए हमें जूही के मैदान में रहकर मजमून लिखना और एकत्र करना पड़ता है.........।' (सरस्वती १९१०, पृष्ठ १, शीर्षक 'परमावश्यक प्रार्थना।') सात वर्षों के कठिन परिश्रम के फलस्वरूप उन्हें उन्निद्र रोग हो गया तथा उन्होंने सरस्वती के सम्पादन कार्य से एक वर्ष का अवकाश ग्रहण किया। इनकी अनुपस्थिति में सम्पादन भार पण्डित देवीप्रसाद जी शुक्ल, बी० ए० (कुर्सवाँ, कानपुर) ने सम्भाला।

सम्पादन-कार्य द्वारा द्विवेदी जी ने अपनी कर्मठ लेखनी, एकनिष्ठता एवं लगन से हिन्दी पाठकों को बहुत कुछ प्रदान किया। उन्होंने विविधवार्त्ता, पुस्तक परीक्षा, चित्र परिचय आदि नवीन विषयों को 'सरस्वती' में प्रकाशित किया।

पहले बताये गये सरस्वती के उद्देश्यों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अपने कई उद्देश्यों को स्थिर किया। उनकी रचनाओं का अवलोकन करने पर उनके कई उद्देश्य हमारे सम्मुख आते हैं—(१) नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना ; (२) पाठकों की संख्या में अभिवृद्धि करना (३) भाषा और व्याकरण विषयक भूलों के सुधार की ओर लेखकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना (४) संसार की वर्त्तमान

प्रगति का परिचय देना (५) पाठकों के व्यवहारिक और साहित्यिक ज्ञान में वृद्धि करना (६) संस्कृत और अंग्रेजी के शब्द समूहों से हिन्दी के भण्डार को भरना। इत्यादि।

पुस्तक परीक्षा शीर्षक में समय-समय पर प्रकाशित पुस्तकों के गुण-दोष पर विचार किया गया है। पुस्तक में वर्णित विषय-पृष्ठ संख्या, और लेखक के परिचय का भी संकेत दिया है। उदाहरण, सच्चा सुधार पुस्तक (सरस्वती १९१२ पृष्ठ ५६७ संख्या १०) पर विचार करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं—'पाण्डेय रामलोचन शर्म्मा-कृत निबन्ध में भारत की वर्त्तमान-दशा, उसके कारण और सुधार पर विचार किया गया है। लेखक का मत है कि भारतवासियों की वर्त्तमान सामाजिक और नैतिक अवस्था बड़ी खराब है, जिसका कारण यह है कि आजकल वैदिक काल के आचार-विचार के अनुसार काम नहीं किया जाता। यदि ब्रह्मचर्य्य और वर्णाश्रम के नियमों का पालन करते हुए लोग धार्मिक और नैतिक शिक्षा पाने लगें तो भारत का शीघ्र ही सुधार हो जाये। लेखक ने इस निबन्ध में इस बात पर बिलकुल ही विचार नहीं किया है कि विज्ञान ने संसार के पूर्ण रंग रूप को बिलकुल ही पलट डाला है। अतएव भारतवासियों को वर्त्तमान भयङ्कर जीवन-संग्राम में जीवित रहने और अन्य उन्नत और सभ्य जातियों के बराबर चलने के लिए कौन कौन नई बातों को सीखना चाहिए। पुस्तक में २२४ पृष्ठ हैं, मूल्य पाँच आना है, छपाई और कागज अच्छा है। भागलपुर के बिहार एँजल प्रेस एण्ड स्टोर्स से मिलती है।'

इस प्रकार नई पुस्तकों के विषय में पाठकों को जानकारी कराकर हिन्दी के पाठकों की संख्या में अभिवृद्धि करना द्विवेदी जी चाहते थे।

१९०३ में अधिकतर साहित्य विषयक फुटकर एवं विचित्र-विषय, वैज्ञानिक-विषय, जीवन-चरित, आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक विषय द्विवेदी जी ने स्वयं लिखे हैं। १० आख्यायिकाओं में से ६ लाला पार्वतीनन्दन की प्रकाशित हुई हैं। अन्य ४ अख्यायिकाओं के लेखक श्रीयुक्त निजाम शाह, भट्टाचार्य्य, पण्डित दत्त पाण्डे और स्वयं द्विवेदी जी हैं।

द्विवेदी जी ने भाषा और व्याकरण विषयक त्रुट्टियों की ओर हिन्दी के लेखकों और पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के हेतु सरस्वती १९०५ और १९०६ में "भाषा और व्याकरण" नामक स्व-लिखित लेख प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने भाषा को स्थिरता प्रदान करने के लिए व्याकरण की आवश्यकता बतायी है। व्याकरण की आवश्यकता बताते हुए वे लिखते हैं "—...जिस भाषा में बड़े-बड़े इतिहास, काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान और कलाकौशल से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जाते हैं, उसका शृङ्खलाबद्ध होना बहुत जरूरी है। उसका व्याकरण बनाना चाहिए। लिखित भाषा ही में ग्रंथकार अपने कीर्त्तिकलाप को

रखकर अपना नश्वर शरीर छोड़ जाते हैं। व्याकरण ही उस कीर्त्ति का प्रधान रक्षक है ....।" (सरस्वती १९०५ पृष्ठ ४२६ द्वितीय अनुच्छेद)

द्विवेदीजी ने व्याकरण विरुद्ध हिन्दी रचना के उदाहरण देकर उनमें अपेक्षित सुधार के सुझाव दिये हैं। उदाहरण स्वरूप निम्नलिखित अंश—

"मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तक को श्री बाबू रामदीन सिंह 'खड्ग विलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापे।"

२३ सितम्बर १८८२, की हरिश्चन्द्रजी की व्याकरण विषयक भूलों को दिखाते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं "इस वाक्य में "पुस्तकों" के आगे कर्म्म का चिह्न 'को' विचारणीय है। "पुस्तकों" को ......स्वामी का कुल अधिकार है।" यह वाक्य व्याकरण-सिद्ध नहीं। यदि 'को' के आगे—'छापने का' ये दो शब्द आ जाते तो वाक्य की शिथिलता जाती रहती। फिर छापै के पहले एक सर्वनाम भी अपेक्षित है। यहाँ पर मतलब 'पुस्तकों को छापै' से है। पर यदि सर्वनाम भी कोई चीज है तो 'पुस्तकों को' की जगह पर उन्हें या उनको जरूर आना चाहिए...।"

द्विवेदी जी के प्रभाव से अनेक नवीन लेखकों और कवियों ने सरस्वती में लिखना आरम्भ कर दिया। मैथिलीशरण गुप्त की प्रथम कविता 'हेमन्त' सरस्वती (१९०५ पृष्ठ १५) में प्रकाशित हुई।

उस समय हिन्दी साहित्य में इतिहास, जीवन चरित एवं कोश पर बहुत कम लिखा गया था। अपने साहित्य समाचार स्तम्भ में द्विवेदी जी ने 'साहित्य सभा' चित्र द्वारा हिन्दी साहित्य की दशा पर सरस्वती को रोते हुए दिखाया है (सरस्वती १९०३ पृष्ठ ११३) द्विवेदी जी को मातृभाषा का निरादर सह्य नहीं था। "मातृभाषा का सत्कार" (साहित्य समाचार) में कल्पित वार्त्तालाप देखिए—

—अङ्गरेजी भाषा—"डियर, डियर, देखो यह कौन आती है।"

श्रीयुत पण्डित विद्यानिधान पाण्डेय यम० ए०, डी० यस० सी०, यल० यल० बी०, (मातृभाषा से)—"खबरदार, जो इस तरफ कदम बढ़ाया।"

मातृभाषा—"हाय करम।"

द्विवेदी जी ने इस प्रकार व्यंग्य चित्रों द्वारा हिन्दी की ओर उन लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है जो अंगरेजी के सम्पर्क में आने से मातृभाषा में बातचीत करना अपने लिए लज्जा की बात समझने लगे थे।

'ग्रंथकारों से विनय' नामक कविता में द्विवेदी जी (सरस्वस्ती १९०५ पृष्ठ ५३) ने हिन्दी में सत्काव्य, इतिहास और विज्ञान आदि की रचना की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है—

सत्काव्य, तथा इतिहास, और विज्ञान,
सत्पुरुषों के भी चरित विचित्र-विधान !
लिखिए हे लेखन - कला-कुशलतावान।
इसमें ही है सब भाँति देश कल्याण।

द्विवेदीजी संस्कृत और अंग्रेजी के शब्दों से हिन्दी के शब्द समूह में वृद्धि करना चाहते थे। वे कहते हैं—

इंग्लिश का ग्रंथ-समूह बहुत भारी है ;
अति विस्तृत जलधि समान देहधारी है।
संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
उसका भी ज्ञानागार हृदय हारी है।

द्विवेदीजी का कथन था कि दूसरों के विचारों को ग्रहण करना दोष नहीं है बल्कि बिना कहे लेना चोरी है—

जो वस्तु और की बिना कहे लेता है ;
सब कोई उसको 'चोर' सदा कहता है।
औरों के चारु विचार तथापि मनोहर,
ले लेने में कुछ दोष नहीं है, बुधवर।

द्विवेदीजी हिन्दी में प्रचलित छन्दों की अपेक्षा संस्कृत के छन्दों में भी कविता करने की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे। उन्होंने कवि-कर्त्तव्य लेख (सरस्वती १९०१ पृष्ठ २३२) में लिखा है "·········· दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए की यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और और छन्द भी लिखा करें ············। संस्कृत काव्यों में प्रयोग किए गए वृत्तों में से दो चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी हिन्दी में प्रचार किया जाय। इन वृत्तों में से द्रुत-विलम्बित, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार भाषा में होने से भाषा-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी।"

द्विवेदीजी ने हमेशा पाठकों की सुरुचि का ध्यान रखा है। उन्होंने कभी भी अपने हानि लाभ की परवाह नहीं की। सरस्वती उस समय अन्य पत्रिकाओं की रानी ही नहीं अपितु पाठकों की सेविका भी थी। उस समय उसमें कुछ छपाना या किसी के जीवनचरित आदि को प्रकाशित कराना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। ऐसी अवस्था में द्विवेदीजी को कोई कहता-मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूंगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई, अमुक सभा-पति की 'स्पीच' छाप दो; मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूंगा ·······। परन्तु ये प्रलोभन द्विवेदीजी को उनके आदर्शों के प्रतिकूल कार्य न करा सके। वे सदैव पाठकों की रुचि का ख्याल न रखते हुए सरस्वती में वही मसाला जाने

देते जिसमें पाठकों का लाभ समझते।

द्विवेदीजी के सत्रह वर्ष तक सम्पादन कार्य वहन करने के पश्चात सरस्वती के सम्पादन कार्य को देवीदत्त शुक्ल ने ग्रहण किया। आचार्य द्विवेदीजी के समय सरस्वती में जीवनचरित, शिक्षा सम्बन्धी साहित्यिक निबन्ध आदि प्रकाशित होते थे, परन्तु अब कविता और कहानी की ओर प्रवृति अधिक हो गयी। देश की राजनीतिक स्थिति से प्रभावित होकर देशभक्ति को जगाने के लिए कविताएं और लेख भी अधिक मात्रा में प्रकाशित होने लगे। छायावाद के चार महारथियों प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ने भी सरस्वती को अपनी सेवाएँ अर्पण कीं।

इस समय 'विविध विषय' जो द्विवेदीजी के समय सरस्वती का एक विशेष अंग था प्रकाशित होना बन्द हो गया। द्विवेदीजी 'विविध विषय' शीर्षक में विश्व में समय समय पर होने वाली घटनाओं से पाठकों को अवगत कराया करते थे। अतः १९०३ में 'विविध विषय' शीर्षक के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने पाठकों की जानकारी के लिए मध्य एशिया के ओंदिजन नामक नगर में विकराल भूकम्प से हुई हानि के बारे में लिखा, फ्रांस के सबसे बड़े पुस्तकालय, समय-समय पर हुई मनुष्य गणना आदि का परिचय पाठकों को कराया है। 'इन्दु' मासिक पत्रिका प्रकाशित होने पर इसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के हेतु द्विवेदीजी सरस्वती १९१२ पृष्ठ ५०६ 'विविध' विषय के अन्तर्गत 'इन्दु मासिक पत्र' शीर्षक देकर लिखते हैं "यह मासिक पत्र दो ढाई वर्ष से काशी से निकल रहा है। बाबू अम्बिका प्रसाद गुप्त इसके सम्पादक और प्रकाशक हैं।..........इसमें कहानियाँ और पुरातत्त्व विषयक लेख कभी कभी बहुत अच्छे निकलते हैं। कवितायें भी इसकी बहुधा सरस होती हैं। पत्र लेने और पढ़ने योग्य है।" अन्य पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षा करके उनको सुधारने का भी संकेत देते थे। सरस्वती, भाग ९, संख्या ७, पृष्ठ ३७२ पर 'भारती' पत्रिका के 'विविध विषय' स्तम्भ की आलोचना की है। 'विविध विषय' स्तम्भ सरस्वती में भी था, पर जहाँ 'भारती' का यह स्तम्भ 'सामान्य' था, वहीं सरस्वती के इस स्तम्भ द्वारा वे पाठकों को संकुचित दायरे से निकाल कर एक विस्तृत भूमि पर खड़ा करना चाहते थे। उनका उद्देश्य हिन्दी पाठकों को व्यावहारिक और साहित्यिक ज्ञान प्रदान करना था।

मन्दिर की सरस्वती-प्रतिमा जिस प्रकार वरदा है उसी प्रकार द्विवेदी जी की 'सरस्वती' भी विद्यादायिनी और ज्ञानवर्द्धिनी है। लोक-कल्याण उसका लक्ष्य रहा और वही उसने किया। 'हिन्दी-साहित्य' वह माध्यम बना जिसके द्वारा 'सरस्वती' का साध्य अभिव्यक्त हुआ। अतः माध्यम भी गौरवान्वित हुआ। निस्सन्देह द्विवेदी जी की 'सरस्वती' हिन्दी-साहित्य की गरिमा है, महिमा है।

*

प्रो० दमयन्ती तालवार

कवि महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनकी सुमन

कविता कवि के जीवन की आलोचना है, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना है। कवि के भाव, विचार, सिद्धान्त उसकी कविता में निहित रहते हैं। कवि की अनुभूति कविता में साकार रूप धारण करती है। कवि सत्य का उद्घाटक है, शिव का संस्थापक है, सौन्दर्य का निर्माता है। कवि यथार्थ के धरातल पर खड़ा होकर आदर्श को निहारता है। उसका प्रयास यही है कि वह किसी प्रकार यथार्थ को आदर्श के निकट ले जाए। कवि समाज को निकट से देखता है, समाज के दुःख और शोक पर आँसू बहाता है और अपनी सहानुभूति और संवेदना को प्रकट करता है। कवि समाज की प्रसन्नता पर, उसके सुख पर, उसके आनन्द पर खिल उठता है, और उसे बधाई देता है। कवि जो कुछ समाज से ग्रहण करता है, वह समाज को दे देता है, जो कुछ सुनता है वह समाज को सुना देता है, जो कुछ देखता है वह समाज को दिखा देता है। कवि जब समाज की कुरीतियों और बुराइयों को देखकर तिलमिला उठता है, तो वह उपदेशक भी बन जाता है। मूक जनता की वाणी को मुखरित करने के लिये वह सन्देश-वाहक भी बन जाता है। कवि विचार धाराओं को सुरक्षित रखने वाला कोषकार है, तथा व्यष्टि और समष्टि को विकसित करने का अपूर्व माध्यम है। कवि की कविता निरन्तर बदलते हुए युग की अभिव्यक्ति है, वह युग की आत्मा और चेतना का प्रदर्शन करती है। कवि निराश व्यक्ति के सामने आशा का दीपक संजोता है, सुप्त जनता को जाग्रत करता है, निष्क्रिय को सक्रिय बनाता है। कवि द्विवेदी जी में ये सभी गुण थे, पर साथ ही वे कवि निर्माता भी थे।

द्विवेदी जी ने कविता के महान पवित्र रूप को देखा। वे प्राचीन और आधुनिक कविता के सन्धि-स्थल पर खड़े होकर दोनों ओर निहारते हैं और अपना मार्ग चयन कर लेते हैं। उन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत काव्य-लक्षणों के आधार पर निर्मित कविता को ही कविता माना है—

'सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे।

शरीर तेरा सब शब्द मात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ।

आधुनिक कविता तो द्विवेदी जी को तुकबन्दी मात्र प्रतीत होती है। ऐसी कविता को द्विवेदी जी ने कविता न कहकर तुकबन्दी या पद्य माना है, वे कहते हैं- "तुकान्त ही में कवितान्त है, यही प्रमाण कोई मतिमान मानते ।" इसी आधार पर द्विवेदी जी ने स्वयं को कवि नहीं माना है । उनका कथन है—"कविता करना आप लोग चाहे जैसा समझें, हमें तो एक तरह दुस्साध्य ही जान पड़ता है । अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का आयास किया। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनाधिकारी समझा । अतएव उस मार्ग से जाना ही प्राय: बन्द कर दिया ।" किन्तु द्विवेदी जी का यह कथन कवि सुलभ शालीनता का परिचय देता है । कालिदास ने भी अपने लिये यही कहा था—"मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्' और इसी परम्परा में हमारे सामने आते हैं तुलसीदास । वे कहते हैं—"कवि न होहुँ नहिं चतुर प्रवीना ।"

द्विवेदी जी ने 'काव्य मञ्जूषा' के नाम से अपनी कविताओं का संग्रह निकाला था, जिसमें तेतीस कविताएँ थीं । यह पुस्तक अप्राप्य थी । श्री मैथिली शरण गुप्तजी ने इस पुस्तक को पुनः प्रकाशित करना चाहा और उनकी इच्छा थी कि उनकी अन्य अप्रकाशित रचनाओं को भी छपवाना चाहिए । गुप्तजी ने अपने प्रस्ताव को सानुरोध द्विवेदी जी के सम्मुख रखा । द्विवेदी जी ने आज्ञा दी इन शब्दों में—"मुझे अपने कोई पद्य पसन्द नहीं । × × × आपकी सलाह है इससे चुनकर भेजता हूँ । नाम पुस्तक का आप ही रख दीजिए । नाम में पद्य हो काव्य या कविता नहीं । नाम बिल्कुल ही हीनता सूचक होना चाहिए ।" यह कथन भी उनकी नम्रता, शालीनता व शिष्टता का परिचय देता है । इसी पुस्तक का नाम गुप्तजी ने 'सुमन' रखा, जिसकी सुगन्ध से साहित्य वाटिका महक उठी ।

द्विवेदी जी ने कविता लिखना एक दैवी गुण माना है । कविता का निर्माण करना कवि की जन्म-जात प्रतिभा है, वह ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा है, इसीलिए कविता 'असाधारण' वस्तु है । द्विवेदी जी ने रसात्मकता को कविता का शाश्वत गुण माना है । रसात्मकता के लिए एक ओर नग्न सत्य की आवश्यकता है, तो दूसरी ओर कल्पना की । निडरता और निर्भीकता को द्विवेदी जी ने कवि का प्रमुख गुण माना है । भावाभिव्यक्ति के लिए कवि को किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार नहीं करना चाहिए । उनका कथन है—"संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसे ही वर्णन करनी चाहिए । उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं ।...... कवि के लिए कोई रोक नहीं होनी चाहिए अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता नहीं लिखनी चाहिए ।" कविता में स्वाभाविकता और सहजता को अनिवार्य माना है । बनावट

से कविता बिगड़ जाती है। बन्धन व बनावट से रसात्मकता कम पड़ जाती है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर द्विवेदीजी ने कविता का निर्माण किया। 'सुमन' पुस्तक में हमें उनकी इन्हीं मान्यताओं का परिचय मिलता है। 'सुमन' पुस्तक के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में संस्कृत की कविताएँ हैं और द्वितीय खण्ड में खड़ी बोली की। इस पुस्तक की अधिकांश रचनाओं में उनकी निर्भीकता के दर्शन होते हैं। कान्यकुब्ज लीलामृतम्, समाचारपत्रसम्पादकस्तवः, ग्रन्थकार लक्षण, विधि विडम्बना, ग्रन्थकारों से विनय, देशोपालम्भ, ठहरौनी, कान्यकुब्ज-अबला-विलाप, कान्यकुब्ज बन्धुओं से प्रार्थना आदि ऐसी ही कवितायें हैं, जिनमें द्विवेदी जी ने नग्न वा कटु सत्य का उद्घाटन अपने शब्द-चित्रों द्वारा किया है।

'कान्यकुब्जलीलामृतम्' कविता में सर्व प्रथम कवि ने कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को नमस्कार किया है और फिर क्षमायाचना करके उनके दुर्गुणों को अत्यन्त व्यंग्यात्मक भाषा में अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं—आप बड़े दयालु हैं। इससे अधिक कहिए और क्या दयालुता हो सकती है, कि मनमाना रुपया ऐंठ कर आप निंद्य से भी निंद्यों को उनकी कन्या का पाणिग्रहण करके उन्हें चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कर देते हैं। शास्त्रीय वार्ता होने पर आपकी जीभ आपके मुखार-विन्द में कीलों से जड़ सी दी जाती है, परन्तु विवाह काज की बात निकलते ही अह ! आपकी जबान एक मिनट में सौ मील के हिसाब से दौड़ने लगती है। उस समय क्या शेष महाराज आपको अपनी हजार जिह्वायें दे देते हैं, जो आपकी बातों के वेगगामी प्रवाह के सामने बड़े-बड़े वक्ताओं को भी हार माननी पड़ती है। द्विवेदीजी ने कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के पतन को देखा, उनके झूठे अभिमान को देखा और देखा कि वे आज किस प्रकार से परिवार को, समाज को, देश को दूषित कर रहे हैं। वे इस अत्याचार को सहन न कर सके। फलस्वरूप सत्य का उद्घा-टन करने के लिए कविता का निर्माण किया।

द्विवेदी जी ने समाज के उपेक्षित पात्रों को अत्यधिक महत्ता दी है। नारी भी सदैव उपेक्षित रही है, अतः द्विवेदी जी ने नारी जीवन की महत्ता दिखाने के लिए, पुरुषों को उनके अत्याचारों के प्रति सचेत करने के लिए 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' नामक कविता लिखी। नारी को विधाता ने कष्ट सहन करने के लिए ही उत्पन्न किया है, पर मर्मकृन्तकारी विपत्तिको सहन करने की भी एक सीमा होती है। नारी ने अपना सब कुछ दिया, और प्रतिदान स्वरूप ग्रहण किया—दुःख प्रताड़ना, विपत्ति, लांछना। दुखी नारी कहती है—

"महा मलिन से मलिन काम हम करती रहती हैं दिन रात,
दुःखी देख पति, पिता, पुत्र को व्याकुल हो कृश करती गात।
हे भगवान, हाय ! तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं,
"ढोल-तुल्य ताड़न-अधिकारी" हम बताई जाती हैं।"

नारी पुरुष की शक्ति है। मनुष्य के पास बुद्धि, विद्या, बल सब कुछ है, किन्तु नारी के बिना इनका कुछ भी महत्व नहीं है। नारी मनुज-रत्नों को जन्म देने वाली है, बियाबान को नन्दन बन बनाने वाली है। जहाँ नारी का आदर होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं, जहा निरादर होता है, वह घर सत्यानाश हो जाता है, परन्तु फिर भी नारी ही सबसे अधिक कष्ट झेलती है। हमें गुप्त जी की 'यशोधरा' का कथन याद आ जाता है—'दो-दो मात्रायें लेकर है नारी नर से भारी।" सहनशक्ति खण्डित होने पर वे भगवान से प्रश्न पूछती हैं :—

"हे भगवान ! भला फिर क्यों तुम हमें हाय उपजाते हो ?
क्या न हमारे लिए ठिकाना कहीं और तुम पाते हो ?
नारी नर दोनों ही जग में यदि प्रभु तुम पठाते हो,
तो कहिए किस लिए दया-मय पक्षपात दिखलाते हो।"

पुरुषों की झूठी कुलीनता को धिक्कारती हुई वे उनसे रक्षा की, लज्जा की कामना करती हैं। उन्हें 'कनवजियापन' छोड़ने के लिए कहती हैं।

कान्यकुब्ज ब्राह्मण धर्म के ठेकेदार हैं, कभी वे पूज्य थे, किन्तु आज उनकी महत्ता कम हो गई है, क्योंकि वे कर्मच्युत हो गये हैं। आज उनमें केवल कुलीनता का दम्भ है। 'कान्यकुब्ज-बन्धुओं से प्रार्थना' नामक कविता में वे इस पतन का कारण पूछते हैं, तथा उनसे प्रार्थना करते हैं, कि या तो सन्तति को शिक्षित करें या फिर ब्याह का नाम न लें। क्योंकि आज उनके लड़कों का कुमन्त्र है—

"पट्टे नहीं पहाड़ी हैं हम, टुईंयां नहीं, न गंगाराम,
बाबा हम कुलीन कनवजिया, पढ़ने-लिखने से क्या काम।

स्पष्टता और सत्यता को द्विवेदीजी ने कविता का गुण माना है। द्विवेदीजी ने कहा है—"कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए। अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा।' ऐसी ही सच्ची बातें करने वाले द्विवेदी जी स्वयं हैं।

'समाचारपत्रसम्पादकस्तवः' नामक कविता में द्विवेदी जी ने समाचार पत्र के सम्पादकों का रहस्य उद्घाटित किया है। द्विवेदी जी की यह विशेषता है, कि जिनकी पोल खोलना चाहते हैं, पहले उन्हें नमस्कार अवश्य कर लेते हैं। दुर्जन वन्दना तो हमारे यहाँ प्राचीन युग से चली आ रही है। द्विवेदी जी वन्दना करने के उपरान्त बड़ी नम्रता से तीखे व्यंग कसते हैं। वे सम्पादकों से कहते हैं कि आप साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। सारे संसार के नेत्र रूपी अपने पत्र में तीन पैर, तीन सिर, तीन हाथ के लड़के इत्यादि की अपूर्व सृष्टि आप कुतूहल से रचते हैं, अतः सम्पादक जी आप साक्षात ब्रह्मदेव हैं। अपने पत्र का मूल्य वसूल करने के लिए नाना प्रकार के उपहारों का विधि-विधान करने में आप समस्त मायावी जनों को मात करते हैं। इस कारण हम आप ही को मायामय विष्णु

भगवान का अवतार समझते हैं। अपने दोषों के ढेर को तृणवत् देखकर, दूसरों की अत्यल्प त्रुटि की आलोचना में न लिखने योग्य लेख लिख-लिख कर आप काल का नाश करते हैं, अतएव आप भयंकर महाकालेश्वर हैं।

तथाकथित सम्पादक कभी भी ईमानदारी और सच्चाई से काम नहीं कर सकते। कभी वे निन्द्य लेख अपने पत्र में छाप कर लेखक को महान सिद्ध कर देते हैं और कभी विद्वानों के लेखों को भी निन्द्य प्रमाणित कर देते हैं। सम्पादक चौर्यकला में भी चतुर होते हैं। द्विवेदी जी सम्पादकों से कहते हैं—"हमारी एक विज्ञप्ति आप अवश्य सुन लीजिए। हम आपके अच्छे के लिए कहते हैं। सम्पादकजी आप छिपे-छिपे दूसरों की पुस्तकों और पत्रों से मजमून की चोरी कभी न किया कीजिए।" बड़े ही सहज भाव से द्विवेदी जी कहते हैं—"आप मूल्य लेने में नम्रता दिखाते हैं, पत्र के उत्तर देने में मौनालम्बन करते हैं और अपने दोष दिखलाए जाने पर रुष्ट होते हैं। अच्छा कहिए तो सही, किस नीति-विशारद से आपने यह विलक्षण नीति सीखी है? सम्पादकों के कारण समाज को बहुत हानि उठानी पड़ती है। इन लोगों में आत्मसम्मान की भावना भी नहीं होती। द्विवेदी जी कहते हैं कि इससे अधिक और क्या साधुता हो सकती है कि आप पहले तो अपमान जनक लेख छापकर लोगों का अपमान करते हैं और फिर भय उपस्थित होने पर हाथ जोड़ कर क्षमा याचना भी करते हैं। 'विधि-विडम्बना' में वे विधि से सम्पादकों की ओर लक्ष्य करके कहते हैं—

"शुद्धाशुद्ध शब्द तक का जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार।"

आज मानव दोष-ग्रस्त है, समाज दोष-ग्रस्त है, क्यों? क्योंकि मानव का निर्माण करने वाला विधाता ही दोषग्रस्त है। विधि-विडम्बना में द्विवेदी जी ने विधाता के दोषों का अनावरण किया है। दोष-राशि से दूषित विधाता की करतूतें दिखलाते हुए कहते हैं कि विधाता ने विक्रम भोज आदि महान पुरुषों से भूतल भूषित किया है। काव्य-कला कुशल कालिदास व भवभूति आदि महाकवियों को अन्य लोक में पहुँचाकर कविता-वधू को विधवा कर दिया। कपिल, कणाद, पतञ्जलि, गौतम, व्यास आदि ज्ञानियों को क्षण-भंगुर बनाया है। रम्य-रूप, रस-राशि, विमल वपु, लीला-ललित, मनोहारी सब रत्नों में श्रेष्ठ शशिप्रभ कमल-कोमलांगी नारी का निर्माण किया और फिर उसे जरा-जीर्ण भी बनाया। मानव सहन करता है विधाता द्वारा किया गया उपलपात, जलपात, वज्रपात, देहपात; पर अपात्र पर किया गया पक्षपात उसके लिए दुःखदायी हो जाता है। विधाता की विचित्र प्रवृत्ति है। कटु इन्द्रायण को सुन्दर फल देता है और मधुर ईख को एक भी नहीं। पलाश को सुगन्धहीन बना दिया। काक और पिक को एक वर्ण बना दिया। वायस गलियों में घूमते हैं, और हंस कहीं दिखाई नहीं देते। सर्वत्र

कण्टक दिखाई देते हैं, कमल कुल कहीं-कहीं। मृगमद यदि दिया है, तो वह केवल पशुओं को। द्विवेदी जी ने विश्व में व्याप्त असत्यभाषी एवं अहंवादी व्यक्तियों को देखा, उनके सम्पर्क में आए और उनके कारण होने वाले अहित को देखा। ऐसे लोगों से बचना सम्भव नहीं, क्योंकि उन्हें पहचाना नहीं जाता। इसीलिए द्विवेदीजी विधाता से कहते हैं :—

"नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं,
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते हैं ?
घोर घमण्डी पुरुषों की क्यों टेढ़ी हुई न लंक
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निशंक।"

द्विवेदी जी की कलम तथाकथित ग्रन्थकारों को भी कविता का विषय बनाने से नहीं छोड़ती। 'ग्रन्थकारलक्षण' कविता में द्विवेदी जी ने ऐसे ग्रन्थकारों पर आक्षेप किया है। इस कविता की शैली बड़ी रोचक है। वे अपनी तरफ से कुछ नहीं कहते क्योंकि वे स्वयं भी ग्रन्थकार हैं। उन्हें एक माध्यम की आवश्यकता पड़ी। इस माध्यम द्वारा सुनी गई बात को वे ग्रन्थकारों तक पहुँचाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। एक प्रवासी तीर्थवासी बुद्धिराशि विद्या का वारिधि कवि के पास आता है और ग्रन्थकारों के मनोहर माहात्म्य को सुनाता है। कवि ने उसे सुना, उसका आधार लेकर ग्रन्थकारों को उनके लक्षण बताते हैं—

"शब्द शास्त्र है किसका नाम
इस झगड़े से जिन्हें न काम;
नहीं विराम चिन्ह तक रखना जिन लोगों को आता है
इधर-उधर से जोर बटोर,
लिखते हैं वे तोड़ मरोड़,
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं।"

ऐसे ग्रन्थकार नाम की प्रसिद्धि चाहते हैं; वे जानते कुछ नहीं। उनकी मति और गति नितान्त कुटिल है। भाषा पर उनका कुछ भी अधिकार नहीं। वे भाड़े पर विज्ञ-विशेष रख कर उनसे निज लेख लिखवाते हैं। ऐसे लोगों की जिह्वा तो तीक्ष्ण खर धार के समान है, किन्तु लेखनी उनके हाथ में आते ही धारहीन हो जाती है। ऐसे ग्रन्थकारों के निकट लक्ष्मी व सरस्वती दोनों ही नहीं आतीं। वे इर्षानल से जलते रहते हैं। गुरु को गाली देने में भी लज्जा अनुभव नहीं करते। ए० बी० सी० डी० का तो उन्हें ज्ञान है नहीं, किन्तु अंग्रेजी उद्धृत करने में लज्जित नहीं होते। अपने ही ग्रन्थों का विज्ञापन स्वयं लिखते हैं, अपने को व्यास और वाल्मीकि तुल्य बतलाते हैं। अपनी पुस्तकों की समीक्षा स्वयं लिखते हैं और अन्य नाम से अखबारों में छपवा देते हैं। कभी पुस्तक विक्रेता के चारों ओर घूमते हैं, कभी समालोचक के। कुछ ग्रन्थकार धनिकों की व्यर्थ बड़ाई में ग्रन्थ

लिख कर धन प्राप्त करके ग्रन्थकार गुरुओं के भी कर्णधार कहलाते हैं। ऐसे ही भारतवर्ष के ग्रन्थकार हैं। ऐसे ग्रन्थकारों से विनय करने को बाध्य हो जाते हैं। अतः 'ग्रन्थकारों से विनय' नामक कविता में वे अति विनम्र होकर ग्रन्थकारों से कहते हैं, कि सत्काव्य, इतिहास, विज्ञान और सत्पुरुषों का चरित्र अति कला-कौशल से, कुशलता से लिखिए, उसीमें देश का कल्याण है। दूसरों के चारु-विचार ले लेने में कुछ दोष नहीं है। अंग्रेजी और संस्कृत इन दोनों के 'अर्थ-रत्न' लेकर प्रेम सहित हिन्दी भाषा को अर्पण कर दीजिए। वह भक्ति-अधिकारी है, माता से भी अधिक पूज्य है। माता से जग के बीच जन्म मिलता है, किन्तु भाषा से सदा सब व्यवहार चलता है। भाषा से ही विज्ञ कीर्ति पाते हैं—

> 'इसलिए स्व-भाषा भक्ति देश-हितकारी
> कर भली भांति हूजिए पुण्य-अधिकारी,
> रचिए गुण-गौरवपूर्ण-ग्रन्थ-गण सारा,
> बस यही आपसे विनय विनीत हमारा।"

द्विवेदी जी प्रकृति प्रेमी हैं। आपने लिखा है—"कवि का काम है कि वह प्रकृति विकास को खूब ध्यान से देखे.............जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल को देखने और समझने का जितना अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।" द्विवेदी जी स्वयं एक बड़े कवि हैं, अतः वे प्रकृति के कवि हैं।

द्विवेदी जी की प्रकृति संवेदनशील है। आपने प्रकृति का सुन्दर भाव-चित्रण एवं रूप-चित्रण किया है। द्विवेदी जी की प्रकृति कोमल, मधुर व सुन्दर है। वह कभी भी भयंकर रूप धारण नहीं करती। द्विवेदी जी ने प्रकृति का आलम्बनगत और उद्दीपनगत दोनों रूपों में चित्रण किया है, किन्तु आलम्बनगत चित्रण अधिक सुन्दर और सफलता पूर्वक किया है। आपने आलम्बनगत चित्रण को अधिक महत्त्व भी दिया है। द्विवेदी जी की प्रकृति भावना-प्रधान है। 'प्रभात वर्णनम्' में प्रभात की अरुणाई के मिस शोक से रात्रि पाण्डुरता धारण कर लेती है। सूर्य से भयभीत होकर तारागण लुप्त हो जाते हैं। रात्रि का नाश देख कर चन्द्रमा पश्चिम समुद्र में डूब जाता है। रात्रि पर क्रोधित होकर सूर्य अंगारे के समान जलकर लाल हो जाता है। इस कविता में हमें सुन्दर दृष्टान्त भी मिलते हैं जैसे—सूर्य के बिम्ब को वेग के साथ आकाश से निकलते देख अन्धकार लोप हो गया। ठीक है महात्माओं के सम्मुख दुर्विनीत जन कितनी देर ठहर सकेंगे! अथवा सिंह के आते ही जैसे और सब छोटे-छोटे जंगली जीव जंगल को छोड़ कर अन्दर चले जाते हैं, वैसे ही सूर्य के भय से भीत तारागण धीरे-धीरे लोप होने लगे।

'मेघमाला प्रतिचन्द्रिकोक्ति' नामक कविता में चन्द्रिका के उद्गार हमें सुनाई

पड़ते हैं। चन्द्रिका को दुःख है कि मेघमाला अकारण ही उस पर क्रोध प्रकट करती है। चन्द्रिका बड़ी सरसता से अपना परिचय देती है—वह उस चन्द्रमा के अंग से उत्पन्न हुई है, जिसका पिता रत्नाकर है, जिसकी बहिन लक्ष्मी है, जिसका भगिनी-पति स्वयं नारायण है, जो महादेव जी के भाल पर सदैव शोभायमान रहता है। मेघमाला के क्रोध का कारण बताते हुए चन्द्रिका कहती है—मुझे जान पड़ता है कि तुझे उन्माद हो गया है, यदि उन्माद नहीं तो सन्निपात जरूर हुआ है, सन्निपात नहीं तो तेरे ऊपर कोई पिशाच सवार है। मेघमाला अनेक दोषों की भागी है। मेघमाला के कारण ही बिना पानी और अन्न के असंख्य मनुष्य क्षुधार्त होकर यमपुरी चले गये। नवीन विवाहित स्त्रियाँ विधवा हो गईं। मनुष्य बिना भाई और बाप के हो गये थे। •मेघमाला कभी पृथ्वी को जलमग्न कर प्रलय उत्पन्न कर देती है। जिस समुद्र से मेघमाला सदैव हाथ जोड़-जोड़ कर पानी लेती है, उस पर भी वज्रपात करने से नहीं चूकती। मेघमाला के कारण ही रात्रि में घना अन्धकार होता है और उस अन्धकार में अनेक व्यभिचार होते हैं, अनेक चोर चोरी करते हैं। अन्धकार के कारण बड़े-बड़े घोर सर्प रात्रि में दंश करते हैं। इतना सब करने पर भी मेघमाला का जीवन क्षणिक है। हवा का एक झोंका उसके जीवन को नष्ट करने में समर्थ है।

'कथमहं नास्तिकः' नामक कविता में कवि के धार्मिक विचार प्रकट होते हैं। घोर कट्टरता के विरोधी होने पर भी उनमें धार्मिक सहृदयता है। उन्हें ईश्वर की सत्ता में विश्वास है। ईश्वर सर्वव्यापी है, उसकी महिमा का पार पाना सम्भव नहीं है। ईश्वर महान है, वह करुणा-सागर है। फिर भी मनुष्य ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक बन जाता है। इस नास्तिकता का कारण है घोर कट्टरपन। धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार होते हैं। अनेक धार्मिक कुप्रथाएँ हैं, जिनसे मानव का अहित होता है। ऐसी ही एक प्रथा 'ठहरौनी' है। द्विवेदी जी ने 'ठहरौनी' नामक कविता में इस प्रथा के दोषों का उद्घाटन किया है।

'काककूजितम्' कविता में द्विवेदी जी ने दुष्टों का चरित्र चित्रण करने का प्रयास किया है। आज के युग में दुष्ट ही महान हैं, उन्हीं की माया चारों ओर दिखाई देती है। काक दुष्ट लोगों का प्रतीक है। कोकिल शुक, हंस, नीलकंठ आदि सज्जन लोगों के प्रतीक हैं। आज सज्जनता पर असज्जनता का राज्य है, यही दिखाने का प्रयास इस कविता में द्विवेदी जी ने किया है।

द्विवेदी जी एक राष्ट्रीय कवि हैं। आपने अपने देश और अपनी भाषा को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। देश व भाषा की उन्नति ही राष्ट्र की उन्नति है। "सन्देश', 'प्यारा वतन' 'जै जै प्यारे भारत देश', मेरे प्यारे हिन्दोस्तान', 'जन्मभूमि' आदि कवितायें देश-प्रेम को अभिव्यक्त करती हैं। भाषा का महत्त्व माता से भी बढ़ कर है। भाषा का उत्थान देश का उत्थान है। 'विधि-विडम्बना' कविता में

रागु गूजरी

१

चारि पाव दुइ सिंग गुंग मुख तब कैसे गुन गई है ।
ऊठत बैठत ठेगा परि है तब कत मूड लुकई है ॥
हरि बिनु बैल बिराने हुई है ।
फाटे नाकन टूटे काधन कोदउ को भुसु खई है ॥ १ ॥

सारो दिनु डोलत बन महीआ अजहु न पेट अघई है ।
जन भगतन को कहो न मानो कीओ अपनो पई है ॥ २ ॥

दुख सुख करत महा भ्रमि बूडो अनिक जोनि भरमई है ।
रतन जनमु खोइओ प्रभु बिसरिओ इहु अउसरु कत पई है ॥ ३ ॥

भ्रमत फिरत तेलक के कपि जिउ गति बिनु रैन बिहई है ।
कहत कबीर राम नाम बिनु मूड धुने पछुतई है ॥ ४ ॥

हरता है। जहाँ प्रजा पीड़ित होती है वहाँ मेरा शक्ति मूल है। जहाँ भेद व विरोध नहीं वहाँ मैं निडर होकर वास करती हूँ। जब शान्ति राज मिलेगा, तब कृतार्थ हो जाऊँगी।

'शिवाष्टकम्' उनकी शिव भक्ति सम्बन्धी कविता है, जिसमें उन्होंने शिव की महिमा का गान किया है। 'द्रौपदी वचन वाणावली' में द्रौपदी के क्रोध का वर्णन है। द्रौपदी ने धर्मराज के मुख से दुर्योधन की विशाल सिद्धि सुनी, वह उसे सहन न कर सकी। वह धर्मराज से कहती है, कि तेरे वंशज सुरनायक के समान तेज-निधान होते हैं, उन्होंने धरणी को आज तक अखण्ड रखा, लेकिन उसी मही को तूने इस प्रकार से फेंक दिया, जिस प्रकार महामत्त गजराज सिर से हार फेंक देता है। आज तेरी पराजय हुई है। इस पराजय का कारण यह है, कि तुम कपटी और कुटिल मनुष्यों के साथ भी सहृदय रहते हो। आज शान्त होकर बैठना तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम कार्यरत होकर अपने अधिकार को वापिस ले लो। इस कविता में द्रौपदी नारी जाति का प्रतिनिधित्व करती है। नारी पुरुष की शक्ति है, वह उसे सचेत करती है, और उसे उसके कर्तव्य का बोध कराती है।

द्विवेदी जी ने मनुष्य को महान्, सज्ञान और विवेकवान बनने का भी मार्ग बताया है। उन्होंने 'विचार करने योग्य बातें' नामक कविता में कुछ प्रश्न मानव के सामने उपस्थित किये हैं। जो इन प्रश्नों पर एकान्त में विचार करेगा, वह अवश्य महान, सज्ञान और विवेकवान बनेगा। कुछ प्रश्न हैं—"मैं कौन हूं? किस लिए यह जन्म पाया? क्या क्या विचार मन में किसने पठाया? माया किसे, मन किसे, किसको शरीर, आत्मा किसे कह रहे सब धर्म धीर।"

'सन्देश' और 'कर्तव्य पंचदशी' में भी इन्होंने मानवता के कल्याण की भावना सामने रख कर मनुष्य को सुझाव दिये हैं।

अतः इस पुस्तक में द्विवेदी जी हमारे सामने एक भक्त, एक समाज-सुधारक, एक व्यंगकार, एक कवि, एक देश भक्त, एक मार्ग दर्शक, एक साहित्य निर्माता के रूप में आते हैं। द्विवेदी जी का कौन-सा रूप अधिक निखरा हुआ है—यह हम नहीं कह सकते। उनका व्यक्तित्व सूर्य के समान है, चाहे जिस ओर से देखो प्रकाश की ही रश्मियाँ दिखाई देंगी।

*

प्रो० लीला अग्रवाल

'खड़ी बोली काव्य : द्विवेदीजी के नेतृत्व में'

'स्वर्गीय द्विवेदीजी हिन्दी वाङ्मय जगत् के एक युग प्रवर्त्तक थे। कुछ लिख पढ़ लेना तो बहुत लोग जानते हैं, परन्तु द्विवेदीजी उन इने-गिने लोगों में थे जो साहित्य ही नहीं साहित्यकों की सृष्टि करने की क्षमता रखते हैं।'

(डा० सम्पूर्णानन्द)

वस्तुत: आचार्य द्विवेदीजी एक साथ युग द्रष्टा व युग स्रष्टा थे। उन्होंने अपने युग को उसकी न्यूनताओं सहित देखा और आवश्यकतानुसार क्रान्तिकारी परिवर्तन भी किए। उनकी दृष्टि एक निर्मम चिकित्सक की दृष्टि थी, जो बुराइयों को कभी भी सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देख सकी। वे साहित्योद्यान के माली थे ; एक जागरूक व कुशल माली की भाँति सुन्दर व श्रेष्ठ साहित्यिक पौधों व पुष्पों का चयन कर साहित्योद्यान को हरा-भरा किया। केवल श्रेष्ठ पौधों की रक्षा ही नहीं की वरन् विगलित अंगों को काट-छाँटकर दूर फेंक दिया तथा श्रेष्ठ पौधों की, स्वतन्त्र रूप से विकसित करने के लिए यत्न से पानी व खाद देकर, सेवा की। द्विवेदीजी साहित्यिक की अपेक्षा श्रेष्ठ साहित्यकार-निर्माता थे। उनका योगदान आचार्य व अधिनायक के रूप में सर्वाधिक वन्दनीय है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो युग के साथ चलते हैं, तो दूसरी ओर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो युग को साथ लेकर चलते हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ऐसे ही व्यक्ति थे जो स्वयं तो अपने आदर्शों व सिद्धान्तों पर चले ही साथ ही दूसरों को भी अपने आदर्शों व सिद्धान्तों पर चलाया।

कुछ साहित्यकार ऐसे होते हैं जो गतानुगतिक विचारों व भावनाओं तथा रचनाओं की प्राचीन साँसों से बुरी तरह चिपटे रहते हैं। दूसरी ओर कुछ साहित्यानुरागी ऐसे भी होते हैं जो नवीनता को, नये ढंग की रचनाओं व प्रवृत्तियों को सहानुभूति की दृष्टि से अवश्य देखते हैं तथा नवसृजन की ओर प्रयास भी करते हैं, पर कुछ साहित्यानुरागी ऐसे भी होते हैं, जिनकी दृष्टि यह पहचान लेती है कि पिछला युग अब समाप्त हो चुका है, पुराने विचारों व पुरानी परम्पराओं को छोड़ नवीन को अपनाना ही होगा। इसी तीसरे वर्ग में आते हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी।

प्रो० सुधीन्द्र का यह कथन द्विवेदी जी पर पूर्ण रूपेण खरा उतरता है :—

"बीसवीं शताब्दी के साथ-साथ साहित्यिक क्षितिज पर इस सूर्य (द्विवेदी जी) का अरुणोदय हुआ और तुरन्त इस उदयादित्य ने आलोक वृत्त का निर्माण किया। आचार्य श्री ने केन्द्र में रहकर अपने वृत्त के ज्योतिष्क पिण्डों को पोषण और प्रकाश दिया और वाङ्मय के सभी कक्ष विविध प्रतिभाओं से उद्भासित हो उठे।"

द्विवेदी जी के साहित्यिक क्षितिज पर आने के पूर्व भारतेन्दु नवीन क्रान्ति का सूत्रपात कर चुके थे, नवीन विषयों की ओर संकेत भी कर चुके थे, भाषा परिवर्तन के भी इच्छुक थे, पर व्यावहारिक रूप में काव्य में उतनी क्रान्ति उपस्थित न कर सके, जितनी कि सिद्धान्त रूप में करने के इच्छुक थे। अन्तरंग में नवीनता लाकर उनके युगने कविता को जीवन की कविता तो बना दिया, परन्तु उसका माध्यम ब्रज-वाणी ही बनी रही। भारतेन्दु ने स्वयं स्वीकार किया है—

'मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरी चिन्तानुसार नहीं बनी, इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है।'

अतएव काव्य की भाषा तो ब्रज-भाषा ही बनी रही, और जहाँ तक विषय वस्तु का प्रश्न है, वहाँ भी नवीनता व विविधता के दर्शन उनके नाटकों में आई कविताओं अथवा विशेष अवसरों पर—जैसे प्रिंस ऑफ वेल्स (पीछे सम्राट् सप्तम एडवर्ड) का आगमन, मिस्र पर भारतीय सेना द्वारा ब्रिटिश सरकार की विजय लिखी गई कविताओं में ही उपलब्ध होते हैं। स्वतन्त्र रूप से जिन कविताओं का प्रणयन हुआ वे तो अब भी चिर परिचित भक्ति व रीतिकालीन परम्परा का ही अनुसरण कर रही थीं।

नाटकों में जहाँ कवि भारतेन्दु नवीन भावों से ओतप्रोत सजग कलाकार के रूप में सम्मुख आते हैं —

'अंगरेज-राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥'

वहीं स्वतन्त्र कविताओं में अब भी भक्ति व रीतिकालीन धारा बहाते दिखाई पड़ते हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि अष्टछाप का नवम् स्वर गूंज उठा है—

'रहैं क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि रस छायौ, तिहिं क्यों भावै कोय॥
जा तन-मन में रमि रहै मोहन, तहाँ ग्यान क्यों आवै।
चाहै जितनी बात प्रबोधौ, ह्याँ को, जो पतियावै॥

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा, भाव, विषय-वस्तु, छन्द और काव्य रूप सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए।

जिस समय आचार्य द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आए, उस समय तक

बिहार के श्री अयोध्या प्रसाद खत्री खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने का नारा अवश्य बुलन्द कर चुके थे और श्रीधर पाठक भी 'एकान्तवासी योगी'[1] के माध्यम से इसका व्यावहारिक स्वरूप भी प्रस्तुत कर चुके थे, फिर भी उस समय तक ऐसी कोई सशक्त शक्ति सम्मुख नहीं आ पाई थी जो इस प्रवृत्ति व धारा को उचित और तीव्र प्रवाह दे सके। इसी सशक्त शक्ति के रूप में सम्मुख आए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी।

द्विवेदी जी ने पहले पाठक जी की भाँति खड़ी बोली के माध्यम से कविता की सृष्टि की तथा अपनी क्षमताओं का निरीक्षण-परीक्षण किया। कविता का माध्यम एक अप्रचलित भाषा को बनाने पर जो कठिनाइयाँ आने वाली थीं, उनका आभास उन्हें मिल गया था, अतः उन्होंने दूसरा कार्य काव्य-रीति का प्रतिपादन किया। कविता के लिए विषय और छन्द तथा अर्थ का विधान भी उन्होंने दिया। यह परोक्ष नेतृत्व शीघ्र ही प्रत्यक्ष नेतृत्व में प्रतिफलित हो गया।

जुलाई १६०१ में 'सरस्वती' के पृष्ठों में द्विवेदी जी का यह आचार्योचित निर्देशन 'कवि कर्त्तव्य' के रूप में सम्मुख आया। यह कवि कर्त्तव्य वस्तुतः भावी सूत्र संचालन के लिए द्विवेदी जी की घोषणा है। इसमें द्विवेदी जी के सभी विचार व सिद्धान्त अत्यन्त सरल भाषा व सुलझे हुए रूप में पाठकों व लेखकों के सम्मुख आए। गतानुगतिकता पर घोर प्रहार करके प्रगति का पथ दिखलाने वाले 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक लेख में हिन्दी कवियों को कविता के अन्तरंग व बाह्य उपकरणों के विषय में आदेश-निर्देश हैं।

सन् १६०३ से १६२० तक का समय द्विवेदी जी के सम्पादनकाल का समय है। इस काल में उन्होंने बड़ी योग्यता से 'सरस्वती' का सम्पादन किया, साथ ही अपने सिद्धान्तों व विचारों को कार्य रूप में परिणत करने और कराने का भी प्रयास किया। द्विवेदी जी ने समय-समय पर कवियों को जो निर्देश दिए, उनके फलस्वरूप द्विवेदी जी का सरस्वती के लिये एक कवि-वर्ग तैयार हो गया था, जो बराबर उनके निर्देशन, आचार्यत्व और सम्पादकत्व में काव्य-साधना करता रहा तथा द्विवेदी जी के विचारों, स्वप्नों व आदर्शों को कार्य रूप में परिणत करता रहा।

सरस्वती के लिए लिखने वाले द्विवेदी युग के कवियों को हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

प्रथम वर्ग तो उन कवियों का है जो पहले से ही काव्य-साधना में रत थे और द्विवेदी जी के सम्पर्क में आने के पश्चात् उनके सिद्धान्तों व विचारों के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयत्न करने लगे तथा कालान्तर में सफल भी हुए। इन कवियों में प्रमुख हैं—

१—'एकान्तवासी योगी' तृतीय बार १८६६ में राजपूत ऐंग्लो ओरिएण्टल प्रेस, आगरा से प्रकाशित हुआ।

श्रीधर पाठक, अयोध्या सिंह 'हरिऔध', रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', नाथूरामशंकर शर्मा, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार आदि।

द्वितीय वर्ग उन कवियों का है जो द्विवेदी जी के प्रसाद व आशीर्वाद से ही पनपे तथा जीवन भर उनके आदर्शों पर ही चलते रहे। इनमें शीर्ष स्थान श्री मैथिलीशरण गुप्त का है। अन्य प्रमुख कवि हैं—

सर्वश्री कामताप्रसाद गुरु, रामचरित उपाध्याय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त, रूपनारायण पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय, लक्ष्मीधर बाजपेयी तथा गोपालशरण सिंह।

तृतीय वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने परोक्ष प्रभाव ग्रहण किया। इनमें प्रमुख हैं—

श्री गिरिधर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, बदरीनाथ भट्ट आदि।

हमारे निबन्ध का विषय यही है कि यह कवि वर्ग किस प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के आचार्यत्व व निर्देशन में पनपा तथा अन्त तक उनके आदर्शों पर चलता रहा।

द्विवेदी जी का सर्वाधिक क्रान्तिकारी कदम यही था कि काव्य की भाषा भी गद्य की भाँति खड़ी बोली हो। 'कवि कर्त्तव्य' शीर्षक लेख में उनकी स्पष्ट घोषणा है—

"गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। यह एक हिन्दी ही ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।'[१]

यद्यपि इसके पूर्व भी इस आन्दोलन का सूत्रपात हो चुका था, पर उसे गति व प्रवाह न मिल सका था, द्विवेदीजी ने सरस्वती के माध्यम से उस आन्दोलन को गति दी। युग-द्रष्टा आचार्य अच्छी तरह जानते थे कि—

'किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा ब्रज भाषा की कविता को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि क्रम-क्रम से वे गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करें। क्योंकि बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।'

यही कारण है कि द्विवेदीजी सर्वदा इसी बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि 'सरस्वती' में उन्हीं कविताओं को स्थान दें जो खड़ी बोली हिन्दी में लिखी गई हैं। यद्यपि ब्रज भाषा की कविताओं का भी एकाएक पूर्ण बहिष्कार नहीं किया, पर प्रयत्न सदैव खड़ी बोली हिन्दी की रचनाओं के लिए ही रहा, फलस्वरूप ब्रज-

---

१-कवि कर्त्तव्य-१९०१ जुलाई में प्रकाशित।

हेमंत–परिचय

हेमंत शीत प्रधान ऋतु है। यद्यपि शीत का आरंभ शरद ऋतु मे हो जाता है, तथापि उसका उन्नत रूप हेमंत मे ही दिखलायी देता है। यदि शरद मे शीत का बाल्य काल है, तो हेमत मे उसका पूर्ण यौवन काल होता है।

शरद मे निर्मल आकाश और उज्ज्वल चद्र–चंद्रिका का महत्व है, जिनके कारण शरद–यामिनी सब के लिए अत्यंत सुखद और आनददायक ज्ञात होती है, किंतु हेमत मे तुषार के आधिक्य के कारण न तो आकाश ही अधिक स्वच्छ रहता है, और न चद्रमा ही विशेष प्रकाशवान दिखलायी देता है। इसके साथ ही कड़ाके का जाड़ा और सनसनाती हुई बर्फीली वायु के कारण हेमंत की लंबी रातें जन–साधारण के लिए कष्टकर बन जाती हैं।

हेमत की लंबी रातों से ऊब कर सब लोग सूर्योदय की बड़ी उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। जैसे–तैसे सूर्य निकलता है, किंतु उसकी किरणों में स्वाभाविक ऊष्मा नहीं होती है। राजा–रंक, अमीर–गरीब सब शीत के कष्ट से मुक्ति पाने के लिए सूर्य की शरण मे जाते हैं, किंतु वहाँ पर भी उनकी मनोभिलाषा की कठिनता से पूर्ति होती है। दो पहर दिन चढ़ने पर सूर्य की किरणों में कुछ तेजी आती है, तब कहीं धूप में बैठना सार्थक होता है। इस प्रकार सूर्य–सेवन का सुखानुभव कुछ ही समय के लिए होता है कि दिनकर भगवान् अस्ताचल की ओर जाने की तैयारी करने लगते हैं। बात की बात में दिन समाप्त हो जाता है और फिर वड़ी भयावनी लंबी रात आरंभ हो जाती है।

इस प्रकार हेमत ऋतु अपनी कठोरता के कारण सब के लिए कष्टदायक है, किंतु जिन सम्पन्न व्यक्तियों को शीत निवारक सर्व साधन सुलभ हैं, वे इस ऋतु में भी सुख का अनुभव करते हैं। ब्रजभाषा कवियों ने इस प्रकार की साधन–सामग्री और उसके उपभोग का बड़े ठाट–वाट से वर्णन किया है।

ब्रजभाषा काव्य में हेमंत जनित कष्ट से छुटकारा पाने वाले साधनों में पंच तकार का विशेष वर्णन मिलता है। पंच तकार तरुणी, तांबूल, तैल, तूल और तरणि बतलाये गये हैं। तरुणी स्त्री का सहवास, बढ़िया मसालों से बने हुए तांबूल का चर्वण, तैल–मर्दन, तूल अर्थात् रुई के वस्त्रों का धारण और तरणि अर्थात् सूर्य की धूप का सेवन–ये वे साधन हैं, जिनका विलासी जन

बीजुरी जोति धुरा फहरै
घन गर्जन शब्द सोई हैं नगारे।[1]

सन् १९०२ में भी अधिकांश कविताएँ ब्रज-भाषा में ही हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी अवश्य सरस्वती में बराबर खड़ी बोली में लिखते रहे पर उनके अलावा एकाध कवि को छोड़कर सभी ने ब्रज-भाषा में रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

कन्हैयालाल पोद्दार, रायदेवी प्रसाद पूर्ण आदि कविगण ब्रज-भाषा से प्रारम्भ करके खड़ी बोली के पथ पर अग्रसर हुए।

सन् १९०२ में प्रकाशित कन्हैयालाल पोद्दार के 'गोपीगीत' में मिश्रित भाषा के दर्शन होते हैं—

विपिन जात जब ना दिखाते हो,
पल वही हमैं युग समान हो।
कलित अलकमू देखतैं तुम्हैं,
जड़ विधी अहो! पल्क द्दक कियै।[2]

लेकिन १९०३ में प्रकाशित 'अन्योक्ति दशक' में खड़ी बोली के दर्शन होने लगते हैं—

'जो भृङ्ग मत्तगज के मद से बढ़े थे,
उत्फुल्ल-कञ्ज-रज-सौरभ में बसे थे।
काटैं वही दिवस हा! अब दैव भारे;
निम्बादि-वृक्ष-वन-बीच छिपे बिचारे॥'[3]

इसी प्रकार बागीश्वर मिश्र की 'प्रचण्ड प्रभाकर' व 'प्रचण्ड मार्तण्ड' खड़ी बोली में है। श्रीधर पाठक के 'वर्षा ऋतु वर्णन' में खड़ी बोली व ब्रज-भाषा का मिश्रित स्वरूप है।

गौरीदत्त बाजपेयी की 'आशीर्वाद' कविता (१९०३ में प्रकाशित) शुद्ध खड़ी बोली में है—

फिर मिलना हम दोनों का
हे प्रिये! कठिन दिखलाता है,
चिरंजीव तुम रहो, यहीं अब
मन मुझसे कहलाता है।

इस प्रकार हम १९०२ व १९०३ में स्पष्ट विभाजक प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं। १९०२ में जहाँ ब्रज-भाषा का बोलवाला था वहीं १९०३ में उसका स्थान खड़ी बोली छीन रही थी।

---

१ सरस्वती, १९०१ जून, पृष्ठ १८९। २ सरस्वती, सन् १९०२ पृष्ठ ३५२
३ सरस्वती सन् १९०३, सितम्बर, पृष्ठ ३०५।

सन् १९०४ में तो कन्हैयालाल पोद्दार की 'कोकिल' कविता में शुद्ध खड़ी बोली के दर्शन होते हैं—

अति-मधुर-रसीला शब्द तू है सुनाती ;
रसिक-जन सभी तू नींद से है जगाती ।

इसके बाद पोद्दारजी बराबर खड़ी बोली में लिखते रहे ।

रायदेवी प्रसाद पूर्ण भी कन्हैयालाल पोद्दार की भाँति ब्रज-भाषा से आरम्भ करके खड़ी बोली के पथ पर गतिवान हुए हैं । १९०३ में 'चातक सन्ताप', 'अविवेकी मेघ', 'वर्षा का आगमन' आदि ब्रज-भाषा में रचनाएँ प्रस्तुत कीं, १९०४ में 'शरद वर्णन' कविता सम्मुख आई, इसमें भी खड़ी बोली के दर्शन नहीं हुए, पर १९१२ में 'दरबार दर्शन' नामक कविता तीन भागों में प्रकाशित हुई और इसमें शुद्ध व परिमार्जित खड़ी बोली के दर्शन हुए—

जले हैं आज करोड़ों दीप, हुआ है दिन के सदृश प्रकाश,
उधर है तारों का सामान, भूमि सम है जगमग आकाश ।
सुपावन भरत खण्ड का आज हुआ दुनिया में रोशन नाम,
करे सब पूर्ण सच्चिदानन्द प्रजावत्सल भूपति के काम ।

इस प्रकार द्विवेदीजी के आदर्शों के अनुरूप एक कवि वर्ग अपनी प्राचीन व प्रतिष्ठित् भाषा ब्रज-भाषा को छोड़ कर धीरे-धीरे खड़ी बोली को अपना रहा था ।

दूसरी ओर एक और कवि वर्ग था, जो आचार्य जी के प्रसाद व आशीर्वाद से पनपा तथा उनके आदर्शों पर चलता रहा । इस वर्ग के कवियों ने प्रारम्भ से ही खड़ी बोली में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं । इनमें मूर्धन्य कवि हैं—श्री मैथिली शरण गुप्त । इनके अतिरिक्त श्री सियारामशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह आदि ने प्रारम्भ से ही खड़ी बोली में कविताएँ कीं ।

गुप्तजी की सरस्वती में प्रकाशित प्रथम कविता हेमन्त (१९०५ में) खड़ी बोली में है—

हुआ हिमाच्छादित सूर्यमण्डल;
समीर सीरी बहती अखण्डल ।
प्रियंगु के पेड़ प्रफुल्ल हो चले ;
हरे-हरे अंकुर खेत में भले ।

इनके अतिरिक्त गिरिधर शर्मा का 'कलंकी को ऐड्रस' (१९०५) में भी खड़ी बोली में लिखा गया है ।

इसके बाद से ये सभी कवि बराबर खड़ी बोली में लिखते रहे, यद्यपि स्फुट प्रयत्न ब्रजभाषा के भी यत्र-तत्र दिखाई पड़े, पर वे नगण्य थे ।

श्री द्विवेदी जी की दृष्टि संस्कृत के सभी कृति कवियों (कालिदास, दंडी,

सोंह न देखि सकनि डीठि-डर नखसिख बने नवल छबि-ऐन ।
आनँदघन प्राननि पोखत हौं बोलि अमीनिधि बैन ॥

विरह-व्यथा] (१३) [इकताल

प्रान मेरे तुम संग लागि रहे ब्रजमोहन ।
इतने पै घर ही में जीवति ए अपराधी तजत न गोहन ।
सब विधि तुम्हें सुखी चाहति है स्याम सुजान सुभाय की सोंहन ।
अपने पपीहनि राखि लीजियै आनँदघन पिय विरह-बिछोहन ॥

विरुद्-रक्षा] (१४) [झपताल

विरुदैं सुमिरि बेसँभारनि सँभारौ ।
अकारन-करुन, कहा करनी निहारौ ।
सुकृती कुसल ह्वै मिलौं तुमहिं तौ कहौ या विधि कृपानिधि पलै पन तिहारौ ।
संकटहरन प्रभु प्रभाव कित दुरि रह्यौ दलमलत दीन यह प्रबल मतवारौ ।
ताप-आतप तलफि बिलखि मुरझात जन नाम आनँदघन कौन हित धारौ ॥

यमुना-प्रशस्ति] (१५) [तालजात्रा

तरनितनूजा तोहि तकौं ।
चंचलता तजि भजि नँदलालै मन करि तेरे तीर थकौं ।
धीर-समीर सुदेस ठावँ ठिक ठहरि भला विधि पनहिं पकौं ।
सावकास ह्वै घनी घुटनि तें बिसद पुलिन मँडराय सकौं ।
सरस सिँगार सुदेस स्याम कौं लखि चखि मादिक-रूप छकौं ।
निरवधि रस की रासि रसीली तरल तरंगनि संग बकौं ।
उघरि परौं अनुराग-उमँग मैं नाद-बिवस मरजाद ढकौं ।
ब्रज-नववधू-बिमोहन लीला लटकि एक टक टेक टकौं ।
एरी कुँवरि कलिंदनंदनी बिनती बिरचि बिचारि चकौं ।
महिमा अमित कृपा आनँदघन चोपनि चातक जलपि जकौं ।

युक्त । [१३] गोहन = साथ । सोंह = शपथ । [१४] हित = लिए । [१५] सावकास० = छूटकर । मादिक० = सौंदर्यरूप मदिरा । ढकौं = धारण करूँ ।

नहीं उमंगित हुआ, वृथा है
उसका पृथ्वी पर जीवन ॥ [1]

(अनुवादक—गौरीदत्त बाजपेयी)

इसी तरह अनेक रचनाएँ सम्मुख आईं। गंगासहाय की 'तरुणी' (१९०४, दिसम्बर)अंगरेजी कवि बाइरन की 'वुमन' के आधार पर है। कालीशंकर व्यास की 'मित्रता' अंगरेजी कवि शेक्सपियर की 'फ्रेंडशिप' का भावार्थ है।

इन अनूदित रचनाओं में खड़ी बोली का उदीयमान सौष्ठव दिखाई देता है। इन्हें केवल शाब्दिक अनुवाद नहीं कह सकते। इनमें पर्याप्त भाव स्वतन्त्रता भी है।

सरस्वती के प्रारम्भिक वर्षों में संस्कृत ग्रन्थों से अनुवाद का अम्बार-सा लग गया था। 'अन्योक्ति दशक'[2] (कन्हैयालालपोद्दार) 'वर्षा ऋतु वर्णन'[3] (श्रीधर पाठक) 'अन्योक्ति पंचक'[4] (श्रीधर पाठक) 'वसन्त वर्णन'[5] (श्रीधर पाठक—कालिदास के ऋतु संहार से) 'संध्या वर्णन'[6] (गुप्त जी—शिशुपाल वध से) 'अन्योक्ति सप्तक'[7] (गुप्त जी—संस्कृत से अनुवाद) 'महाकवि भारवि का शरद्वर्णन'[8] (पण्डित गिरिधर शर्मा) आदि रचनाएँ सम्मुख आईं।

द्विवेदीजी ने अपने 'कविकर्त्तव्य' शीर्षक निबन्ध में संस्कृत के वर्णवृत्तों को अपनाने का भी आग्रह दिखाया—

'हम समझते हैं कि दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इनके अतिरिक्त और भी छन्द वे लिखा करें। हम यह नहीं कहते कि ये छन्द नितान्त परित्यक्त ही कर दिये जायँ। हमारा अभिप्राय यह है कि इनके साथ साथ संस्कृत काव्यों में प्रयोग किए गए वृत्तों में से दो चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी हिन्दी में प्रचार किया जाय। इन वृत्तों में से द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और वसन्ततिलका आदि वृत ऐसे हैं जिनका प्रचार भाषा में होने से भाषा-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी [9]।'

'महिम्न स्तोत्र' 'बिहार बाटिका' और 'ऋतु तरंगिणी' आदि काव्यों में द्विवेदी जी ने संस्कृत के प्राय: सभी प्रसिद्ध गणवृत्तों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ शिखरिणी, भुजंग प्रयात, मालिनी, शार्दूलविक्रीड़ित, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता

---

१ सरस्वती १९०४, दिसम्बर, पृष्ठ ४२४।
२ १९०३। ३ १९०३, कालिदास के ऋतु संहार से
४ १९०४, भामिनी विलास से। ५ १९०५। ६ १९१० फरवरी
७ सरस्वती सन् १९११ जनवरी, पृष्ठ २३
८ सरस्वती सन् १९०५ अक्टूबर पृष्ठ ३७३
९ सरस्वती सन् १९०१ जुलाई पृष्ठ २३३

उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा आदि।

'देवी-स्तुति-शतक' में आद्योपान्त वसन्ततिलका वृत्त का ही प्रयोग है। इन्हीं वृत्तों का प्रयोग संस्कृत कविताओं में हुआ है। द्विवेदीजी ने इस प्रकार मराठी भाषा के काव्य की स्पर्द्धा में संस्कृत काव्य परम्परा का सम्पूर्ण छन्द विधान हिन्दी कविता में पुनः प्रतिष्ठित किया।

ब्रज भाषा में अनेक वर्णिक छन्द लिखकर द्विवेदीजी ने नवीन शताब्दी के प्रथम वर्ष के साथ 'हे कविते !' से खड़ी बोली में भी वर्णिक छन्द विधान की परम्परा चलाई। 'हे कविते ! ' में कवि का पूर्ण कर्तृत्व प्रकट हो गया है। संस्कृत वर्णिक छन्द का प्रयोग खड़ी बोली का माध्यम और कविता के स्वरूप में नवीन कविता का संकेत—तीनों के उसमें दर्शन उपलब्ध होते हैं।

इस वर्णिक छन्द परम्परा का पालन इस युग के सभी कवियों ने किया। रायदेवी प्रसाद पूर्ण, सीताराम भूप, कन्हैयालाल पोद्दार आदि कवि कालिदास, भारवि आदि कृति-कवियों के काव्यांशों को हिन्दी कविता में रूपान्तरित करते थे और कभी-कभी तो मूल काव्य के वृत्त में ही अनुवाद भी होता था। हिन्दी काव्याकाश में द्रुतविलम्बित, मालिनी, वंशस्थ, शिखरिणी, वसन्ततिलका आदि में अनेक रचनाएं सम्मुख आईं।

श्री मैथिली शरण गुप्त ने भी वर्णवृत्तों में अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं। 'महाराणा राजसिंह का पत्र [१] " (औरंगजेब के नाम) मन्दाक्रान्ता छन्द में, "महाराज पृथ्वीराज का पत्र [२] " (महाराज प्रताप सिंह के नाम) स्रग्धरा छन्द में तथा औरंगजेब का पत्र [३] " (पुत्र के नाम) मालिनी छन्द में प्रकाशित हुआ—

'औरंगजेब का पत्र' (पुत्र के नाम)—

"प्रिय सुत ! अब मेरा आ गया काल सा है;
इस समय तुम्हारी भेंट की लालसा है।
तनु शिथिल हुआ है; क्षीणता छा गई है;
अति जटिल जरा की जीर्णता आ गई है॥"

सन् १९१४ में प्रकाशित "स्वर्गीय संगीत" भी वर्ण्य वृत्तों में ही है।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' में तो आद्योपान्त वर्ण वृत्त के ही दर्शन होते हैं। ग्रन्थ का आरम्भ ही द्रुतविलिम्बित छन्द से होता है—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी - कुल - वल्लभ की प्रभा॥ [४]

१—सरस्वती सन् १९१२ फरवरी २—सरस्वती सन् १९१२ मार्च
३—सरस्वती सन् १९१२ अप्रैल ४—प्रियप्रवास, पृष्ठ १

पर संस्कृत काव्य में छन्द अन्त्यानुप्रास से मुक्त था। हिन्दी के कवि इस मोह को शीघ्र न छोड़ सके। इस काल के सभी कवियों ने प्राय: अन्त्यानुप्रास युक्त गण-वृत्तों का प्रयोग किया है। श्री मैथिली शरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पाण्डेय, गिरिधर शर्मा आदि ने राशि राशि रचनाएँ ऐसे वर्णिक छन्द में कीं जिनमें अन्त्यानुप्रास का बन्धन अक्षुण्ण है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अन्त्यानुप्रासहीन छन्द लिखने के लिए कवियों का आह्वान किया। 'कवि कर्त्तव्य' निबन्ध में लिखते हैं—

'हमारा यह मत है कि पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द भी भाषा में लिखे जाने चाहिए, इस प्रकार के छन्द जब संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला में विद्यमान हैं तब, कोई कारण नहीं, कि हमारी भाषा में वे न लिखे जायँ। ....अतएव पादान्त में अनुप्रासहीन छन्द भाषा में लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है'। [1]

फलस्वरूप अन्त्यानुप्रास-हीन रचनाएं भी सरस्वती के माध्यम से हमारे सम्मुख आईं। सन् १९१३ मार्च में रूपनारायण पाण्डेय की 'तिलांजलि' नामक रचना अन्त्यानुप्रास-हीन छन्द में सम्मुख आई —

> 'जल गया स्थूल नश्वर शरीर, तो उससे फिर क्या होता है ?
> होता है हिन्दू लोगों में नश्वर शरीर-सम्बन्ध नहीं।
> आत्मा अविनाशी माना है, सच्चा उसका ही नाता है।
> परमात्मा तुम को सद्गति दे, मुझको भी तुम सी फिर जाया ॥ [2]

इसके अतिरिक्त और भी रचनाएं सम्मुख आईं। अन्त्यानुप्रास के बन्धन का पूर्ण उच्छेद करते हुए संस्कृत वृत्त प्रणाली का पूर्ण परिपालन अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' में किया। अतुकान्त गणवृत्तों में उनका 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य इस युग की एक महान देन है।

'प्रियप्रवास' की इस छन्द रीति पर ही द्विवेदी काल के दूसरे प्रसिद्ध कवि रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित चिन्तामणि' के कुछ सर्गों की रचना की। आचार्य जी का निर्देश था कि विषय के अनुकूल छन्दों की योजना होनी चाहिए। 'प्रियप्रवास' महाकाव्य में सर्वत्र विषय के अनुकूल छन्द का प्रयोग किया गया है।

भाषा की सरलता व सुबोधता पर आचार्यजी ने सर्वदा बल दिया—

"कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ कर अर्थ हृदयंगम कर सकें। पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में जी लगता है।" [3]

यही कारण है कि द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मक व वर्णनात्मक रचनाओं की

---

१ सरस्वती, १९०१ जुलाई, पृष्ठ २३४। २ सरस्वती, १९१३ मार्च पृष्ठ १५५
३ सरस्वती १९०१ 'कवि कर्त्तव्य' लेख। ४ वही

बाढ़-सी आ गई और द्विवेदी युग के बाद तक भी द्विवेदी युग के कवि इतिवृत्तात्मक वर्णनात्मक रचनाएं ही प्रस्तुत करते रहे। श्री मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, गोपाल शरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पाण्डेय आदि सभी की रचनाओं में वर्णनात्मकता व इतिवृत्तात्मकता के ही दर्शन होते हैं। गुप्तजी यद्यपि जयद्रथ-वध, यशोधरा, विष्णु-प्रिया जैसे खण्ड काव्य और 'साकेत' जैसा महा-काव्य हिन्दी साहित्य जगत को दे चुके हैं, फिर भी उनकी रचनाओं में वही सरलता व सुबोधता अब भी बनी हुई है जिसके कि आकांक्षी आचार्य जी थे। 'साकेत' का एक अंश देखिये—

'भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया!
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।'

कितनी बड़ी बात कितनी सरल व सुबोध भाषा में पाठकों के सम्मुख रख दी। सियाराम शरण गुप्त में भी इसी विशेषता के दर्शन होते हैं।

इनके 'मौर्य-विजय' नामक खण्ड काव्य में भी सर्वत्र सरलता व सुबोधता बनी हुई है। रामचरित उपाध्याय के 'मुक्ति मन्दिर' में गीता का मर्म सरल व सुबोध भाषा में कृष्ण के मुख से अर्जुन को सुनते हुए पढ़ते हैं।

भाषा की सरलता व सुबोधता के साथ-साथ आचार्यजी ने 'अर्थ-सौरस्य' पर भी पर्याप्त बल दिया। द्विवेदीजी अर्थ-सौरस्य को ही कविता का प्राणतत्त्व मानते हैं, अतः वर्णित विषय व भाव के साथ कवि हृदय के तादात्म्य पर विशेष बल देते हैं—

'अर्थ सौरस्य ही कविता का जीवन है। जिस पद्य में अर्थ का चमत्कार नहीं वह कविता ही नहीं। कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होनेसे अर्थ-सौरस्य नहीं आ सकता; विलाप वर्णन करने में कवि के मन में यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वयं विलाप कर रहा है और वर्णित दुःख का स्वयं अनुभव कर रहा है।'[१]

यह गुण द्विवेदी मण्डल के प्रायः सभी कवियों में प्राप्त होता है, पर मैथिली-शरण गुप्त का इस ओर विशेष अनुराग पाते हैं। 'शकुन्तला को कण्व का आशी-र्वाद' में कवि का हृदय ऋषि कण्व के हृदय से पूर्णतः एकाकार हो गया है। आज शकुन्तला की विदाई है, ऋषि भी गृहस्थ के ही समान दुःख से विह्वल हो रहे हैं। इसी तरह 'यशोधरा' खण्ड काव्य में कवि यशोधरा के हृदय की विह्वलता व दुःख में एकाकार हो उसके सुर में सुर मिलाकर कहते हैं—

१ सरस्वती १६०१ 'कवि कर्त्तव्य' लेख

सिद्धि हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात ;
पर चोरी-चोरी गये यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझ से कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?[1]

काव्य के विषय क्या हों ? किस प्रकार के हों ? इस पर भी आचार्य जी ने स्पष्ट सम्मति दी है। वे संसार के किसी भी भाव, किसी भी विषय को काव्य-विषय के रूप में स्वीकार करने को तत्पर हैं, पर शर्त यह कि वह विषय मनोरंजक व उपदेशजनक अवश्य होना चाहिए।

भाषा में यद्यपि एकता की प्रतिष्ठा हो रही थी, पर विषय में छन्द की भाँति अनेकता व विविधता थी। द्विवेदीजी ने कविता का एकमात्र पिष्टपेषित विषय निषिद्ध कर दिया था। उनकी स्पष्ट घोषणा थी—'कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए।[2]

रीति युगीन रूढ़िग्रस्त काव्य-विषय के विरोध में उन्होंने कहा—'यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी-पर्यन्त पशु ; भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य ; बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल ; अनन्त आकाश; अनन्त पृथ्वी; अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है ; सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरमसीमा समझते हैं।[3]

यही कारण है कि द्विवेदी-मण्डल के कवियों में मनोरंजकता से भी अधिक उपदेशात्मकता की झलक उपलब्ध हुई। सभी कवि ; कवि से अधिक उपदेशक के रूप में सम्मुख आए।

जनार्दन झा की 'शिक्षा-शतक' कविता शुद्ध उपदेश से भरी हुई है—

'बाकी रहे घड़ी दो रात।
उठ बैठो तब जान प्रभात॥
भक्ति सहित लो हरि का नाम।
सोचो अर्थ, धर्म का काम॥[4]'

---

१ यशोधरा, पृष्ठ २४

२ सरस्वती १९०१ जुलाई, 'कविकर्त्तव्य' पृष्ठ २३७।

३ सरस्वती १९०१ जुलाई, 'कवि कर्त्तव्य' पृष्ठ २३७।

४ सरस्वती १९०४ नवम्बर पृष्ठ ३७४।

इसी तरह रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' की 'मृत्युंजय'[1] कविता में मृत्यु की काल-करालता का वर्णन है, तथा यह बताया है कि उससे कोई भी बच नहीं सकता, लेकिन ज्ञानी पुरुष मृत्यु के भय से ऊपर उठ जाते हैं। नाथूराम शंकर शर्मा की 'उद्बोधनाष्टक'[2], 'सदुपदेश'[3] आदि प्रसिद्ध उपदेश-परक कविताएँ हैं। लोचनप्रसाद पाण्डेय 'आदर्श-जीवन में कर्त्तव्य-पथ' को गहने को कहते हैं—

'पंजर-बक कीर' में कवि गुप्त जी कीर के काज से उन मनुष्यों को सन्देश देते हैं, जो गुलामी में ही संसार का सारा ऐश्वर्य व सुख समझे बैठे हैं। कीर को राजा के यहाँ सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, फिर भी कवि सावधान करते हुए कहता है—'

'भूप और भुजंगमों का साथ एक समान है।
चूक होने पर कहीं भी फिर नहीं कल्याण है।[4]'

जिस कीर पर राजा को तनिक भी विश्वास नहीं, जिसके दोनों पक्ष राजा ने काट दिए, उसी राजा से कीर इतना सन्तुष्ट है, इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है—

'निकल जाय न हाथ से तू कर हृदय में लक्ष ये,
काटता है नाथ तेरे कीर! दोनों पक्ष ये।
हाय! इतना भी जिसे तेरा नहीं विश्वास है,
प्रेम पूर्वक वास करता तू उसी के पास है।[5]'

श्री गुप्तजी ने भी लिखा था—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।[6]

इस काल में इन कवियों की लेखनी से उपदेशात्मक काव्य इतने विपुल परिमाण में प्रसूत हुआ है कि उसका अनुमान नहीं कराया जा सकता। कोई कवि ऐसा नहीं था जो इस दिशा में न चला हो। 'भारत-भारती' तो समाज-जागरण की भैरवी है ही।

गुप्त जी का 'स्वर्गीय संगीत' सन्देश प्रधान कविताओं का आगार ही है। कवि पुरुषों का आह्वान पुरुषार्थ करने के लिए करते हैं—

प्रबल जो तुममें पुरुषार्थ हो—
सुलभ कौन तुम्हें न पदार्थ हो?

---

१ सरस्वती १९०४ ,, ,, ,,। २ सरस्वती १९११ मार्च, पृष्ठ११६।
३ सरस्वती १९११ अप्रेल, पृष्ठ १७९। ४ सरस्वती १९११ अगस्त, पृष्ठ३५९।
५ सरस्वती १९१४ मार्च पृष्ठ १२३। ६ सरस्वती १९११ पृष्ठ ३५९।

प्रगति के पथ में विचरो, उठो ;
पुरुष हो पुरुषार्थ करो, उठो ।'[1]

इसी तरह कवि बताते हैं कि कौन-सी मृत्यु वांछनीय है—

'विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी,
मरो, परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी ।[2]

श्री रामचरित उपाध्याय ने नैतिक गुणों वाली कई उपदेशात्मक कविताओं की सृष्टि की । 'माता का पुत्र को उपदेश' में आज्ञा पालन की प्रेरणा है ।

अन्योक्तियों व सूक्तियों के माध्यम से भी उपदेश की सृष्टि इस युग में हुई । प्रारम्भिक वर्षों में तो कवियों ने अन्योक्तियों की धूम मचा दी थी । नाथूराम, शंकर शर्मा, राय देवीप्रसाद पूर्ण, मैथिलीशरण गुप्त, कन्हैयालाल पोद्दार आदि सभी कवियों ने अन्योक्तियाँ व सूक्तियाँ लिखीं । 'अन्योक्ति सप्तक' में कवि गुप्त जी ने भ्रमर, काक, मेघ, चक्रवाक सभी पर अन्योक्तियाँ प्रस्तुत की हैं ।

द्विवेदी युग के पश्चात् भी ये कवि बराबर अपनी रचनाओं में उपदेश को प्रमुखता देते रहे । रामचरित उपाध्याय के 'सूक्ति-मन्दिर' में अर्जुन कृष्ण को उपदेश देते हैं, लोचन प्रसाद पाण्डेय के ग्रन्थ 'नीति कविता' में केवल नीति विषयक उपदेश भरे हुए हैं, काव्यात्मकता का अभाव है—

'तात मात प्रिय भ्रात, बहन रहती जहाँ
पुण्य भूमि उसके समान जग में कहाँ ?'

द्विवेदीजी ने काव्य-विषय के लिए विविध विषयों की ओर संकेत किया था, फलस्वरूप वस्तु जगत के सभी दृश्य और पदार्थ कवि की कविता के विषय बनने लगे । प्रारम्भ मुक्तक (स्फुट) कविताओं से हुआ । ये त्रिविध थे

(१) प्रकृति (२) लौकिक घटना या संघटना (३) आदर्श चरित

प्रकृति पर सरस्वती में पर्याप्त रचनाएं प्रकाशित हुईं । शायद कोई भी ऋतु ऐसी नहीं थी जिस पर इस युग में रचना न हुई हो । गुप्तजी का सरस्वती में प्रवेश प्रकृति के कवि के रूप में ही होता है । उनकी प्रथम कविता 'हेमन्त' है । प्रकृति को लेकर इस युग में कुछ अनुवाद सम्मुख आए और कुछ मौलिक रचनाएँ भी । अनूदित रचनाओं में प्रमुख हैं—श्रीधर पाठक की "वर्षा ऋतु वर्णन" 'वसन्त वर्णन', महाकवि भारवि का 'शरद्वर्णन' (गिरिधर शर्मा) आदि । अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—पण्डित गिरिधर शर्मा की—ग्रीष्म (१९०६ जून); शरद् (१९०६ सितम्बर), हेमन्त (१९०७ जनवरी), वसन्त (१९०८ अप्रैल), राय देवीप्रसाद पूर्ण की शरद् (१९०४ नवम्बर), पण्डित लोचन प्रसाद पाण्डेय की ग्रीष्म (१९०७ जून), वर्षा (१९०७ सितम्बर), बाबू मैथिली शरण गुप्त

१—भारत-भारती ।

२—सरस्वती १९१४ जनवरी पृष्ठ ४ ।

की निदाघ वर्णन (१९०७ जुलाई), वर्षा वर्णन (१९०७ सितम्बर) ग्रीष्मागमन (१९०८ मई) आदि ।

इसी प्रकार पशु-पक्षियों पर भी पर्याप्त रचनाएँ सम्मुख आईं । बुलबुल (सत्यशरण १९०४ जुलाई) कोकिल (कन्हैयालाल पोद्दार १९०४ अक्टूबर), अयोध्या सिंह उपाध्याय की 'कोयल' (१९०८ मार्च) आदि ।

लेकिन यह प्रवृत्ति प्रारम्भिक वर्षों में ही रही । १९१० में हमें इसमें कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगते हैं । अब तक कवियों की शैलियाँ भी परिमार्जित हो गई थीं और विषयों के चुनाव में भी कुछ भिन्नता व विशिष्टता दिखाई पड़ने लगी थी । युग की जीवित समस्याएँ अपनी-अपनी प्रतिक्रिया कवि-मानस पर कर रही थीं । जीवन के अनुभव ही कवियों के लिए वर्ण्य-विषय रह गए थे ।

रूपनारायण पाण्डेय की कविता 'सरस्वती' में माँ सरस्वती का रेखाचित्र है, उनकी आराधना है, फिर अज्ञान दूर करने के लिए माता से प्रार्थना है—

सेवा तेरी तजी, मोह से करती यारी,
यद्यपि यह अपराध हुआ है हमसे भारी ।
तदपि भारती मात रूठना तुम्हें न चाहिए,
भारत-नाते पुत्र जान कर दूर न रहिए ।
पुत्र कुपुत्र अनेक हैं देखे सुने जहान में,
किन्तु कुमाता की भनक कहीं पड़ी नहीं कान में ।[1]

'ब्राह्मणों से विनय' कविता में कवि गुप्तजी जहाँ एक ओर ब्राह्मणों की पूर्व, यशस्वी गाथा गाते हुए उन्हें उनके ज्ञान व शक्ति का स्मरण दिलाते हैं ; वहीं दूसरी ओर उनकी दुर्दशा की ओर संकेत भी करते हैं । एक समय था जब पृथ्वी पर ब्राह्मण सबसे महान्, सबसे पूज्य और सर्वाधिक शक्तिशाली थे, वे ही ब्राह्मण आज दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं, द्वार-द्वार पर भटक रहे हैं । कवि कहते हैं कि अब भी समय है तुम चेत जाओ, सावधान हो जाओ और अपने अतीत गुणों को पुनः अर्जित कर लो ; और यदि अब भी ऐसा न करोगे तो—

यदि अब भी तुम कर्त्तव्य न पालोगे अपना,
तो रह जावेगा पूर्व काल निश्चय सपना ।
हिन्दु समाज के दोष तुम्हीं पर आते हैं,
सब बातों में अगुआ ही पूछे जाते हैं ।'[2]

ठाकुर गोपालशरण सिंह ने भी विविध विषयों पर रचनाएँ प्रस्तुत कीं । 'ग्रंथ' शीर्षक कविता में जहाँ कवि ग्रन्थ की महत्ता पर प्रकाश डालता है, वहीं 'अभ्यर्थना, शीर्षक कविता में भगवान से प्रार्थना करता है कि हमें कभी भी ज्ञान व आत्मबल-हीन न बनाना—

---

१ सरस्वती १९११ अक्टूबर, पृष्ठ ४३८ । २ सरस्वती १९१० मई पृष्ठ २०५

मिले सुतीक्षन धाइकै, पुलक नैन जल धार।
जेहिं विधि सिव जोगीस मुनि, ध्यावत हृदि आगार॥
हृदि मन्दिर ध्यावत सदा, आये ते वन आज हैं।
देखहु नैन सनेह भरि, मूरति सुख रघुराज हैं॥
अन्तरजामी धार मन, मूरति नेह लगाइ कै।
* राम जगाये प्रेम परि, मिले सुतीक्षन धाइ कै ॥७॥

सङ्ग गयो मग मैं चल्यौ, जात लखत प्रभु रूप।
ऋषि अगस्ति आश्रम गये, हरषि सकल सुरभूप॥
† हरषि देखि सुर भूप मिले मुनि भाग बखान्यौ।
आसन आदर पूजि वेद प्रतिमति प्रभु जान्यौ॥
जानि ठानि सुख मानि प्रभु, मधुर वचन बोले भलो।
सुभ अस्थान बताइ ऋषि, सङ्ग गयो मग मैं चल्यो ॥८॥

---

* "मुनिहिं राम बहु भाँति जगावा"। (रा० च० मा०, अर० का०)

(७) ध्यावत=ध्यान करते हैं। हृदि=हृदय। आगार=राशि, घर। ब्रह्मा, महादेव, योगी और मुनि हृदय के मन्दिर में सदा जिनका ध्यान रखते हैं वही राम आज वन में आये हैं, अतः राम के सुखद स्वरूप के दर्शन आँखों में स्नेह भरकर करूँगा, यह कहते हुए मन में अंतर्यामी की मूर्ति से लौ लगाकर बैठ गये। जब राम ने समाधि से जगाया तो नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाते हुए सुतीक्ष्ण दौड़कर राम से मिले।

† "मुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा। मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा"॥
(रा० च० मा०, अर० का०)

(८) मग=मार्ग, रास्ता। हरषि=प्रसन्न होकर। सुरभूप=देवताओं के स्वामी, राम। भाग=भाग्य। ठानि=दृढ़ता। जब रामचन्द्रजी प्रसन्न होकर अगस्त्य मुनि के आश्रम को गये, सुतीक्ष्ण भी मार्ग में उनके दर्शन करते हुए साथ में चले गये। अगस्त्य ने राम को देखकर अपने भाग्य की प्रशंसा की, आदर करके उन्हें आसन दिया और भगवान् समझकर उनकी वेद-विहित पूजा की। यह दृढ़ता देखकर राम ने यह मधुर वचन कहे कि हमें रहने के लिए कोई अच्छी जगह बताइए।

को परिचित कराते हैं। 'मान का मूल्य'[1] कविता में आत्मसम्मान को सर्वोपरि-स्थान देते हैं। आत्म सम्मान खोकर जीने से अच्छा मर जाना है।

गुप्तजी ने पत्र शैली पर कुछ कविताएँ प्रस्तुत कीं। इनमें प्रमुख हैं—'औरंगजेब का पत्र'[2] (पुत्र के नाम), 'महाराज पृथ्वीराज का पत्र'[3] (महाराना प्रताप सिंह के नाम) 'महारानी अहल्या बाई का पत्र'[4] (राघोबा के प्रति), महाराना राजसिंह का पत्र'[5] (औरंगजेब के नाम)।

(औरंगजेब के नाम) 'महाराना राजसिंह का पत्र' लिखते हुए कवि ने हिन्दू मुसलिम ऐक्य का समयोचित आदेश दिया है—

> विश्वात्मा के निकट सब हैं एक से, भेद क्या है ?
> है सो स्वामी विदित सबका, क्या किसी एक का है ?
> नामों से है कुछ न उसमें भिन्नता-भेद-भाव,
> न्यारी न्यारी प्रकृति रचना है उसी का प्रभाव।
> गाते मुल्ला सुगुण उसके मसजिदों में तुम्हारे,
> पूजा जाता प्रभुवर वही मन्दिरों में हमारे।
> ये दोनों ही विविध विधि से हैं उसी को रिझाते,
> हैं अज्ञानी नर बस वही जो उसे भूल जाते।

स्थूल ही नहीं क्रोध और प्रणय जैसे सूक्ष्म मनोभावों पर भी कवियों ने वर्णनात्मक उक्तियाँ कीं। बाद की रचनाओं में आध्यात्मिकता की भी झलक मिलने लगी थी। गुप्तजी की 'हाट' और 'मोह' कविताएँ ऐसी ही हैं।

'गंगा में दीपक' कविता में जीव को परोक्ष रूप से कहा गया है कि वह मौत से घबराता क्यों है। मरना तो सभी को एक दिन है, फिर मौत से डरने से क्या फायदा, जिस दिन मौत होनी होगी, वह किसी न किसी निमित्त से होगी ही—

> जब तक उसकी मरजी है तब तक न किसी का कुछ भय है,
> वरना फिर तो अनिल, अनल, जल, एक बहाना निश्चय है।[6]

आलोच्य काल की कविता का एक बड़ा अंश आख्यान-प्रधान है। ये आख्यान त्रिविध हैं—

(क) पौराणिक अथवा प्रागैतिहासिक
(ख) ऐतिहासिक
(ग) काल्पनिक

---

१ सरस्वती १९१९ अप्रैल, पृष्ठ २०६-२०७। २ सरस्वती १९१२ अप्रैल
३ १४ मार्च ४ १९१४ मई
५ ,, फरवरी
६ सरस्वती १९१९ नवम्बर पृष्ठ २३६-२३७ कवि बदरीनाथ भट्ट

इस काल में जो राम और कृष्ण से सम्बन्धित आख्यान काव्य लिखे गये उनमें राम और कृष्ण को जाति या मानवता के सर्वोच्च प्रतीक के रूप में कल्पित किया गया है और उनमें किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता की कल्पना कवियों ने नहीं की है। इन्हें मानवता के धरातल पर उतारा अवश्य है पर उनके चरित्र मानवोत्तर हैं। 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

पौराणिक कथानकों के आधार पर आख्यानक कविता लिखने वालों में प्रमुख हैं, सर्वश्री गुप्त जी, रामचरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा, सियारामशरण गुप्त आदि।

गुप्तजी ने इतिहास-पुराण को लेकर सर्वाधिक लिखा। 'लीला संवरन' [१] 'विदुरवाणी' [२], मुनि का मोह' [३], 'बन्धु-विरोध' [४], 'गोवर्धन-धारण' [५], 'कुरुक्षेत्र के संग्राम का परिणाम' [६], 'उत्तर और बृहन्नला' [७], धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वरदान' [८] आदि सभी रचनाएँ इतिहास-पुराण के आधार पर हैं। ये सभी आख्यानक कविताएँ हैं, इनमें वर्णनात्मकता की प्रधानता है।

'धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वरदान' में धृतराष्ट्र द्रौपदी से कुछ माँगने को कहते हैं तब द्रौपदी पाण्डवों की पराधीनता से मुक्ति माँगती है। धृतराष्ट्र पुनः कुछ और माँगने को कहते हैं तब द्रौपदी का विनीत प्रत्युत्तर है—

> मुझे और कुछ नहीं माँगना अच्छी नहीं तृष्णा,
> जो पुरुषों में पौरुष होगा तो सब कुछ हो जावेगा ;
> तात ! अन्यथा यह भिक्षा का वैभव फिर खो जावेगा।

'श्री रामनवमी' में कवि राम से पुनः अवतार लेने की प्रार्थना करता है, क्योंकि जिन कारणों से राम का अवतार होता है, वे सब पुनः उपस्थित हो गये हैं।

गिरिधर शर्मा की 'अंशुमती' [९] और 'च्यवन पत्नी सुकन्या' [१०] भी पुराण पर आधारित आख्यानक कविताएँ हैं।

सियाराम शरण गुप्त का "श्री राघव-विलाप" भी पुराण पर आधारित है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का करुण विलाप है।

> तुम देखकर हमको दुःखी आँसू बहाते थे सदा,
> आपत्ति में तुम ही हमें धीरज बँधाते थे सदा।

१	सरस्वती	१९१०	मार्च	५	सरस्वती	१९१०	जुलाई
२	,,	,,	अप्रैल	६	,,	,,	अगस्त
३	,,	,,	मई	७	,,	,,	सितम्बर
४	,,	,,	जून	८	,,	,,	अक्टूबर
९	,,	,,	जून	१०	,,	,,	जुलाई
११	,,	,,	अगस्त				

हैं हो रहे हम आँसुओं से आज आर्द्र शरीर यों ;
तुम देखते तक हो नहीं हमको तदपि हे वीर ! क्यों ?

रामचरित उपाध्याय की 'लंका का जयचन्द'[1], 'रावण की विचारसभा'[2], लक्ष्मण का क्रोध [3] आदि सभी पुराण पर आश्रित आख्यानक कविताएँ हैं।

'लंका का जयचन्द' में कवि विभीषण को बुरा-भला कहता है, क्योंकि इसीने लंका का भेद राम को दिया था। अन्त में निष्कर्ष रूप में कवि कहता है—

'भारतीयों पर विभीषण का असर होवे नहीं,
भीरु हो जयचन्द से हम आत्मबल खोवें नहीं।
ईश ! बस इतनी कृपा कर हम सदा सोवें नहीं,
हो अनादृत शत्रुओं के सामने रोवें नहीं॥

इतिहास को आधार मानकर आख्यानक कविता लिखनेवालों में सियाराम-शरण गुप्त का 'मौर्य विजय' सर्वश्रेष्ठ है। सन् १९१४ में तीन खण्डों (अप्रैल, मई, जून) में प्रकाशित हुआ था। अब यह ग्रन्थ रूप में है। इसमें चन्द्रगुप्त मौर्य व सेल्युकस के युद्ध व मैत्री का चित्रण है। इतिहास के आधार पर खण्ड काव्य है। श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'वीररत्न बाजीप्रभु देशपाण्डे' [4] इसी कोटि में आता है।

काल्पनिक आख्यानक कविता का सुन्दर उदाहरण गुप्त जी की 'निन्नानबे का फेर'[5] है।

इस मण्डल के सभी कवि भारत के अतीत का गौरव गान करते हैं और वर्तमान की दुर्दशा पर आँसू बहाते हैं।

'हमारा ह्रास'[6] कविता में कवि सियाराम शरण गुप्त अपने पतन पर क्षोभ व्यक्त करते हैं, फिर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हमें शक्ति दो।

कवि मैथिलीशरण गुप्त की कविता 'प्राचीन भारत' में कवि प्राचीन भारत का गौरव-गान करने के साथ-साथ आज के भारत की दुर्दशा पर आँसू बहाता है। पहले जहाँ कुछ भी 'अलभ्य' नहीं था, वह भारत कहाँ गया—

सुख सभी जिसको तुमने दिये,
विविध रूप धरे जिसके लिए।
न कुछ वस्तु अलभ्य रही जहाँ,
अब हरे ! वह भारत है कहाँ।[7]

---

१ सरस्वती १९१४ सितम्बर पृष्ठ ४८८, २ सरस्वती १९१४ अक्टूबर पृष्ठ ५६५
३ वही, नवम्बर पृष्ठ ६२२, ४ सरस्वती १९१० नवम्बर पृष्ठ ४८१
५ सरस्वती १९१० सितम्बर पृष्ठ ३९७, ६ सरस्वती १९१३ अक्टूबर
७ सरस्वती १९१० जनवरी।

इसी भाव का विकास 'भारत-भारती' काव्य ग्रंथ में उपलब्ध होता है। 'भारत भारती' सन् १९१२ में प्रकाशित हुई, इस ग्रन्थ को कवि ने तीन खण्डों में विभक्त किया है, यथा—अतीत खण्ड, वर्तमान खण्ड, भविष्यत् खण्ड। अतीत खंड में कवि अतीत गौरव, विद्या-बुद्धि, आदर्श, साहित्य, दर्शन, संगीत, वीरता आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। अतीत में हमारे पास किसी भी वस्तु का अभाव नहीं था। धन-धान्य से भरी-पूरी पृथ्वी थी, वही आज (वर्तमान खण्ड में)—

'दुर्भिक्ष मानों देह धर के घूमता सब ओर है,
हा! अन्न! हा! हा! अन्न का रव गूंजता घनघोर है।

वर्तमान में साहित्य, शिक्षा, व्यापार सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था व दुर्दशा फैल रही है। फिर भी भविष्य के लिए कवि आशावान है। भविष्यत् खण्ड में कवि उद्‌बोधन करता हुआ कहता है—

पुरुषत्व दिखलाओ पुरुष हो, बुद्धि बल से काम लो,
तब तक न थककर तुम कभी अवकाश या विश्राम लो—
जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनरासीन हो,
फिर ज्ञान में विज्ञान में, जब तक न वह स्वाधीन हो।

द्विवेदी मण्डल के कवि द्विवेदीजी के सम्पादन काल में तो उनके पंथ व निर्देशन में चलते ही रहे, पर उसके बाद भी अर्थात् द्विवेदीजी के सम्पादक पद से हट जाने पर भी वे सरस्वती में तथा स्वतन्त्र रूप से भी उनके दिखाए पथ पर काव्य साधना करते रहे।

१९३५-३६ में प्रकाशित इन कवियों की रचनाओं में हमें द्विवेदी युग की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। गुप्त जी के द्वापर का आरम्भिक अंश सर्वप्रथम सन् १९३५ के अप्रैल अंक में छपा था—

राम भजन कर पाञ्चजन्य तू, वेणु बजा लूं आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुनले स्वर ये मेरे भाव भरे।
कोई हो, सब धर्म छोड़ तू आ बस, मेरा शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह, जिससे मेरे हाथों तू न तरे।

१९३१ फरवरी में रामचरित उपाध्याय की 'कविते' शीर्षक कविता में सत्कविता की शक्ति का उल्लेख है—

विध्वंसक का वंश ध्वंश हो अंश सत्य का स्थिर हो,
अति अतीत का वर्तमान के आगे ऊँचा सिर हो।
हटे निराशा की विभावरी आशा-लतिके फूले,
फिर अनन्त-नभ में त्रिशंकु सा दुर्जन का मन झूले।
कर दिखलायेगी यदि उसको कविते! जिसे कहेगी,
अचला मिटे क्योंकि मिट्टी है पर तू अमिट रहेगी।

इसी प्रकार जनवरी सन् १९३४ में प्रकाशित ठाकुर गोपालशरण सिंह की 'दुलहिन' कविता में द्विवेदी युग की छाप स्पष्ट है—

'है हृदय देश पर करना शासन, क्या-क्या साधन है।
शुचि प्रेम भव्य भोलापन अमृतोपम मधुर वचन है॥
मन्त्री बस सदय हृदय है उपमन्त्री कोमल मन है।
शुचि सत्य शील ही बल है, धन केवल जीवन धन है॥'

स्वतन्त्र रचनाओं में अर्थात् वे रचनाएँ जो 'सरस्वती' में प्रकाशित नहीं हुईं उनमें भी द्विवेदी मण्डल की विशेषता के दर्शन होते हैं। द्विवेदीजी का स्वप्न था—

'हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार रस-कुसुमाकर और जसवन्त जसो (!) भूषण के समान ग्रन्थों की इस समय आवश्यकता नहीं। इनके स्थान में यदि कोई कवि किसी आदर्श पुरुष के चरित का अवलम्बन करके एक अच्छा काव्य लिखता तो उससे हिन्दी साहित्य को अलभ्य लाभ होता।'

रसज्ञ रंजन—पृष्ठ १२।

और इसी स्वप्न को साकार करते हुए सम्मुख आए श्री मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' महाकाव्य व 'जयद्रथ-वध' खण्डकाव्य तथा हरिऔधजी का 'प्रियप्रवास' महाकाव्य।

इतना ही नहीं श्री मैथिलीशरण गुप्त जी के पंचवटी, हिन्दू, यशोधरा, विष्णु-प्रिया; सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य-विजय', रामचरित उपाध्याय के मुक्ति-मन्दिर लोचनप्रसाद पाण्डेय की नीति-कविता, पद्य-पुष्पाञ्जलि आदि राशि-राशि ग्रन्थों में द्विवेदी मण्डल व युग की छाप के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनमें से अधिकांश ग्रंथ इतिहास या पुराण को आधार मानकर निर्मित किये गए हैं, तथा द्विवेदी युग की विशेषता इतिवृत्तात्मकता, वर्णनात्मकता व उपदेशपरकता के अनुपम उदाहरण हैं। इन ग्रंथों में वे ही वृत्तियां विकसित रूप में उपलब्ध होती हैं जिनका बीजारोपण द्विवेदी जी द्वारा हो गया था।

श्री सुधाकर पाण्डेय

आचार्य द्विवेदी और छायावाद

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी के ऐसे विधायक के रूप में इतिहास में प्रतिष्ठित हैं, जिनका कृतित्व २० वीं सदी के आरम्भ के दो दशकों तक अनन्य श्रीसंपदामय है। हिन्दी काव्य मन्दिर में खड़ी बोली की कविता के प्राणप्रतिष्ठापक तथा कथासाहित्य की दीपशिखा के ज्योतिवर्द्धक के रूप में भी उनका मान सदैव से श्रद्धावंदित रहा है। १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी साहित्य ने काव्य के क्षेत्र में जिस नवीन चेतना को जन्म दिया, उसको संयम एवं अनुशासनपूर्वक यौवन के द्वार तक पहुँचाने में दिए गए आचार्य द्विवेदी के योगदान के सुफल से हिन्दी साहित्य में नयी क्रांति का उदय हुआ। इस अनुष्ठान की साधिका 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने हिन्दी भाषा और भाव के आंदोलन में नवीनता का पक्ष लिया। काव्य की भाषा के क्षेत्र में 'हिन्दोस्थान'[1] द्वारा उठाये गये आंदोलन को, जो नवीन भाषा (खड़ी बोली) को काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का पक्षपाती था, द्विवेदी जी ने एक परिपुष्ट आधारमात्र ही नहीं दिया अपितु एक ओजस्वी रूप एवं रंग भी दिया। वे केवल भाषा के क्षेत्र में ही नवीनता के पक्षपाती नहीं थे अपितु भाव के क्षेत्र में भी वे उसके समर्थक, आराधक एवं प्रतिष्ठापक हैं। वे ऐसे कृतिकार थे जिसका अपना आदर्श था और जिसकी परम्परा इस धरती की सम्पत्ति थी। उनकी इस मान्यता में युग की आकांक्षापूर्ति का संकल्प भी था। उनकी इस नवीनता की उपासना के मूल में सहज व्यावहारिक शिष्टाचार मात्र नहीं एक ऐसा संकल्पात्मक आदर्श भी था जिसकी अनुभूति द्विवेदी जी ने युग की आवश्यकताओं से अनुप्राणित होकर अध्ययन, लोकदर्शन तथा अपने चिन्तन के आधार पर की थी। उनके इस संकल्प में अडिग आस्था का स्वाभिमान, निस्पृह कर्म की कठोरता एवं एकांत निष्ठा की एकांगिता थी। वह साहित्य का धर्म जनमंगल को स्वीकार करती थी, न कि व्यक्तिपरक एकांत

१—श्री राजा रामपाल सिंह, कालाकांकर नरेश द्वारा इङ्गलैंड से हिन्दी एवं अंग्रेजी में सन् १८८३ में हिन्दी की सेवा के लिए प्रकाशित पत्र जो सन् १८८५ में हिन्दी दैनिक होकर यहीं से प्रकाशित होने लगा।

राग-विराग को।

ऐसे संकल्प वाले व्यक्तित्व कर्म एवं पुरुषार्थ के आगार होते हैं तथा धुन के धनी भी। वे सामान्य जीवन के आचार-व्यवहार में भी कर्मयोगी की सहज स्थिति में रहने के अभ्यासी हो जाया करते हैं। इसलिए उनके ओज के ताप से अनेकों को जलन एवं उनकी सिद्धि-श्री के प्रसाद से वंचित रहने के कारण अनेकों को उनसे अतृप्ति का बोध होता है। ऐसे अनेक मिलकर रागविराग से भरपूर हो ऐसी शक्ति का विरोध करते हैं। यह विरोध स्वतः अपने में महत्वहीन होता है और क्षणिक भी। पर ऐसे कुछ लोगों का विरोध अपना महत्व रखता है जिनके जीवन का सत्य ऐसे मनीषियों के नियंत्रित कार्यकलाप की भाव-परिधि में अपना प्रतिरूप न पाने के कारण उनका विरोधी हो जाता है। यदि ये शक्तिशाली और लगनशील हुए तो अपना नया मार्ग निर्मित करते हैं अन्यथा ये भी एकांत असंतोष के ताप में स्वयं को स्वाहा कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में युगविधायक स्रष्टा का कर्म एक ओर जहाँ उसे नवीन की स्थापना के लिए अपने व्यक्तित्व को प्राचीन के विलोम में खड़ा करता है वहीं उसे सत्यानुभूतिलसित भावी नवीनता के विरोध का भी सामना करना पड़ता है। क्योंकि वह अपने संकल्प को मूर्त्त रूप देने के कारण और अधिक नवीनता को स्थान नहीं दे पाता। हिन्दी काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व ऐसे ही महारथी का व्यक्तित्व है।

उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी काव्य में खड़ी बोली को काव्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। साथ ही हिन्दी काव्य की परिधि में विषय की दृष्टि से नवीन भावभूमि की स्थापना भी की। हिन्दी काव्य को नये रूप, रंग तथा साज-सज्जा से सुसज्जित करने के इस अनुष्ठान में उन्हें कुछ ऐसे सहज भावों की उपेक्षा भी करनी पड़ी जिनका सम्बन्ध जीवन से सनातन है। समाज में हो रहे चतुर्दिक सुधार-परिष्कार का दर्पण वे साहित्य को मानने वाले ऐसे मनीषी थे जो गद्य और पद्य दोनों की भाषा का नियमन, संस्कार एवं परिष्कार एक ही सूत्र से करना चाहते थे।[१] इसलिए संस्कृत साहित्य के रसज्ञ होते हुए भी हिन्दी पद्य में इतिवृत्तात्मकता एवं गद्य की नीरसता को द्विवेदी जी ने संरक्षण दे प्रवर्धित किया। यह कार्य इन्होंने निरंकुश होकर किया।

इस निरंकुशता का कारण यह भी हो सकता है कि इनके पूर्व जिन लेखकों ने ऐसे युगविधायक कार्य किए वे या तो अपने व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियों के कारण तत्कालीन साहित्य में अपना एक छत्र शासन स्थापित नहीं कर पाते थे या ऐसे मंडलों के द्वारा वे अपने आदर्श को रूपायित करते थे जिनमें एक ही वय और

१—पं० देवीदत्त शुक्ल का 'सरस्वती हीरक जयंती ग्रंथ' में 'सरस्वती के इतिहास का सिंहावलोकन' शीर्षक निबंध, पृ० ३१-३२। ३१ दिसंबर १९६१।

सूरदास ज्यों तन ते मनस अंत कहूं नहि जावे। सूर।

मनुसा—सं० पु० [सं० मनुष्य] मनुष्य। आदमी। पति। खाविंद।

मरकट—सं० पु० [सं० मर्कट] बंदर। बानर। उ० डरइ जहाँ मरकट भट भारी। तु०। आ० जीव।

मरजीव—सं० पु० [हिं० मरना+जीन] मरजिया। पानी में डूब कर उसके भीतर से चीजों को निकालने वाला। समुद्र में डूब कर उसके भीतर से मोती आदि निकालने वाला। गोता खोर। उ० जस मरजिया संमुर धँसि मारे हाथ आव तब सीप। जा०। आ० जीवात्मा।

मरन—सं० पु० [सं० मरण] मृत्यु। मौत।

मरम—सं० पु० [सं० मर्म] रहस्य। भेद। तत्व। स्वरूप। मासदिवस का दिवस भा मरम न जाने कोय। तु०

मरजादा—सं० स्त्री० [सं० मर्य्याद] मान। प्रतिष्ठा। गौरव।

मरिया—क्रि० अ० [सं० मरण] मरना। मृत्यु को प्राप्त होना।

मरोरे—क्रि० स० [हिं० मोड़ना] मरोड़ना। ऐंठना। छोड़ाना।

मरुआ—सं० पु० [सं० मरुव] एक प्रकार का फूल वाला पौधा इस की पत्ती भी फूल के समान सुगंधित होती है, जिसका आकार तुलसी के समान होता है, इसके फूल देवताओं पर चढ़ते हैं।

मरुवा—सं० पु० [सं० मंड वा मेरु वा अन०] हिंडोले में वह ऊपर की लकड़ी जिस में हिंडोला लटकाया जाता है वा हिंडोले को लटकाने की लकड़ी जड़ी व लगाई जाती है। उ० कंचन के खंभ मयारि मरुआ डांडी खचित हीरा बिच लाल प्रवाल। रेशम बुनाई नव रतन लाई पालनो लटकन बहुत पिरोजा लाल। —सूर

मल—सं० पु० [सं०] शरीर से निकलने वाली मैल व विकार। ये मल बारह प्रकार के माने गए हैं। वासा (चर्बी) शुक्र, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, कर्णमल (खूँट) नख, श्लेष्मा (कफ) आँसू, शरीर के ऊपर जमी हुई मैल। पसीना।

मलयागिर—सं० पु० [सं० मलय गिरि] माल्यवान। मलय नामक पर्वत जो दक्षिण में है। वहाँ चन्दन अधिक और उत्तम उत्पन्न होता है मलयगिरि में उत्पन्न चंदन। उ० बेधी जानि मलय-गिरि बासा। सीस चढ़ी लोटहि चहुँ पासा। जा०। आ० सतसंग।

ईसाइयों के 'फैन्टास्माटा' या 'सिम्बोलिज्म' की दुहाई बोली जा रही थी। कहीं इसे शैली और कहीं इसे वाद के रूप में उपस्थित किया जा रहा था। इतना ही नहीं, उपनिषद् से लेकर योरोप के 'रोमांटिसिज्म' तक को इस कविता का आधार बताया जाता था। ऐसी अराजक स्थिति में इस निबंध का प्रकाशन हुआ।

इस निबन्ध के प्रकाशन के साथ ही उस पक्ष की ओर से द्विवेदी जी पर प्रबलतम प्रहार आरम्भ हुआ जो पक्ष 'छायावाद' का समर्थक था। इस विरोध में द्विवेदीजी के निबन्धगत विचारों के विरोध का यत्न कम, उनके अतीत के अजेय व्यक्तित्व के प्रति आक्रोश की भावना अधिक थी। इसका कारण ढूंढ़ने अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'सत्समालोचना' शीर्षक अपने तत्कालीन निबन्ध में ऐसे विरोधों के कारणों को स्पष्ट करने का यत्न किया है—'इस प्रकार के वैयक्तिक आक्षेपों का उद्देश्य अधिकतर पुराने वैर का प्रतिकार हुआ करता है। इस पुराने वैर का आधार या तो कोई साहित्यिक मतभेद होता है या परनिंदा-व्याज से अपनी प्रशंसा की इच्छा होती है।[1] 'छायावाद के सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्रयाग की कायस्थ पाठशाला के बोर्डिंग हाउस में २२ नवम्बर १९२६ को सार्वजनिक रूप से अपने एक अभिभाषण में कहा था कि—'हाँ, इस युग की कविता में एक विशेषता हुई। अब लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे हैं और इस प्रकार कविता का प्रचार बढ़ रहा है। यह अवश्यम्भावी और अनिवार्य है, पर छायावाद और समस्यापूर्ति से हिन्दी कविता को बड़ी हानि पहुँच रही है। छायावाद की ओर नवयुवकों का झुकाव है और जहाँ वे गुनगुनाने लगे कि चट दो चार पद जोड़कर कवि बनने का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताओं का अर्थ समझना कुछ सरल नहीं है। कविता लिखने के अनन्तर बेचारा कवि भी उसके अर्थ को भूल जाता है और उसके भाव तक को समझाने से असमर्थ हो जाता है। पूज्य रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिन्दी में हो रहा है। उस कविश्रेष्ठ की विद्या-बुद्धि की समता करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ ऐसी बातें कह जाना जिसका कोई अर्थ ही न समझ सके, ये कवि अपने कवित्व की पराकाष्ठा समझने लगे हैं। खड़ी बीली के बढ़ते हुए प्रचार को देखकर और उससे भयभीत होकर कुछ पुरानी लकीरों के फकीरों ने समस्यापूर्ति की धूम मचा रखी है। इसी मुक्तक काव्य को, जिससे हिन्दी कविता का इतना अनिष्ट हुआ है पुनर्जीवित करने का प्रयत्न हो रहा है: कवि सम्मेलनों की धूम भी इस कार्य में सहयोग देकर हिन्दी कविता का अनिष्ट साधन कर रही है।"[2]

यद्यपि बाबू साहब का यह भाषण सरस्वती के साथ ही साथ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था तो भी 'छायावाद' के प्रति ऐसी धारणा रखने के

१—माधुरी, वर्ष ७, खंड १, संख्या १, अगस्त-सितम्बर, १९२८, पृ० १०८।
१—सरस्वती भाग २८, खंड १, जनवरी १९२७, पृ० ६।

प्रथम प्रेमभाव की उत्पत्ति का आधार सौंदर्य को ही माना है और दिखलाया है कि किस प्रकार वह प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण अथवा प्रेम-पात्र संबंधी किसी वस्तु के दृष्टि में आने मात्र के माध्यम से भी अपना काम करने लग जाता है। उसका प्रभाव फिर क्रमशः एक प्रेमी के हृदय पर इतना गहरा होता चला जाता है कि वह अपने जीवन की सारी अन्य बातों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए केवल अभीष्ट व्यक्ति को अपना बनाकर संतोष की साँस लेने के सिवाय और कोई बात पसंद नहीं करता तथा तब तक वह अत्यंत व्याकुल और बेचैन भी रहा करता है। इसलिए जब उसे अपने घर पर रहते किसी सफलता की आशा नहीं रह जाती, वह किसी परामर्शदाता की सहायता से उसे छोड़ बाहर निकल पड़ता है। वह या तो जोगी बन जाता है, कठिन मार्गों से होकर भूलता-भटकता फिरता है, बीहड़ वनों, समुद्री लहरों, मरुस्थलों की यात्रा करता है वा गली-कूचों की खाक छानता फिरता है अथवा दानवों या परियों के क्षेत्रों में भी पहुँच कर अपने प्राणों को संकट में डालता रहता है। उसे अनेक प्रकार से युद्ध करने पड़ जाते हैं, कभी बंदी-जीवन व्यतीत करना पड़ता है, कभी दासता स्वीकार करनी पड़ जाती है और कभी-कभी लंबी अवधियों तक व्रतोपवास और मंत्र-साधना तक का उपचार करना पड़ता है और देवी-देवताओं की सहायता से अथवा किसी महापुरुष के सदुपदेश के द्वारा ही वह अंत में, फिर सफल होता है। सूफियों के अनुसार प्रेम-साधना में निरत 'सालिक' वा साधक की दशा बार बार तपाए जाने वाले स्वर्ण की जैसी हुआ करती है और वह अंत तक सँभलता व निखरता ही जाता है। संकटों से होकर निकलना और यंत्रणाओं का झेलना उसकी अग्नि-परीक्षा के साधन हैं और उनकी अनुभूति के बिना अंतिम सिद्धि की उपलब्धि असंभव है।

सूफी प्रेमाख्यानों के रचयिताओं ने इन जैसी बातों का वर्णन करते समय इसे सदा अपने ध्यान में रखा है कि कहानी की प्रतीकात्मकता बराबर बनी रहे। उसके प्रेमी नायक के हृदय में प्रेमासक्ति जाग्रत कर उन्होंने उसमें यथाशीघ्र विरह की आग भी सुलगा दी है जिससे यह प्रकट हो जाय कि उसकी प्रेमपात्री उसके लिए अपरिचित नहीं है। जिस प्रकार अपने प्रियतम परमात्मा से वियुक्त होने की स्थिति का अनुभव कर एक सूफी बेचैन हो सकता है, ठीक उसी प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रेमपात्री नायिका के प्रति आकृष्ट होते ही उसकी जुदाई के कारण पूरा विरही भी बन जाता है और उसे ऐसा लगता है जैसे अपनी सदा की संगिनी ही उससे दूर पड़ गई हो। इसी प्रकार जैसे फिर, किसी सूफी सालिक के अपने प्रियतम परमात्मा के लिए अधीर हो जाने पर उसे किसी पीर द्वारा मार्ग-प्रदर्शन मिला करता है और उसे कुछ न कुछ सांत्वना भी मिल जाती है, ठीक उसी प्रकार इस प्रेमी को भी किसी सूए वा अन्य ऐसे माध्यम से सुझाव मिलने लग जाते है और वह कुछ संभल-सा जाता है। परंतु एक सूफी की प्रेम-साधना का मार्ग कभी सरल नहीं होता और उसे उस पर चलते समय विपथ करने वाले अनेक अंतराय आ उपस्थित हो जाते हैं जिन्हें वह किसी प्रकार सावधान बन कर ही, दूर कर पाता है। वैसे ही यहाँ पर प्रेमी नायक को भी विभिन्न प्रकार से जूझने एवं बाल-बाल बचते जाने की स्थिति में दिखाया जाता है। जैसे-जैसे कठिनाइयों से मुक्ति मिलती जाती है, इन दोनों प्रकार के साधनों का उत्साह बढ़ता जाता है और इनकी विरहाग्नि भी अधिकाधिक प्रज्वलित होती चली जाती है और इसके बीच में कभी-कभी इनकी दशा उन बावलों की सी भी हो जाती है जिन्हें अपने जीवन संबंधी किसी भी अन्य व्यापार से कोई लगाव नहीं रह

है कि वे छायावाद के कवियों के उद्देश्य के विरोधी नहीं थे और ३-४ व्यक्तियों की काव्यशक्ति के प्रशंसक भी थे।

इतना होते हुए भी नवीनता के उत्साह के प्रवाह में छायावाद का कट्टर समर्थन इसी निबन्ध को आधार बना कर श्रीकृष्णदेवप्रसाद गौड़ और रामनाथ सुमन ने किया।[१] इसके साथ ही छायावाद के समर्थन के आन्दोलन को नन्ददुलारे वाजपेयी के निबन्धों से विशेष बल मिला। आज यदि उन निबन्धों का दर्शन किया जाय तो वे निबन्ध द्विवेदीजी द्वारा उठाये गये प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए नहीं दीखते, अपितु, ऐसे लगते हैं मानो जबर्दस्ती किसी बात का समर्थन करने के लिये परिकरबद्ध हैं। बाद में इन्हीं लेखकों द्वारा 'छायावाद' के सम्बन्ध में लिखे गये निबन्धों में उन आरोपों को सत्य स्वीकार किया गया है जिन्हें द्विवेदीजी ने अपने इस निबन्ध में व्यक्त किया था। इस प्रकार ये द्विवेदीजी की विचारसरणी के अनुमोदक भाव ही सिद्ध नहीं हुए उनकी दृष्टि की व्यापकता एवं सारग्राहिता के प्रमाण भी बने।

वस्तुस्थिति तो यह दीखती है कि छायावाद की हितचिंतना की दृष्टि से ही द्विवेदीजी ने यह निबन्ध लिखा था। इसके सम्बन्ध में केवल यह साक्ष्य ही पर्याप्त न होगा कि 'छायावाद' के सम्बन्ध में उनके द्वारा की गई भविष्यवाणी का अधिकांश अब इतिहास का सत्य हो गया है, अपितु छायावाद के प्रवर्द्धन एवं संरक्षण के लिए किए गए उनके कार्यों को भी देखना होगा।

'छायावाद' के विकास में उनके योगदान की बात उन्हें आश्चर्यजनक लग सकती है, जिन्होंने 'सरस्वती' का पूर्णरूप से दर्शन नहीं किया है। किंतु उनके इस कृतित्व का परोक्ष समर्थक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'खड़ी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उससे संतुष्ट न रह कर द्वितीय उत्थान में कई कवि खड़ी बोली के काव्य को कल्पना का नया रूप रंग देने और उसे अधिक अंतर्भावव्यंजक बनाने में प्रवृत हुए, जिसमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिली शरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरी नाथ भट्ट। कुछ अंग्रेजी ढर्रा लिये जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ प्रगति मुक्तक (लिरिक्स) बंगला में निकल रहे थे, उनके प्रभाव से कुछ विशृङ्खल वस्तुविन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नए ढंग की रचनाएं सं० १९७०-७१ से ही निकलने लगी थीं। जिनमें से कुछ के भीतर रहस्य भावना भी रहती थी।"[२]

१—देखिए, माधुरी, वर्ष ५, खं० २, सं० ६, ६ जुलाई १९२७, पृ० ७८६ तथा श्री गौड़ की पुस्तक 'साहित्यप्रवाह', पृ० ३२, तथा माधुरी, वर्ष ७, खं० १, सं० १, अगस्त-सितम्बर, १९२८, पृ० १९२।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६१८। (सं० २०१८ वि०)

ऐसी रचनाओं का क्रमविकास दिखाते हुए श्री मैथिली शरण गुप्त की 'नक्षत्र निपात', 'अनुरोध', 'पुष्पांजलि' एवं 'स्वयं आगत की' ओर, उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया। ये रचनाएं १९१४ से १९१८ के बीच की हैं।'' [१] इसके साथ ही श्री बदरीनाथ भट्ट [२] और मुकुटधर पांडेय की रचनाओं की ओर भी उन्होंने ध्यान आकृष्ट किया। भट्ट जी की १९१३ की रचना 'दे रहा दीपक जल कर फूल' और श्री मुकुटधर पाण्डेय की 'आंसू और उद्‌गार' शीर्षक रचनाओं को इस मान्यता के साक्ष्य के रूप में उपस्थित किया है। उनके अनुसार मुकुटधर जी बराबर नूतन पद्धति पर ही चले। [३] गुप्त जी के सम्बन्ध में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि किसी विशेष पद्धति या वाद में न रह कर कई पद्धतियों पर चलने वाले कवि हैं [४]।

शुक्ल जी की इस मान्यता को अपने शोधप्रबन्ध 'हिन्दी साहित्य का विकास' १९००-२५ 'में श्रीकृष्णलाल ने इस रूप में समर्थन दिया है—'स्वच्छंदता का दूसरा चरण केवल साहित्यिक आंदोलन मात्र न था, वरन वह कलात्मक और दार्शनिक आंदोलन भी था। उसमें विश्व की वेदना, सृष्टि का रहस्य, उदात्त-भावना तथा प्रेम और वीरता को अपनाने की तीव्र आकांक्षा, अलभ्य श्रम से उद्‌भूत एकांत वेदना और अनन्त निराशा आदि विशिष्ट दार्शनिक वृत्तियों का प्रदर्शन था। यह द्वितीय आन्दोलन १९१४ के आस-पास मैथिली शरण गुप्त, मुकुट-धर पांडेय, रायकृष्णदास, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पन्नालाल बख्शी की स्फुट कविताओं से आरम्भ होता है, किंतु इसका वास्तविक प्रारम्भ १९१८ से मानना चाहिए जब से 'प्रसाद', 'सुमित्रानन्दन पंत' और 'निराला' की नवीन शैली की कविताओं का प्रकाशन होता है। [५]

छायावाद के विकासक्रम की इन मान्यताओं को हिन्दी जगत की स्वीकृति प्राप्त है। ऐसी रचनाएं जिनका उल्लेख इन समालोचकों ने किया है उनसे उस सरस्वती से क्या सम्बन्ध रहा जिसके साक्षात सम्पादक श्री द्विवेदी जी थे, अब इसे देखना अप्रासंगिक न होगा। छायावाद के बीजबिंदु स्वरूप प्रकाशित इन रचनाओं को यदि द्विवेदी जी की सरस्वती ने प्रश्रय दिया है तो निश्चय ही काव्य के इस रूप के विरोधी के रूप में उन्हें उपस्थित करना शालीनता और इतिहास की मर्यादा भंग करना है।

श्री मुकुटधर पांडेय की दो रचनाओं में से कुछ अंश उनके शीर्षक 'आंसू' और 'उद्‌गार' का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने इस प्रसंग में लिखा है और

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६१८। (सं २०१८ वि०)
२—वही, पृ० ६२०! ३—वही, पृ० ६१९। ४—वही, पृ० ६२१।
५—हिन्दी परिषद् प्रयाग से १९४८ में प्रकाशित।

बिना शीर्षक के एक रचना [१] का एक अंश उन्होंने उद्धृत किया है। आंसू' [२] का प्रकाशन सरस्वती में दिसम्बर १९१६ में विश्वबोध [३] का उसी में दिसम्बर १९१७ में तथा 'उद्‌गार' [४] का प्रकाशन अप्रैल १९१८ में हुआ है मैथिलीशरण गुप्त की 'अनुरोध' [५] 'नक्षत्रनिपात' [६] 'स्वयं आगत' [७] 'पुष्पांजलि' [८] शीर्षक रचनाएं भी यहीं प्रकाशित हुई हैं। बदरीनाथ भट्ट की जिस रचना का उल्लेख शुक्ल जी ने किया है वह भी सरस्वती में ही सन् १९१३ में प्रकाशित हुई है। डा० श्रीकृष्णलाल जी ने रायकृष्णदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की जिन रचनाओं का इस प्रसंग में नाम लिया है वे इसी काल की सरस्वती की ही देन हैं। इतना ही नहीं 'छायावाद' की चिरपरिचित 'स्वप्न' शीर्षक निम्नलिखित प्रतिनिधि रचना भी सरस्वती में दिसम्बर १९१९ में (पृ० ३२९) पर प्रकाशित हुई थी :—

स्वप्न

बालक के कंपित अधरों पर वह किस अक्षय स्मृति का हास,
जग की इस अविरत निद्रा का आज कर रहा है उपहास ?
उस स्वप्नों की शुचि सरिता का सजनि ! कहां है जन्म स्थान ?
मुसक्यानों में उछल-उछल वह बहती है किस ओर अजान ?

× × ×

अहा ! परम घन अन्धकार में डूब रहा है अब संसार।
कौन जानता है, कब इसके छूटेंगे ये स्वप्न असार ?
सखि ! क्या कहती है—प्राची से फिर उज्ज्वल होगा आकाश ?
उषा-स्वप्न क्या भूल गई तू ? क्या उसमें है प्रकृत प्रकाश ?

सुमित्रानन्दन पंत

१—सरस्वती में 'विश्वबोध' शीर्षक से प्रकाशित।
२—देखें पृ० ४०२, वही ।
३—वही, पृ० ३२६ ।
४—वही पृ० २१२-१३ ।
५—सरस्वती, अप्रैल, १९१५ पृ० २०९-१०।
६— ,, जुन, १९१४, पृ० ३०४।
७— ,, नवम्बर, १९१८, पृ० २२७-२२८।
८— ,, जून, १९१७, पृ० ३०३ ,

'सरस्वती' में 'छायावाद' की इस प्रतिनिधि रचना तथा अन्यान्यों का प्रकाशन इस मान्यता को संपुष्ट करता है कि द्विवेदी जी ने अपने विचार छायावाद के हित की दृष्टि से ही प्रकट किये थे, क्योंकि उन्होंने छायावादी पद्धति की रचनाओं को अपनी 'सरस्वती' में ऐसी स्थिति में व्यापक प्रकाशन दिया जिसमें किसी प्रकार का प्रतिबन्ध उन पर नहीं था। वे तो केवल उन्हीं रचनाओं को प्रकाशित करने के लिए ख्यात हैं, जो उन्हें रुचिकर लगीं। उनका वास्तविक विरोध तो छायावाद के ऐसे पक्ष से जिसे छायावाद के तत्कालीन समर्थकों ने और स्वयं छायावादी शीर्षस्थ कवियों ने भी बाद में अग्राह्य माना। अपरिपक्वता, आडम्बर, अक्षमता और अनुकरण के विरोध का शतशः स्वागत होना चाहिए था और तत्वान्वेषी दृष्टि तो सदा से ही इनका विरोध करती चली आ रही है। इस दृष्टि से देखा जाय तो छायावाद के सम्बन्ध में द्विवेदी जी की दृष्टि तत्व एवं मर्म से पूर्ण थी। इस संबंध में यह भी निवेदन करना उचित होगा कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार ख्यातिलब्ध छायावादी काव्य 'अन्तर्जगत' के कवि तथा छायावाद के समर्थ आलोचकों द्वारा उद्धृत कवि पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र अब अपनी उन रचनाओं को स्वस्थ मानने को तैयार नहीं और स्वयं उन मान्यताओं के कायल हो गये जो मान्यतायें छायावाद के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने इस निबन्ध में स्थिर कीं।

इतिहास में छायावाद का उदय एक रसात्मक घटना है, किन्तु उसका जीवन अत्यन्त स्वल्प रहा। यदि द्विवेदीजी द्वारा वर्जित तत्वों का छायावादी कवियों ने तिरस्कार कर दिया होता तो निश्चय ही 'छायावाद' का जीवन और सुव्यवस्थित दीर्घ एवं श्रेयमय होता। ऐसी स्थिति में अब यह मानना कि द्विवेदी जी छायावाद के विरोधी थे, इतिहास के सत्य को तिरस्कृत करना है, इसलिए अब द्विवेदीजी न केवल खड़ीबोली की इतिवृत्तात्मक कविता के प्रवर्द्धक मात्र के रूप में स्मरण के पात्र हैं अपितु 'छायावाद' के ऐतिहासिक महत्व के हितचिन्तक के रूप में भी।

*

श्री कृष्णाचार्य

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी--(१८६४-१९३८)

ग्रन्थपुटी : कृतित्व और आलोचना

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की मृत्यु के अनन्तर श्री प्रेमनारायण टण्डन कृत द्विवेदी मीमांसा (१९३९) इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने प्रकाशित की। द्विवेदी जी की जीवनी और प्रमुख रचनाओं की आलोचना सम्बन्धी यह प्रथम पुस्तक है। किन्तु इसमें लेखक ने किसी प्रकार का ग्रन्थपुटीय (Bibliographical) प्रयत्न नहीं किया है। हंस के 'द्विवेदी अभिनन्दनांक' में एक सूची छपी थी। इसे आचार्य शिवपूजन सहाय ने संपादित किया था। यह सूची डॉ० उदयभानु सिंह ने अपने प्रबन्ध-ग्रन्थ 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' (१९५१) में उद्धृत की है और साथ ही यत्रतत्र टिप्पणियों सहित अपनी सूची भी दी है। इस सूची में ८१ ग्रंथ (अनुवाद, मौलिक आदि) हैं। प्रत्येक ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन वर्ष भी अंकित है। यह प्रयत्न संख्या बल की दृष्टि से डॉ० सिंह के शब्दों में पूर्ण है। किन्तु यह सूची ग्रंथपुटीय प्रयत्न नहीं है। किसी भी रचना की प्रामाणिक साक्षी (identification) के लिये प्रकाशक और आकार विवरण का उल्लेख आवश्यक है। इस सूची द्वारा यह कमी पुरी कर दी गई है। किन्तु भर्तृहरि, जयदेव और पंडितराज जगन्नाथ की कृतियों के आचार्य द्विवेदी कृत अनुवाद स्थानीय पुस्तकालयों में देखने को नहीं मिले। विशेषांकों या अभिनन्दन ग्रंथों का विवरण सहित उल्लेख नहीं किया जा सका है। निकट भविष्य में परिशिष्ट द्वारा यह अभाव पूरा करने की चेष्टा की जायगी। इधर शतवार्षिकी के सिलसिले में भी कुछ पत्रिकाओं से सामग्री प्राप्त होने की सम्भावना है।

द्विवेदीजी ने पाठावली, वर्णमाला आदि सम्बन्धी पाठमालाएँ भी लिखी थीं। इन रचनाओं को, साहित्यिक मूल्य न होने के कारण, इस ग्रंथपुटी में सम्मिलित नहीं किया गया है। कहीं-कहीं प्रविष्टियों में टिप्पणी लगी है। ऊर्ध्वकौम (Inverted comma) युक्त टिप्पणी ग्रंथ-विशेष से उद्धृत हैं।

अनुक्रम

मौलिक : आलोचना, जीवनी, निबन्ध आदि

नैषधचरितचर्चा

बनारस, नागरी प्रचारिणी सभा (मुद्रक : बनारस, हरिप्रकाश यन्त्रालय), १८९९ । ४, ७२ पृ० २० सें० ।

परिचयात्मक

हिन्दी कालिदास की समालोचना

कानपुर, मर्चेन्ट प्रेस, १९०१ । ४, १५८ पृ० २२·५ सें०

ला० सीताराम कृत कुमार सम्भव भाषा, मेघदूत भाषा और रघुवंश भाषा की आलोचना

श्यामसुन्दरदास, संपा० : हिन्दी वैज्ञानिक कोष ।

वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा, १९०६ ।

म० प्र० द्वि०, संपादित : दार्शनिक परिभाषा, पृ० २४३-२५९ तक ।

प्रथम स्वतन्त्र मुद्रण १९०१ ई० में

विक्रमांकदेवचरित चर्चा

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९०७ । २, ८०, १३ पृ० १८ सें०

बिल्हण कृत विक्रमांकदेव का परिचय

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९०७ । २, ९६ पृ० १६ सें०

संपत्तिशास्त्र

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९०८ । ३९६ पृ० सचित्र २५ सें०

भूमिका १९०७ में लिखी गई । अंग्रेजी की कुछ पुस्तकों के अधार पर सर्व-प्रथम 'सरस्वती' और 'आरा नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका' में कुछ निबन्ध छपे ।

कालिदास की निरंकुशता

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९११ । २, ८८ पृ० १६ सें०

आलोचना

नाट्यशास्त्र

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९११ । ६, ५९ पृ० २१ सें०
१९०३ में लिखी जा चुकी थी ।

प्राचीन पंडित और कवि

जुही (कानपुर), कमर्शियल प्रेस, १९१८
८ प्राचीन विद्वानों पर लेख—सरस्वती में प्रकाशित ।

वनिता विलास

जुही (कानपुर), कमर्शियल प्रेस, १९१९ । ४, ८४ पृ० १८ सें०
सरस्वती में प्रकाशित १२ लेख ।

कालिदास

जबलपुर, राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, १९२० (१९७७ वि०) ६,
२३५ पृ० १८ सें०
कालिदास सम्बन्धी ९ लेख ।

कालिदास और उनकी कविता

जबलपुर, राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, १९२० ।
सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

रसज्ञ-रंजन

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९२० ।
सरस्वती में प्रकाशित लेखों का संग्रह ।

औद्योगिकी

जबलपुर, राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, १९२१ (१९७८ वि०)
६, ११२ पृ० १८ सें०
भूमिका १९२० में लिखी गई ।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्वागतकारिणी समिति के सभापति
पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य ।
कानपुर, स्वागत समिति (कमर्शियल प्रेस कानपुर से मुद्रित), ३० मार्च
१९२३ । ७७ पृ० १८ सें० ।

अतीत-स्मृति

मुरादाबाद, मानस-मुक्ता-कार्यालय, रामकिशोर शुक्ल (मुद्रक सरस्वती प्रेस, काशी), १९२४ । ६, २४१ पृ० १८ सें०
सरस्वती में प्रकाशित सांस्कृतिक ऐतिहासिक लेखों का संग्रह ।

सुकवि-संकीर्तन

लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, १९२४ (१९८१ वि०) ४, १६९ पृ० मु० चि० १८ सें० ।

भूमिका, अक्टूबर, १९२२ को लिखी गई । १३ लेख—दुर्गाप्रसाद, माइकेल, नवीनचन्द्र आदि पर ।

अद्भुत आलाप

लखनऊ, गंगा पुस्तक माला कार्यालय, १९२४ (१९८१ वि०) ४, १५६ पृ० १८ सें० ।

सरस्वती में प्रकाशित विभिन्न विषयों पर २१ लेख ।

महिला-मोद

लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, १९२५ । ८, ६७ पृ० सचित्र १८ सें० सरस्वती में प्रकाशित महिलोपयोगी १० लेख ।

आख्यायिका-सप्तक

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, १९२७. ६, ८६ पृ० १८ सें० ।
'सामग्री बंगला, अंग्रेजी और संस्कृत से ली गई है'—७ निबंध ।

आध्यात्मिकी

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९२७ । ८, २०३ पृ० १८ सें० ।
सरस्वती में प्रकाशित धर्म-दर्शन सम्बन्धी लेख ।

कोविद-कीर्तन

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९२७ । ४, १३८ पृ० १८ सें० ।
सरस्वती में प्रकाशित १२ विद्वानों के संक्षिप्त जीवन-चरित ।

विदेशी विद्वान्

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९२७ । २, १२९ पृ० १८ सें० ।

सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

आलोचनांजलि

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९२८ । ९, १७४ पृ० १८ सें० ।
सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

दृश्य-दर्शन

कलकत्ता, सुलभ ग्रन्थ प्रचारक मंडल, १९२८ । १३३ पृ० १८ सें० ।
सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

लेखांजलि

कलकत्ता, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, १९२८ । ८, १६७ पृ० १८ सें०

सामाजिक विषयों पर १९ लेख ।

वैचित्र्य-चित्रण

सम्पादक-प्रेमचन्द । लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस, १९२८ । ६, १२५ पृ० १८ सें० ।

६ अध्यायों में नराध्याय, बानराध्याय, जलचराध्याय, स्थलचराध्याय, उद्भिज्जाध्याय, प्रकीर्णिकाध्याय । सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

साहित्य-संदर्भ

लखनऊ, गंगा पु० मा० कार्यालय, १९२८ (१९८५ वि०) ६, २७४ पृ० १८ सें० ।

सरस्वती में प्रकाशित २० लेख । ४ अन्य लेखकों के भी ।

पुरावृत्त

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, १९२९ । ८, १५४ पृ० १८ सें० ।

सरस्वती में प्रकाशित १२ इतिहास सम्बन्धी लेख ।

पुरातत्व-प्रसंग

चिरगांव, साहित्य प्रेस, १९२९ । ६, १७१ पृ० १७ सें० ।

सरस्वती में प्रकाशित पुरातत्व सम्बन्धी १३ लेख ।

प्राचीन-चिह्न

इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस १९२९ । २, १२३ पृ० १८ सें० ।

[illegible]ती में प्रकाशित सांची, एलौरा, खुजराहो सम्बन्धी लेख ।

साहित्यालाप

पटना, खड्गविलास प्रेस, १९२९ । ८, ३५२ पृ० १८ सें० ।

इस संग्रह में कुछ अन्य अभिन्नआत्मा लेखकों के भी लेख शामिल कर लिये गये हैं । सरस्वती में प्रकाशित हिन्दी भाषा-लिपि सम्बन्धी १८ लेख ।

चरितचर्या

झांसी, साहित्य सदन, १९३० । १३३ पृ० १८ सें० ।

सरस्वती में प्रकाशित लेख ।

वाग्विलास

लहेरियासराय, हिन्दी पुस्तक भण्डार, १९३० । ६, २८८ पृ० १७ सें० ।

भाषा, व्याकरण, लिपि, समालोचना तथा अन्य १४ निबन्ध ।

विज्ञान-वार्ता

लखनऊ, नवलकिशोर प्रेस, १९३०। २, २३३ पृ० १८ सें०।

सरस्वती में प्रकाशित लेख।

समालोचना-समुच्चय

इलाहाबाद, रामनारायणलाल, १९३०। २४६ पृ० १८ सें०।

सरस्वती में प्रकाशित विभिन्न विषयों पर २० निबन्ध।

साहित्य-सीकर

इलाहाबाद, तरुण-भारत ग्रंथावली, १९३० (१९८७ वि०) ६,१४१ पृ० १८ सें०।

सरस्वती में प्रकाशित २१ लेख।

विचार-विमर्श

वाराणसी, भारती भंडार, १९३१। २, ५५५ पृ० १८ सें०।

सरस्वती में प्रकाशित लेख।

संकलन

वाराणसी भारती भंडार, १९३१। १७९ पृ० १८ सें०।

सरस्वती में प्रकाशित लेख।

चरित्र-चित्रण

इलाहाबाद, हिन्दी प्रेस, १९३४. २, १७४ पृ० १८ सें०

सरस्वती में प्रकाशित लेख—जीवनी साहित्य

प्रबन्ध-पुष्पांजलि

झांसी, साहित्य सदन, १९३५ (१९९२ बि०) ६, १४७ पृ० १७सें०

११. लेख ४ उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव सम्बन्धी तथा अन्य

(अन्य व्यक्तियों द्वारा सम्पादित)

द्विवेदी-पत्रावली

संपा० बैजनाथसिंह विनोद, भूमिका—मै० श० गुप्त, वाराणसी, भारतीय ज्ञानपीठ, १९५४. २२६ पृ० १८ सें०।

संचयन

संपा० प्रभात शास्त्री. इलाहाबाद साहित्यकार संघ, १९४९. २७, १४५ पृ० १८ सें०

विभिन्न विषयों पर साहित्य सम्बन्धी लेख

द्विवेदी पत्रावली

२८०१ पत्र नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित

मौलिक : काव्य

देवी-स्तुति शतक

जुही (कानपुर), ग्रंथकार, १८६२

चंडी-स्तुति (पद्यात्मक)

नागरी

जयपुर, वेदविद्या प्रचारिणी सभा, १९००. ४, २३ पृ० १८ सें०
नागरी विषयक चार कविताओं का संग्रह

काव्य मंजूषा (प्रथम भाग)

जयपुर, जैन वैद्य, १९०३. (हरिप्रकाश और तारा मंत्रालय बनारस में मुद्रित) ६, १४३ पृ० २१ सें०
(१८९७-१९०२ तक मौलिक कविताओं का संग्रह. १९२३ में 'सुमन' नाम से संशो० सं०).

कविता कलाप नामक सचित्र कविताओं का संग्रह

इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, १९०९. ७० पृ० फलक २६ सें०
(द्वि० द्वारा संपा० निजी, दे० प्र० पूर्ण, नाथू शंकर का, का० गुरू और मै० श० गुप्त की कविताएँ)

सुमन

झांसी, साहित्य सदन, १९२३. २, १३५ पृ० १८ सें०
हिन्दी और संस्कृत की पद्यात्मक रचनाएँ, काव्य मंजूषा का संशोधित संस्करण

द्विवेदी-काव्यमाला

संपा० देवीदत्त शुक्ल. इलाहाबाद, इंडियन प्रेस, १९४०. १९, ४५४ पृ० २१ सें०
संपूर्ण काव्य-संग्रह

तरुणोपदेश १८९४ ई०

अप्रकाशित. दौलतपुर में, २१० पृ० ४ अधिकरणों में. विस्तृत वि० देखिए डा० उदयभानु सिंह कृत प्रबन्ध, पृ० ८८ कामशास्त्र पर उपदेशात्मक पुस्तक.

कौटिल्य कुठार

अप्रकाशित. नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित पुस्तक में रायदेवी प्रसाद कृत संक्षिप्त भूमिका अंग्रेजी में. विस्तृत विवरण के लिए देखिए डा० उदयभानुसिंह कृत प्रबन्ध, पृ० ६०

सोहागरात

अप्रकाशित. दौलतपुर में, बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद, विस्तृत विवरण देखिए—डा० उदयभानुसिंह कृत प्रबन्ध पृ० ८६

अनुवाद

भर्तृहरि

विनय-विनोद १८९९

वैराग्यशतक का पद्यात्मक (दोहा) अनुवाद

जयदेव

विहार-बाटिका १८९०

गीतगोविन्द का भावानुवाद

भर्तृहरि

स्नेहमाला १८९०

शृंगारशतक का पद्यात्मक अनुवाद

कालिदास

ऋतु-तरंगिणी. कलकत्ता, आर्यावर्त प्रेस, १८९१, ६, ५७,७ पृ० १७सें०

ऋतुसंहार पद्यात्मक छायानुवाद

पंडितराज जगन्नाथ

गंगा लहरी १८९१

सवैया छन्दों में अनुवाद

—भामिनी-विलास बम्बई, खेमराज कृष्णदास, १८९१, १६, १६८ पृ० २० सें०

गद्यात्मक अनुवाद

—अमृत-लहरी १८९६

यमुनास्तोत्र का अनुवाद

पुष्पदन्त

(श्री) महिम्नस्तोत्र १८९१

पद्यात्मक अनुवाद